

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२.

तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य में

उत्तराध्ययन सूत्र

(भगवान् महावीर का अंतिम उपदेश)

[संक्षिप्त विवेचन, अनुवाद एवं विशेष टिप्पण]

संपादन

साध्वी चन्दना, दर्शनाचार्य

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

पुस्तक :
उत्तराध्ययन सूत्र

●

प्रकाशन :
वीर निर्वाण दिवस (२४९८)
वि० सं० २०२९ दीपावली

५ नवम्बर, १९७२

प्राप्ति स्थान :

(१)
सन्मति ज्ञानपीठ
जैन भवन, लोहामंडी
आगरा-२

(२)
श्वे० स्थानकवासी जैन गुजराती संघ
२७, पोलक स्ट्रीट
कलकत्ता-१

मुद्रक :
प्रेमचन्द जैन
प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस, आगरा-२

मूल्य : पंद्रह रुपए मात्र

प्रकाशकीय

प्राचीन जैन आगम साहित्य में उत्तराध्ययन सूत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतएव एक अजैन विद्वान का तो यह कहना है कि उत्तराध्ययन जैन परम्परा की गीता है। वस्तुत: उत्तराध्ययन सूत्र जीवन सूत्र है। वह जीवन के विभिन्न आध्यात्मिक, नैतिक एवं दार्शनिक दृष्टि कोणों को बड़ी गहराई से स्पर्श करता है। एक प्रकार से यह जीवन का सर्वांगीण दर्शन है। यही कारण है कि उत्तराध्ययन सूत्र पर जितनी टीकाएँ, उपटीकाएँ एवं अनुवाद आदि लिखे गये हैं, इतने अन्य किसी आगम पर नहीं।

भारत की वर्तमान राष्ट्रभाषा हिन्दी है। हिन्दी में भी अब तक उत्तराध्ययन के अनेक अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। फिर भी अद्यतन हिन्दी में एक अच्छे अनुवाद की अपेक्षा थी। ऐसा अनुवाद, जो मूल की आत्मा को ठीक तरह स्पर्श कर सके, कब से अपेक्षित रहा है। पूज्य उपाध्याय श्री अमरमुनि जी महाराज स्वयं ही काफी समय से यह भावना अन्तर्मन में संजोए हुए थे। परन्तु साधु सम्मेलन आदि के प्रसंगों पर दूर-दूर तक भ्रमण करने एवं संघसंगठनादि कार्यों में अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण संकल्पसिद्धि नहीं प्राप्त कर सके। सामायिक सूत्र तथा आवश्यक सूत्रान्तर्गत श्रमण सूत्र का उनके द्वारा शुद्ध मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी भाष्य, विवेचन, तुलनात्मक आलोचना आदि के साथ जो सम्पादन हुआ है, वह कितना महत्त्वपूर्ण एवं अभिनन्दनीय है। आज भी विद्वज्जगत् में उसकी प्रतिष्ठा है। उत्तराध्ययन आदि अन्य आगम साहित्य का भी वे उसी विस्तृत एवं विवेचनप्रधान शैली में सम्पादन करना चाहते थे। परन्तु खेद है, वह इच्छा उनकी पूर्ण न हो सकी। काश, वह पूर्ण होती, तो कितना अच्छा होता।

हमें यह निवेदन करते अतीव हर्षानुभूति है कि उपाध्याय श्री जी के उक्त कार्य को दर्शनाचार्य साध्वी श्री चन्दना जी ने आगे बढ़ाया है। श्री चन्दना जी जैन संघ की एक महान् विदुषी साध्वी हैं। उनका अध्ययन विस्तृत है, चिन्तन बहुत गहरा है। प्राकृत व्याकरण, जैन इतिहास, तत्त्वार्थ सूत्र टीका आदि अनेक ग्रन्थ उनकी विद्वत्ता के साक्षी हैं। दर्शनशास्त्र की तो वे प्रकाण्ड पण्डिता हैं। उनकी वाणी में वह जादू है,

कि प्रवचन करती हैं तो श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देती हैं। प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन इतना चिन्तन प्रधान, तलस्पर्शी एवं सर्वांगीण होता है कि कुछ पूछो नहीं। उत्तराध्ययन सूत्र के प्रस्तुत अनुवादन एवं सम्पादन में भी उनकी विलक्षण प्रतिभा के दर्शन होते हैं। शुद्ध मूलपाठ, स्वच्छ मूलस्पर्शी हिन्दी अनुवाद, प्रत्येक अध्ययन के प्रारम्भ में अध्ययन के प्रतिपाद्य विषय की संक्षिप्त, किन्तु गम्भीर मीमांसा और अन्त में टिप्पण आदि के रूप में इतना अच्छा कार्य हुआ है, जो चिरअभिनन्दनीय रहेगा। एतदर्थ हम श्री चन्दना जी के आभारी हैं। साथ ही आभारी है उनकी गुरुणी विदुषी-रत्न, प्रशान्तमूर्ति महासती श्री सुमति कुंवर जी तथा कलकत्ता जैन श्रावक संघ के भी, जिनकी प्रेरणा से उत्तराध्ययन का यह श्रेष्ठ सम्पादन जिज्ञासु जनता को उपलब्ध हो सका। आशा है, भविष्य में उनके द्वारा और भी ऐसा ही कुछ श्रेष्ठ हमें फिर मिलेगा।

प्रस्तुत उत्तराध्ययन का प्रकाशन बहुत शीघ्रता मे हुआ है। महासती श्री जी ने, जैसे कि इसे बहुत जल्दी मे, सुना है—४५ दिन में ही लिखा है, वैसे ही प्रकाशन भी प्रारम्भ के १० फार्म को छोडकर, बहुत शीघ्रता में, यों कहिए कि सब मिलाकर दश-पन्द्रह दिन मे ही हुआ है। एतदर्थ श्री अखिलेश मुनि जी धन्यवादार्ह हैं, जो प्रारम्भ से लेकर अन्त तक अपनी योग्य सेवाओं के साथ निष्ठापूर्वक श्रमसाधना में निरन्तर अनुरत रहे है। साथ ही प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस के स्वामी एवं प्रबन्धक उत्साही एवं भावनाशील युवक श्री प्रेमचन्द्र जैन के भी हम हृदय से आभारी है। यदि समय पर उनका सर्वाधिक सहयोग न मिला होता तो उक्त विराट शास्त्र का इतना जल्दी, साथ ही इतना सुन्दर, मुद्रण कथमपि सम्भव नहीं हो पाता !

हम प्रस्तुत से कुछ और भी अधिक सुन्दर प्रकाशन के स्वप्न ले रहे थे। परन्तु कुछ समय की और कुछ साधनो की कमी के कारण हम वैसा कुछ कर नहीं पाए। इसके लिए हमारे पास क्षमायाचना का ही एक मात्र मार्ग है। आशा है, प्रबुद्ध जनता का भविष्य मे यदि उत्साह वर्द्धक सहयोग मिलता रहा तो हम अपने आज के स्वप्नो को तब अच्छी तरह पूर्ण कर सकेंगे—धन्यवाद।

सोनाराम जैन

मंत्री

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

प्रकाशन-सहयोगी

विगत में कुछ वर्ष पहले आगम प्रकाशन-योजना का सूत्रपात हुआ था। अच्छा खासा उत्साह था धर्म प्रेमी सज्जनों में तब। पाँच-पाँच हजार के सदस्य, उस समय, कितने ही महानुभाव बने थे। उनमें से कितने ही सज्जनों ने तो अपना पाँच हजार का पूरा देय एक साथ दे भी दिया था। और कितनों ने देय का अमुक अंश अर्पण किया था। हम उन सभी महानुभावों के हृदय से कृतज्ञ है कि समय पर की गई उनकी अर्थ-सेवा से आज यह विराट सूत्र-ग्रन्थ प्रकाशित हो सका।

हम देयराशि के साथ उनके शुभनामों का सधन्यवाद उल्लेख करते हैं। आशा है भविष्य में भी उनकी ओर से इसी प्रकार यथावसर सहयोग मिलता रहेगा।

५१००)	श्री प्रतापचन्द्र भगवानदास जैन	आगरा
४०००)	,, बद्रीशाह एण्ड सन्स	आगरा
१६२५)	,, हजारीमल कल्याणदास जैन	आगरा
१०००)	,, प्रभुदयाल राजमुकट जैन	
३०००)	,, नन्हेबाबू ओमप्रकाश जैन	आगरा
१६२५)	श्रीमती कटोरी देवी जैन माता श्री पदमकुमार जैन	आगरा
१६२५)	श्रीमती राजमती जैन धर्मपत्नी, स्व. श्री श्यामलालजी जैन	आगरा
१६२५)	श्रीमती माया देवी जैन धर्मपत्नी, श्री मास्टर जगन्नाथ जैन	आगरा
२००१)	श्री धनी राम महेन्द्र कुमार जैन	कानपुर
११०१)	,, कस्तूरी लाल सुरेन्द्र कुमार जैन	आगरा
१०००)	,, मदन लाल राजकुमार जैन	आगरा

५०००)	श्री	पद्मश्री सेठ मोहनमल जी चोरड़िया	मद्रास
५०००)	,,	गुप्तदान	जयपुर
५०००)	,,	गुप्तदान	देहली
२००१)	,,	गुप्तदान	देहली
१५००)	,,	अमोलकचन्द जी गेलडा ट्रस्ट	मद्रास
१०००)	,,	कुन्दनलाल जी पारख	देहली
१०००)	,,	प्रभुदास वल्लभदास जी मेहता	सतारा
१००१)	,,	रमणीकलाल वी. शाह	बम्बई
१००१)	,,	वचनमल गुलाबचन्द जी सुराना	सिकन्दराबाद
१०००)	,,	धीसूलालजी कोठारी	जयपुर
१००१)	,,	गुलाबचन्द्र गनपतलाल कोठारी	जयपुर
१०००)	,,	गुप्तदान	जयपुर

सोनाराम जैन
मन्त्री—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा—

प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस, आगरा—२

सहयोग

कामानी जैन भवन (कलकत्ता) को गौरव प्राप्त है कि हमारे यहाँ गत वर्ष दर्शनाचार्य साध्वी श्री चन्दना जी के द्वारा उत्तराध्ययन सूत्र का विराट संपादन कार्य सम्पन्न हुआ था। साथ ही इस वर्ष तपोमूर्ति श्री रम्भाकुंवर जी, आदर्श साध्वीरत्न श्री सुमतिकुंवर जी, साध्वीश्रेष्ठ श्री चन्दना जी के पुनीत सांनिध्य में, हमारे यहाँ ही, सौ० सुश्री ललिता बहन-उत्तमचन्द पंचमिया के द्वारा उद्‌घाटन विधि भी सम्पन्न हुई।

युगद्रष्टा, राष्ट्र संत, उपाध्याय श्री अमर मुनि जी की सत्प्रेरणा से संस्थापित सन्मति ज्ञानपीठ आगरा ने अपने सर्वजनोपयोगी विविध प्रकाशनों एवं अमर भारती (मासिक पत्रिका) के द्वारा समाज में नवचेतना जागृत की है। प्रस्तुत उत्तराध्ययन का प्रकाशन भी ज्ञानपीठ के द्वारा ही हुआ है। अतः उद्‌घाटन के प्रस्तुत मंगल प्रसंग पर 'कामानी जैन भवन' की ओर से हम २०००१) की स्वल्प भेंट, ज्ञानपीठ को सादर समर्पण करते हैं।

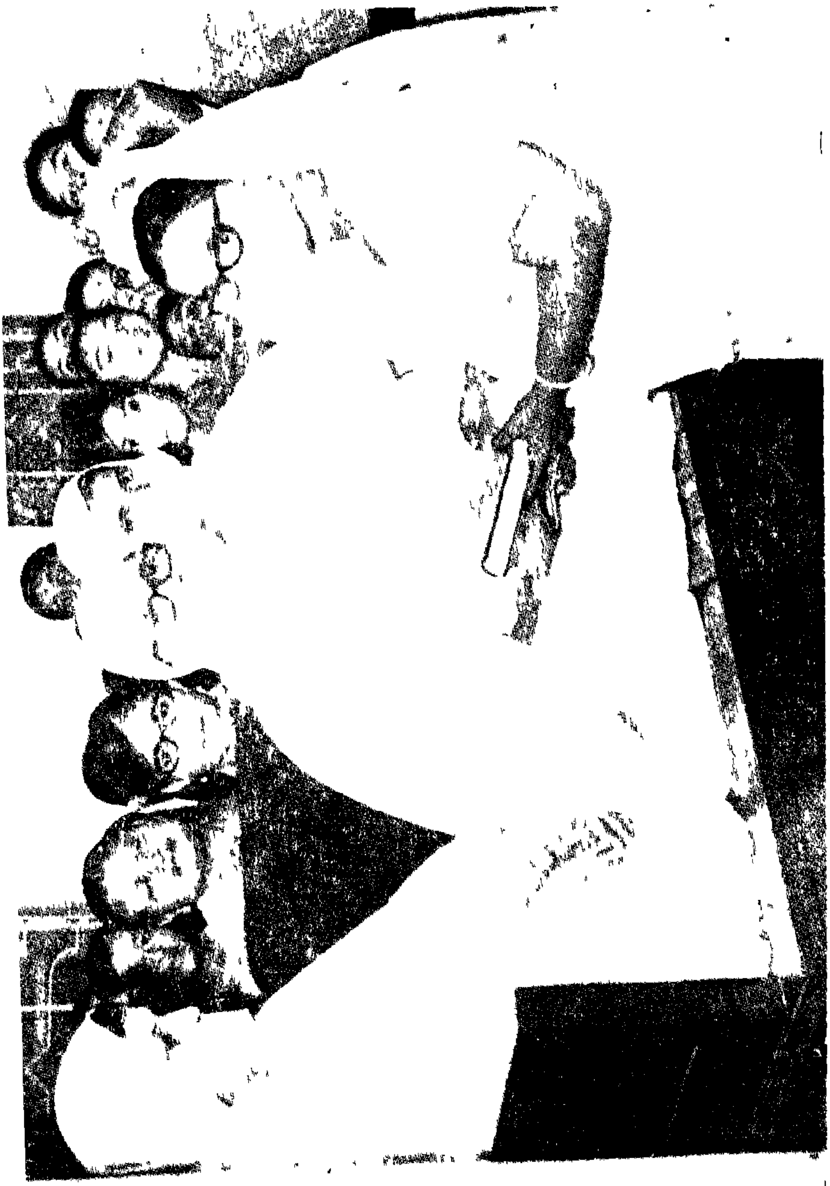
मंत्री
हंसराज लक्ष्मी चन्द
कामानी जैन भवन
३-सी० रायस्ट्रीट
कलकत्ता-२०

उद्‌घाटन-दिवस
कार्तिक पूर्णिमा, श्री लोंका शाह जयन्ती
दिनांक, २०-११-१९७२



उद्घाटन शोभायात्रा का एक दृश्य

सौ० ललिता बहन उत्तमचंद पंचमिया, उत्तराध्ययन सूत्र का विमोचन कर, संपादिका साध्वी श्री चन्दना जी को प्रथम प्रति भेट कर रही है। बहन पंचमिया ने इस प्रसंग पर आगमप्रकाशन हेतु ५५५५) शुभ दान भी घोषित किया।





दर्शनाचार्य साध्वी श्री चन्दना जी उत्तराध्ययन सूत्र का सम्पादन करती हुईं ।

सम्पादकीय

आगमिक जैन वाङ्मय ज्ञान का एक विराट सागर है। इतना विराट कि उसका किनारा शब्द पाठ से तो पाया जा सकता है, किन्तु भाव की गहराई में तल को नहीं छुआ जा सकता। ऊपर-ऊपर तैर जाना एक बात है, और चिन्तन की गहरी डुबकी लगाकर अन्तस्तल को जाकर छू लेना दूसरी बात है। फिर भी मानव ने अपना प्रयत्न कहाँ छोड़ा है? वह डुबकी-पर-डुबकी लगाता ही आ रहा है, और लगाता ही जाएगा।

उत्तराध्ययन सूत्र आगम सागर का ही एक बहुमूल्य दीप्तिमान् रत्न है। वह स्वयं इतना परिष्कृत है कि उसे अपने मूल्य को उजागर करने के लिए किसी और परिष्कार की अपेक्षा नहीं है। अत: मैंने उत्तराध्ययन के सम्बन्ध में परिष्कार जैसा नया कुछ नहीं किया है। प्राकृतभाषा की परिधिमें रुकी हुई उस की जनकल्याणी भाव धारा को आज की राष्ट्रभाषा हिन्दी में अवतरित अवश्य किया है, ताकि साधारण मनीषा के जिज्ञासु भी जगत्पितामह प्रभु महावीर की इस अन्तिम दिव्य देशना का कुछ आनन्द ले सकें। मूल पाठ की शुद्धता का काफी ध्यान रखा गया है। अनुवाद को भी मूल के आस-पास ही रखा गया है, दूर नहीं जाने दिया है। बहुत से अनुवाद बहुत दूर चले गए है, और उसका यह परिणाम आया है कि मूल की प्रभा उन पर न आ सकी और वे अपना अर्थ ही खो बैठे। मेरा अनुवाद कैसा है, मैं स्वयं क्या कहूँ। जहाँ तक बन पड़ा है, मैंने उसे अच्छा से अच्छा बनाने का उपक्रम किया है। फिर भी आप जानते है, अनुवाद आखिर अनुवाद ही तो है। मूल की भावगरिमा को वह ज्यों-की-त्यों कैसे वहन कर सकता है? साथ ही मैं अपनी सीमा को भी जानती हूँ। अत: मेरे कर्तृत्व का भी मुझे बोध है कि वह कैसा और कितना होता है। मेरे अनुवाद की कमजोरियों का मुझे पता है। फिर भी **'यावद् बुद्धि-बलोदयम्'** मैंने जो कुछ किया है, उस पर गर्व तो नहीं, किन्तु सात्विक सन्तोष अवश्य है। यह मेरा पहला ही प्रयत्न है। आशा रखती हूँ, यदि मुझे आगे बढ़ने का कुछ और अवसर मिला, तो अब की अपेक्षा तब कुछ और अच्छा उपस्थित कर सकूँगी।

गत वर्ष कलकत्ता में दीपावली पर, परम्परा के अनुसार, उत्तराध्ययन सूत्र का वाचन हुआ था। प्रसंगवश मैंने उत्तराध्ययन पर कुछ चिन्तन प्रस्तुत किया। इस पर कलकत्ता संघ के भावनाशील प्रबुद्ध श्रोताओं एवं चिन्तकों का आग्रह हुआ कि 'आप उत्तराध्ययन पर अपनी शैली से कुछ लिखें, मेरा मन इतना गुरुगम्भीर उत्तरदायित्व लेने को प्रस्तुत नहीं था। फिर भी स्नेहशील जनमन का आग्रह, साथ ही स्वनामधन्य तपोमूर्ति, आदरणीया श्रीरम्भाकुंवरजी महाराज तथा कृपामूर्ति एवं भाववत्सला गुरुणी श्री सुमति कुंवर जी महाराज की प्रेरणा, यह सब कुछ ऐसा हुआ है कि मुझे अनुवादन एवं सम्पादन का काम हाथ में लेना ही पड़ा। और यह सब काम ४५ दिन की सीमित अवधि में पूरा भी कर दिया। कुछ आदत है ऐसी कि प्रथम तो काम हाथ में लेती नहीं हूँ। अगर ले लेती हूँ, तो फिर समग्र शक्ति के साथ उसे जल्दी से जल्दी पूरा करने की एक विचित्र-सी धुन हो जाती है। उत्तराध्ययन के सम्पादन के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ है। मैं यह मानती हूँ कि यदि कुछ और लम्बा समय मिलता, अपेक्षित ग्रन्थों की और अधिक सामग्री मिलती, तो मेरे इस कार्य में थोड़ी और चमक आजाती। खैर, जो होना था हुआ, और वह आप सब के समक्ष है।

सहयोगियों की स्मृति कैसे भूल सकती हूँ! मेरी मातृतुल्य दोनों महत्तराओं का वरद हस्त तो मेरे मस्तक पर था ही। प्रस्तुत कार्य में मेरी लघुबहन साध्वी श्री 'यशा' का भी उल्लेखनीय सहयोग रहा है। प्रेसकापी बनाने में, स्वच्छ शुद्ध लेखन में समय पर स्मरणीय सहयोग, अस्वस्थ होते हुए भी, उससे जो मिला है, मैं उसका हृदय से अभिनन्दन करती हूँ। साथ ही लघु-बहन साध्वी श्री साधना की समयोचित निर्मल सेवा, तथैव सरल हृदय पं० चन्द्रभूषण मणि त्रिपाठी का सहकार भी कम स्पृहणीय नहीं है। कलकत्तासंघ के सेवामूर्ति एवं मधुरभावापन्न भाई बहिनों को तो मैं कभी भूलूंगी ही नहीं। कितना निश्छल, निर्मल सहयोग है उनका। मेरी स्मृति में वह मुस्कराते ताजा खिले पुष्प की तरह व्यक्त या अव्यक्त हर क्षण महकता रहेगा। नाम किस-किस का लूं। सबका प्रेम मैंने जो पाया है, वह सब का ही रहने दूंगी। नाम लिखकर उसे सीमित नहीं करूंगी।

उत्तराध्ययन के अब तक अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं। परन्तु मेरी नजरों में जो आए हैं उनमें विद्वद्रत्न मुनि श्री नथमल जी का सम्पादित संस्करण ही अत्युत्तम लगा है। सम्पादन में उनकी प्रतिभा का चमत्कार तो है ही, साथ ही उनका सुदीर्घ श्रम भी चिर श्लाघनीय है। मैंने उन्हीं के पथ का अनुसरण किया है। अन्य अपेक्षित सामग्री के अभाव में मेरे समक्ष उत्तराध्ययन की श्री कमलसंयमोपाध्याय-विरचित 'सर्वार्थ सिद्धि' नामक प्राचीन संस्कृत टीका और मुनि श्री नथमल जी

सम्पादित उत्तराध्ययन ही आदर्श रहे हैं। अतः मैं दोनों की हृदय से आभारी हूँ, अतीत के उस अभिनन्दनीय विद्वद्वरेण्य टीकाकार की भी और वर्तमान के उक्त महनीय मनीषी की भी। बात लम्बी न करूँ। भूमिका के लिए आदरणीय पं० श्री विजय मुनि जी की हृदय से कृतज्ञ हूँ। उन्होंने अपने व्यस्त कार्यक्रम में भी समय निकालकर जो लिखा है, वह उनके अप्रतिम पाण्डित्य का परिचायक तो है ही, साथ ही उनके स्नेहशील हृदय का भी परिचायक है। और आशीर्वाद के लिए पूज्य चरण, श्रद्धेय उपाध्याय श्री जी, नाम क्या लिखूँ, जो अपने नाम के अनुसार कर्म से भी अमर हैं, सहज उदारता की प्रतिमूर्ति के रूप में मेरे मानस-कक्ष में सदा ही समादृत रहेंगे। उनके सहयोग की चर्चा कर मैं सहयोग के उस पावन मूल्य को कम नहीं करना चाहती।

समय पर जिनशासन की, श्रमण भगवान् महावीर के महान् आदर्शों की कुछ और सेवा-पूजा कर सकूँ, इसी शुभाशा के साथ····।

जैन कामानी भवन
भवानीपुर, ३, C. रायस्ट्रीट
कलकत्ता (बंग प्रदेश)

—साध्वी चन्दना

उत्तराध्ययन सूत्र : एक अनुचिन्तन

—विजयमुनि, शास्त्री

आज समय आ गया है कि हम एकता की भावना में एकत्रित हों। ऐसी एकता को यह समृद्धि समेटती है, जिसमें दूसरे धार्मिक विश्वासों की धार्मिक यथार्थताएं नष्ट न हों, बल्कि एक सत्य की मूल्यवान् अभिव्यक्ति के रूप में संजोयी जाएं। हम उन यथार्थ और स्वत: स्फूर्त प्रवृत्तियों को समझते हैं, जिन्होंने विभिन्न धार्मिक विश्वासों को रूप दिया। हम मानवीय प्रेम के उस स्पर्श, करुणा और सहानुभूति पर जोर देते हैं, जो धार्मिक आस्थाओं की कृतियो से भरी पड़ी है। धार्मिक आयाम के अतिरिक्त मनुष्य के लिए कोई भविष्य नहीं है। धर्म की तुलनात्मक जानकारी रखने वाला कोई भी व्यक्ति अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्त में अनन्य आस्था नहीं रख सकता। हम जिस संसार में श्रम करते हैं, उसके साथ हमें एक संवाद स्थापित करना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं, कि हम धर्मों की लक्षणहीन एकता के लिए काम करें। हम इस भिन्नता को नहीं खोना चाहते, जो मूल्यवान् आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि को घेरती है। चाहे पारिवारिक जीवन मे हो, या राष्ट्रो के जीवन में, या आध्यात्मिक जीवन में, यह भेदों को एक साथ मिलाती है, जिससे कि प्रत्येक की सत्यनिष्ठा बनी रह सके। एकता एक तीव्र यथार्थ होना चाहिए, मात्र मुहावरा नही। मनुष्य अपने को भविष्य के सभी अनुभवों के लिए खोल देता है। प्रयोगात्मक धर्म ही भविष्य का धर्म है। धार्मिक संसार का उत्साह इसी ओर जा रहा है।"[1]

"वर्तमान युग में धर्म के नाम पर अनेक विवाद चल रहे हैं, अनेक प्रकार के संघर्ष सामने आ रहे है। ऐसी बात नहीं है कि अभी वर्तमान में ही यह विवाद और संघर्ष उभर आए है, प्राचीन और बहुत प्राचीन काल से ही धर्म एक विवादास्पद प्रश्न रहा है। धर्म के स्वरूप को समझने में कुछ भूलें हुई हैं।

मूल प्रश्न यह है कि धर्म क्या है? अन्तर् में जो पवित्र भाव-तरंगें उठती हैं, चेतना की निर्मल धारा बहती है, मानस में शुद्ध संस्कारों का एक प्रवाह उमड़ता है,

---

1. डॉ० राधाकृष्णन कृत 'आधुनिक युग में धर्म'—पृ० ६४–६५।

क्या वही धर्म है ? या बाहर में जो हमारा कृतित्व हैं, क्रिया-कांड है, रीति-रिवाज हैं, और खाने पीने, पहनने-ओढ़ने के तौर तरीके है, वे धर्म हैं ? हमारा आन्तरिक व्यक्तित्व धर्म है या बाह्य व्यक्तित्व ?

हमारे व्यक्तित्व के दो रूप हैं—एक आन्तरिक व्यक्तित्व है, जो वास्तव में हम जैसे अन्दर में होते है, उससे निर्मित होता है। दूसरा रूप है बाह्य व्यक्तित्व। हम जैसा बाहर में करते हैं, उसी के अनुरूप हमारा बाह्य व्यक्तित्व निर्मित होता है। हमारे समक्ष प्रश्न यह है कि होना या करना, इनमें धर्म कौन-सा है ? व्यक्तित्व का कौन सा रूप धर्म है ? अन्दर में होना धर्म है, अथवा बाहर में करना धर्म है ?

होना और करना मे बहुत अन्तर है। अन्दर मे हम जैसे होते हैं, उसे बहुत कम व्यक्ति समझ पाते है। आन्तरिक व्यक्तित्व को पकड़ना उतना ही कठिन है, जितना पारे को पकड़ना। बाह्य व्यक्तित्व को पकड़ लेना बहुत सरल है, उतना ही सरल, जितना कि जल की सतह पर तैरती हुई लकड़ी को छू लेना। बाहर मे जो आचार-व्यवहार होता है, उसे साधारण बुद्धि वाला भी शीघ्र ही ग्रहण कर लेता है, और उसे ही हमारे व्यक्तित्व का प्रतिनिधि रूप मान लेता है। आज बाहरी व्यक्तित्व ही हमारा धर्म बन रहा है।"[2]

धर्म के सम्बन्ध में यहाँ पर भारत के दो दार्शनिक एवं विचारकों के विचार प्रस्तुत किए गए है। धर्म क्या है ? वस्तुतः वह मानवजीवन की आधार-शिला है। धर्म मानवजीवन का संगीत हैं। धर्म मानवजीवन का शोधन है। धर्म से अधिक पवित्र इस जगती तल पर अन्य कोई दूसरा तत्त्व नहीं हो सकता। धर्म और सम्प्रदाय दोनों एक नहीं है, दोनो में बड़ा अन्तर है। जिस प्रकार देह और प्राण-दोनों एक स्थान पर प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः भिन्न है। प्राण देह में ही रहेगा, देह से बाहर उसका अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार सम्प्रदाय धर्म का खोल है, धर्म नहीं। पर, जब भी धर्म को रहना होगा, तब वह किसी न किसी सम्प्रदाय में ही रहेगा। वैदिक, जैन और बौद्ध—ये तीनो धर्म के आधारभूत सम्प्रदायविशेष हैं। धर्म यदि रह सकता है तो तीनों में ही उसे रहने में जरा भी आपत्ति नहीं होगी। धर्म क्या है, और उसका वास्तविक स्वरूप क्या है ? इसके सम्बन्ध में दो व्याख्याएँ बड़ी ही मौलिक हैं—एक महर्षि वेदव्यास की, जिसमें कहा गया है कि **'धारणाद्धर्मः'**: जो धारण करता है, उद्धार करता है, अथवा जो धारण करने के योग्य हो, उसे धर्म कहा जाता है। दूसरी व्याख्या है, जैन परम्परा की, जिसमें कहा गया है कि **'वत्थु सहावो धम्मो'**—वस्तु का अपना स्वरूप ही वस्तुतः धर्म हो सकता है।

---

2. उपाध्याय अमर मुनि कृत **'चिन्तन की मनोभूमि'**—पृ० ११५।

वैदिक परम्परा के वेद :

वेद, जिन और बुद्ध—भारत की परम्परा तथा भारत की संस्कृति के मूल-स्रोत हैं। हिन्दू धर्म के विश्वास के अनुसार वेद ईश्वर की वाणी हैं। वेदों का उपदेष्टा कोई व्यक्ति-विशेष नहीं था, अपितु स्वयं ईश्वर ने ही उनका उपदेश दिया था। मूल में वेद तीन थे। अतः उसको वेदत्रयी कहा गया। आगे चलकर अथर्ववेद को मिला कर चार वेद हो गए। वेद की विशेष व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थ और आरण्यक ग्रन्थ हैं, यहाँ तक कर्मकांड की मुख्यता है। उपनिषदों में ज्ञानकांड की प्रधानता है। उपनिषद् वेदों का अन्तिम भाग होने से वेदान्त कहा जाता है। वेदों को प्रमाण मानकर स्मृति-शास्त्र तथा सूत्र-साहित्य की रचना की गई। मूल में इनके वेद होने से ही ये प्रमाणित हैं। वैदिक परम्परा का जितना भी साहित्य-विस्तार है, वह सब वेद-मूलक है। वेद और उसका परिवार, संस्कृत भाषा में है। अतः वैदिक धर्म के विचारों की अभिव्यक्ति संस्कृत भाषा के माध्यम से ही हुई है।

बुद्ध की वाणी : त्रिपिटक

बुद्ध ने अपने जीवन काल में अपने भक्तों को जो उपदेश दिया था, त्रिपिटक उसी का संकलन है। बुद्ध की वाणी को त्रिपिटक कहा जाता है। बौद्ध परम्परा के समग्र विचार और समस्त विश्वासों का मूल त्रिपिटक है। पिटक तीन हैं—सुत्त पिटक, विनय पिटक और अभिधम्म पिटक। सुत्त पिटक में बुद्ध के उपदेश हैं। विनय पिटक में आचार है और अभिधम्म पिटक में तत्त्व-विवेचन है। बौद्ध परम्परा का साहित्य भी विशाल है, परन्तु पिटकों में बौद्ध धर्म के विचारों का सम्पूर्ण सार आ जाता है। अतः बौद्ध विचारों का एवं विश्वासों का मूल केन्द्र त्रिपिटक है। बुद्ध ने अपना उपदेश भगवान् महावीर की तरह उस युग की जन-भाषा में दिया था। बुद्ध ने जिस भाषा में उपदेश दिया, उसको पाली कहते हैं। अतः पिटकों की भाषा पाली भाषा है।

महावीर की वाणी : आगम

'जिन' की वाणी में, 'जिन' के उपदेश में, जिसको विश्वास है, वह जैन है। राग और द्वेष के विजेता को 'जिन' कहते हैं। भगवान् महावीर ने राग और द्वेष पर विजय प्राप्त की थी, अतः वे जिन थे, तीर्थङ्कर थे। तीर्थङ्कर की वाणी को जैन-परम्परा में आगम कहते हैं। भगवान् महावीर के समग्र विचार और समस्त विश्वास तथा सम्पूर्ण आचारों का संग्रह जिसमें हो, उसको द्वादशांग वाणी कहते हैं। भगवान् ने अपना उपदेश उस युग की जन-भाषा में, जन-बोली में दिया था। जिस भाषा में महावीर ने अपने विश्वास, अपने विचार और अपने आचार पर प्रकाश डाला, उस भाषा को अर्द्ध-मागधी कहते हैं। अर्द्ध-मागधी को देववाणी भी कहते हैं। जैन-संस्कृति

तथा जैन-परम्परा के मूल विचारों का और आचारों का मूल स्रोत आगम-वाङ्मय है। जैन-परम्परा का साहित्य बहुत विशाल है। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, गुजराती, हिन्दी, मराठी, बंगला और अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी विराट् साहित्य लिखा गया है। यहाँ दिशामात्र दर्शन है।

विषय प्रतिपादन :

आगमों में धर्म, दर्शन, संस्कृति, तत्त्व, गणित, ज्योतिष, खगोल, भूगोल और इतिहास तथा समाज—सभी प्रकार के विषय यथा-प्रसंग आ जाते हैं। दशवैकालिक एवं आचारांग में मुख्य रूप से साधु के आचार का वर्णन है। सूत्रकृतांग में दार्शनिक विचारों का गहरा मंथन है। स्थानांग और समवायांग में आत्मा, कर्म, इन्द्रिय, शरीर, भूगोल, खगोल, प्रमाण, नय और निक्षेप आदि का वर्णन है। भगवती में मुख्यरूप से गौतम गणधर एवं भगवान् महावीर के प्रश्नोत्तर हैं। ज्ञाता में विविध विषयों पर रूपक और दृष्टान्त हैं। उपासक दशा में दश श्रावकों के जीवन का सुन्दर वर्णन है। अन्तकृत् और अनुत्तरोपपातिक में साधकों के त्याग एवं तप का बड़ा सजीव चित्रण है। प्रश्न-व्याकरण मे पाँच आश्रव और पाँच संवर का सुन्दर वर्णन किया है। विपाक में कथाओं द्वारा पुण्य और पाप का फल बताया गया है। उत्तराध्ययन में अध्यात्म-उपदेश दिया गया है। नन्दी में पाँच ज्ञान का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। अनुयोग द्वार में नय एवं प्रमाण का वर्णन है। छेद सूत्रों में उत्सर्ग एवं अपवाद का वर्णन है। राजप्रश्नीय में राजा प्रदेशी और केशीकुमार श्रमण का अध्यात्म-संवाद सजीव एवं मधुर है। प्रज्ञापना में तत्त्व-चिन्तन गम्भीर, पर बहुत ही व्यवस्थित है। आगमों में सर्वत्र जीवन-स्पर्शी विचारों का प्रवाह परिलक्षित होता है।

आगमों की संख्या :

आगम-प्रामाण्य के विषय में एक मत नहीं हैं। श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक परम्परा ११ अंग, १२ उपांग, ४ मूल, २ चूलिका सूत्र, ६ छेद, १० प्रकीर्णक—इस प्रकार ४५ आगमों को प्रमाण मानती है। इनके अतिरिक्त निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका—इन सबको भी प्रमाण मानती है, और आगम के समान ही इनमें भी श्रद्धा रखती है। श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा और श्वेताम्बर तेरापंथी परम्परा केवल ११ अंग, १२ उपांग, ४ मूल, ४ छेद, १ आवश्यक—इस प्रकार ३२ आगमों को प्रमाणभूत स्वीकार करती है, शेष आगमों को नहीं। इनके अतिरिक्त निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओं को भी सर्वांशतः प्रमाणभूत स्वीकार नहीं करती। दिगम्बर-परम्परा उक्त समस्त आगमों को अमान्य घोषित करती है। उसकी मान्यता के अनुसार सभी आगम लुप्त हो चुके हैं, अतः वह ४५ या ३२ तथा निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, और टीका—किसी को भी प्रमाणभूत नहीं मानती।

दिगम्बर-आगम :

दिगम्बर-परम्परा का विश्वास है कि वीर-निर्वाण के बाद श्रुत का क्रम से ह्रास होता गया। यहाँ तक ह्रास हुआ कि वीर-निर्वाण के ६८३ वर्ष के बाद कोई भी अंगधर अथवा पूर्वधर नहीं रहा। अंग और पूर्व के अंशधर कुछ आचार्य अवश्य हुए हैं। अंग और पूर्व के अंशों के ज्ञाता आचार्यों की परम्परा में होने वाले पुष्प दंत और भूतबलि आचार्यों ने षट् खंडागम की रचना द्वितीय अग्राह्यणीय पूर्व के अंश के आधार पर की। और आचार्य गुणधर ने पाँचवें पूर्व ज्ञान-प्रवाद के अंश के आधार पर कषाय पाहुड की रचना की। भूतबलि आचार्य ने महाबंध की रचना की। उक्त आगमों का विषय मुख्य रूप में जीव और कर्म है। बाद में उक्त ग्रन्थों पर आचार्य वीरसेन ने धवला और जय धवला टीकाएँ की। ये टीकाएँ भी उक्त परम्परा को मान्य हैं। दिगम्बर परम्परा का सम्पूर्ण साहित्य आचार्यों द्वारा रचित हैं। आचार्य कुन्द-कुन्द के प्रणीत ग्रन्थ—समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकायसार और नियमसार आदि भी आगमवत् मान्य हैं। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के ग्रन्थ—गोम्मट सार, लब्धिसार, और द्रव्य संग्रह आदि भी उतने ही प्रमाणभूत और मान्य है।

उत्तराध्ययन सूत्र :

जैन-परम्परा की यह मान्यता रही है कि प्रस्तुत आगम में भगवान् महावीर की अन्तिम देशना का संकलन है। कुछ आचार्यों की यह मान्यता है कि भगवान् महावीर ने निर्वाण प्राप्ति के पहले ५५ अध्ययन दुःख-विपाक के और ५५ सुख-विपाक के कहे थे, उसके बाद बिना पूछे उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययनों का वर्णन किया। इसलिए इसे अपुट्ठ वागरणा—अपृष्ट देशना कहते हैं। ऐसा भी कहा जाता है कि ३६ अध्ययन समाप्त करके भगवान् मरुदेवी माता का प्रधान नामक ३७वे अध्ययन का वर्णन करते हुए अन्तर्मुहूर्त का शैलेशीकरण करके सिद्ध-बुद्ध एवं मुक्त हो गए। कुछ आचार्य भगवान् की अन्तिम देशना इसे नहीं मानते। प्रस्तुत आगम के वर्णन को देखते हुए ऐसा लगता है कि स्थविरो ने इसे बाद में संग्रह किया है। कुछ अध्ययन ऐसे हैं, जिनमें प्रत्येक बुद्ध एवं अन्य विशिष्ट श्रमणों के द्वारा दिए गए उपदेश एवं संवाद का संग्रह है। आचार्य भद्रबाहु ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि इसमें के कुछ अध्ययन अंग साहित्य से लिए हैं। कुछ जिन-भाषित हैं, और कुछ प्रत्येक बुद्ध श्रमणों के संवाद रूप में हैं।[3] जो कुछ भी हो, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि प्रस्तुत आगम भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें सरल एवं सरस पद्यों में और कहीं पर गद्य में भी धर्म, दर्शन, अध्यात्म, योग और ध्यान का सुन्दर निरूपण किया गया

---

3. उत्तराध्ययन निर्युक्ति—गाथा ४।

है। प्रस्तुत आगम मे ३६ अध्ययन हैं—१. विनय, २. परीषह, ३. चतुरंगीय, ४. असंस्कृत ५. अकाम मरण, ६. क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय, ७. औरभ्रीय, ८. कापिलीय, ९. नमिपवज्जा, १०. द्रुमपत्र, ११. बहुश्रुत, १२. हरिकेशीय, १३. चित्त-संभूति, १४. इषुकारीय, १५. सभिक्षुक, १६. ब्रह्मचर्यसमाधि, १७. पाप-श्रमण, १८. संयतीय १९. मृगापुत्रीय, २०. महानिर्ग्रन्थीय, २१. समुद्रपालीय, २२. रथनेमीय, २३. केशी गौतमीय, २४. प्रवचन-माता, २५. यज्ञीय, २६. समाचारी, २७. खलुंकीय, २८. मोक्ष मार्ग, २९. सम्यक्त्व पराक्रम, ३०. तपोमार्ग, ३१ चरण-विधि, ३२. प्रमाद स्थान, ३३. कर्म-प्रकृति, ३४. लेश्या, ३५. अनगार मार्ग, और ३६. जीवाजीव-विभक्ति ।

उत्तराध्ययन का संदेश :

बहुत नहीं बोलना चाहिए, अपने आप पर भी कभी क्रोध न करो, संसार में अदीन भाव से रहना चाहिए। जीवन में शंकाओं से ग्रस्त—भीत होकर मत चलो। कृत-कर्मों का फल भोगे बिना मुक्त नहीं है। प्रमत्त मनुष्य धन के द्वारा अपनी रक्षा नहीं कर सकता, न इस लोक मे न परलोक में। इच्छाओं को रोकने से ही मोक्ष प्राप्त होता है। एक अपने को जीत लेने पर, सबको जीत लिया जाता है। इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं। जरा मनुष्य की सुन्दरता को समाप्त कर देती है। जैसे वृक्ष के फल क्षीण हो जाने पर पक्षी उसे छोड़कर चले जाते हैं, वैसे ही पुरुष का पुण्य क्षीण होने पर भोग साधन उसे छोड़ देते हैं। अध्ययन कर लेने मात्र से वेद रक्षा नहीं कर सकते। संसार के विषय-भोग क्षण भर के लिए सुख देते हैं, किन्तु बदले में चिरकाल तक दुखदायी होते हैं। सदा हितकारी सत्य वचन बोलना चाहिए। जो लाभ-अलाभ, सुख-दुख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा और मान-अपमान में समभाव रखता है, वही वस्तुत: मुनि है। तू स्वयं अनाथ है, तो दूसरे का नाथ कैसे हो सकता है ? अपनी शक्ति को ठीक तरह पहचान कर यथावसर यथोचित कर्त्तव्य का पालन करते हुए राष्ट्र में विचरण कीजिए। असंयत आत्मा ही स्वयं का एक शत्रु है। साधक की स्वयं की प्रज्ञा ही समय पर धर्म की समीक्षा कर सकती है। ब्राह्मण वही है जो संसार में रहकर भी काम भोगों से निर्लिप्त रहता है, जैसे कि कमल जल से लिप्त रहकर भी उसमें लिप्त नहीं होता। समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तपस्या से तापस कहलाता है। कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय, कर्म से ही वैश्य होता है, और कर्म से ही शूद्र। स्वाध्याय सब भावों का प्रकाश करने वाला है। वस्तुस्वरूप को यथार्थ रूप से जानने वाले 'जिन' भगवान् ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को मोक्ष का मार्ग बताया है। सम्यक्त्व के अभाव में चारित्र नहीं हो सकता। ज्ञान के समग्र प्रकाश से, अज्ञान और मोह के विसर्जन से, राग एवं द्वेष के क्षय से, आत्मा एकान्त सुख-स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। राग और द्वेष—ये दो कर्म के बीज हैं।

कर्म मोह से उत्पन्न होता है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है। और जन्म-मरण ही वस्तुतः दुःख है। देवताओं सहित समग्र संसार में जो भी दुःख है, वे सब कामासक्ति के ही कारण हैं। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द आदि विषयों में सम रहता है, उस सुख की कोई उपमा नहीं है, और न कोई गणना ही है।

उत्तराध्ययन निर्युक्ति :

निर्युक्ति, यह आगमों पर सबसे पहली और प्राचीन व्याख्या मानी जाती है। निर्युक्ति प्राकृत भाषा में और पद्यमयी रचना है। सूत्र में कथित अर्थ, जिसमें उपनिबद्ध हो, उसे निर्युक्ति कहा गया है। आचार्य हरिभद्र ने निर्युक्ति की परिभाषा इस प्रकार की है—"**निर्युक्तानामेव सूत्रार्थानाम् युक्तिः—परिपाट्या योजनम्**"। निर्युक्ति शब्द की प्राकृत और संस्कृत दोनों परिभाषाओं से यही फलितार्थ होता है कि सूत्र में कथित एवं निश्चित अर्थ को स्पष्ट करना निर्युक्ति है। निर्युक्ति की उपयोगिता यह है कि संक्षिप्त और पद्यबद्ध होने के कारण यह साहित्य सुगमता के साथ कंठस्थ किया जा सकता था। निर्युक्ति की भाषा प्राकृत और रचना छन्द में होने से इसमें सहज ही सरसता और मधुरता की अभिव्यक्ति होती है। निर्युक्ति के प्रणेता आचार्य भद्रबाहु माने जाते हैं। कौन से भद्रबाहु—प्रथम अथवा द्वितीय ? इस विषय में सभी विद्वान् एक मत नहीं हैं। परन्तु कुछ इतिहासकारों का अभिमत है कि निर्युक्ति—रचना का प्रारम्भ तो प्रथम भद्रबाहु से ही हो जाता है। निर्युक्तियों का समय सम्वत् ४०० से ६०० तक माना गया है। किन्तु ठीक-ठीक काल-निर्णय अभी तक नहीं हो पाया है। उत्तराध्ययन निर्युक्ति में 'उत्तर' और 'अध्ययन' शब्दों की व्याख्या की है। श्रुत और स्कंध को समझाया गया है। गलि और आकीर्ण का दृष्टान्त देकर शिष्यों की दशा का वर्णन किया है। कपिल और नमि का उल्लेख है। इसमें शिक्षाप्रद कथानकों की बहुलता है। मरण की व्याख्या के प्रसंग पर १७ प्रकार के मरण का उल्लेख किया गया है। इस निर्युक्ति में गन्धार श्रावक, स्थूलभद्र, कालक, स्कन्दक पुत्र और करकण्डू आदि का जीवन वृत्तान्त भी है। निह्नवों का वर्णन है। राजगृह के वैभार आदि पर्वतों का उल्लेख भी उपलब्ध होता है। इस निर्युक्ति में धर्म, दर्शन, अध्यात्मयोग एवं ध्यान के सम्बन्ध में भी उल्लेख उपलब्ध हैं।

उत्तराध्ययन भाष्य :

भाष्य भी आगमों की व्याख्या है। परन्तु निर्युक्ति की अपेक्षा भाष्य विस्तार में होता है। भाष्यों की भाषा प्राकृत होती है, और निर्युक्ति की तरह भाष्य भी पद्य में होते हैं। भाष्यकारों में संघदास गणि और जिनभद्र क्षमाश्रमण विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। विद्वान् इनका समय विक्रम की ७वीं शती मानते हैं। उत्तराध्ययन भाष्य

की कल्पना भी मूल सूत्र में है। इस पर शान्ति सूरि ने प्राकृत में एक विस्तृत टीका लिखी है। इस पर एक लघुभाष्य भी लिखा गया है, जिसकी गाथाएँ इसकी निर्युक्ति में मिश्रित हो गई हैं। इसमें बोटिक की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। पाँच प्रकार के निर्ग्रंथों का स्वरूप बतलाया गया है। वे पाँच भेद इस प्रकार से हैं—पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक। प्रसंगवश अन्य वर्णन भी किए गए हैं, जो बहुत सुन्दर हैं।

उत्तराध्ययन चूर्णि :

निर्युक्ति और भाष्य की भाँति चूर्णि भी आगमों की व्याख्या है। परन्तु यह पद्य न होकर गद्य में होती है। केवल प्राकृत में न होकर प्राकृत और संस्कृत—दोनों में होती है। चूर्णियो की भाषा सरल और सुबोध्य होती है। चूर्णियों का रचनासमय लगभग ७ वी-८वीं शती है। चूर्णिकारों में जिनदास महत्तर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनका समय विक्रम की ७ वीं शती माना जाता है। चूर्णिकारों में सिद्धसेन सूरी, प्रलम्ब सूरी और अगस्त्यसेन सूरी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उत्तराध्ययन-चूर्णि जिनदास महत्तर की एक सुन्दर कृति है। यह बहुत विस्तृत नहीं है। संस्कृत और प्राकृत मिश्रित भाषा होने से समझने मे अत्यन्त सुगम है। कहीं-कहीं प्रसंगवश इसमें तत्त्व-चर्चा और लोक-चर्चा भी उपलब्ध होती है।

उत्तराध्ययन टीका :

प्राकृत युग मे मूल आगम, निर्युक्ति और भाष्यों का मन्थन हुआ। चूर्णियों में प्रधानता प्राकृत की होने पर भी उसमें संस्कृत का प्रवेश हो चुका था। संस्कृत युग में प्रधानरूप से टीकाओं की रचना हुई। आगम-साहित्य में चूर्णि-युग के बाद में संस्कृत-टीकाओं का युग आया। टीका के अर्थ में इतने शब्दों का प्रयोग होता रहा है—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, विवृति, वृत्ति, विवरण, विवेचना, अवचूरि, अवचूर्णि, दीपिका, व्याख्या, पंजिका, विभाषा और छाया। संस्कृत टीकाकारों में आचार्य हरिभद्र का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने प्राकृत चूर्णियों के आधार से टीका की। हरिभद्र के बाद में आचार्य शीलांक ने संस्कृत टीकाएँ लिखीं। आचारांग और सूत्र कृतांग पर इनकी विस्तृत और महत्त्वपूर्ण टीकाएं हैं, जिनमें दार्शनिकता की प्रधानता है। मल-धारी हेमचन्द्र भी प्रसिद्ध टीकाकार हैं। परन्तु संस्कृत टीकाकारों में सबसे विशिष्ट स्थान आचार्य मलयगिरि का है। आचार्य शान्ति सूरी ने उत्तराध्ययन पर विस्तृत टीका लिखी है। यह प्राकृत और संस्कृत दोनों में है। परन्तु प्राकृत की प्रधानता है, अतः इसका नाम 'पाइय' टीका प्रसिद्ध है। इसमें धर्म और दर्शन का अति सूक्ष्म विवेचन हुआ है। आगमों के टीकाकारों में अभय देव सूरी भी एक सुप्रसिद्ध टीकाकार हैं।

अभयदेव सूरी को नवांगी वृत्तिकार कहा जाता है। उत्तराध्ययन सूत्र पर जिन आचार्यों ने संस्कृत टीकाएँ लिखी हैं, उनमें मुख्य ये हैं—वादिवेताल शान्तिसूरी, नेमिचन्द्र, कमलसंयम, लक्ष्मी वल्लभ, भावविजय, हरिभद्र, मलयगिरि, तिलकाचार्य, कोट्याचार्य, नमि साधु और माणिक्य शेखर। जैन आगमों में सबसे अधिक टीकाएँ उत्तराध्ययन पर ही लिखी गई हैं। यही कारण है कि उत्तराध्ययन सूत्र जैन-परंपरा में अत्यन्त प्रिय और अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है।

गीता, उत्तराध्ययन, धम्मपद :

जिस प्रकार समस्त उपनिषदों का सार गीता में संचित कर दिया गया है, जिस प्रकार समस्त बुद्धवाणी का सार धम्मपद में संगृहीत कर दिया गया है, उसी प्रकार भगवान् महावीर की वाणी का समग्र निस्यन्द एवं सार उत्तराध्ययन सूत्र में गुम्फित किया गया है। भगवान् महावीर के विचार, विश्वास और आचार का एक भी दृष्टिकोण इस प्रकार का नहीं है, जो उत्तराध्ययन सूत्र में न आ गया हो। इसमे धर्म-कथानक भी हैं, उपदेश भी हैं, त्याग एवं वैराग्य की धाराएँ भी प्रवाहित हो रही हैं। धर्म और दर्शन का सुन्दर समन्वय इसमें भली-भाँति परिलक्षित होता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र-तीनों का सुन्दर संगम हुआ है।

प्रस्तुत-प्रकाशन :

उत्तराध्ययन सूत्र का प्रस्तुत-प्रकाशन अत्यंत ही सुन्दर है। इसमें विशेषता यह है कि एक ओर मूल है, और ठीक उसके सामने उसका अनुवाद दिया गया है। स्वाध्याय प्रेमी मूल पाठ कर सकता है, और अर्थ जानने वाला व्यक्ति सीधा अर्थ भी पढ़ सकता है। अनुवाद की भाषा और शैली आकर्षक एवं सुन्दर है। महाविदुषी दर्शनाचार्य श्री चन्दना जी ने इसके अनुवादन एवं लेखन में खूब ही परिश्रम किया है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। उनकी दार्शनिक बुद्धि ने यथाप्रसंग और यथास्थल शब्दों के मार्मिक अर्थ दिए हैं। प्रसन्नता है कि साध्वी समाज में यह पहला अवसर है कि एक साध्वी ने उत्तराध्ययन सूत्र का सुन्दर सम्पादन प्रस्तुत किया है। अभी तक चन्दना जी वक्तृत्व कला में ही प्रसिद्ध थीं, पर इस प्रकाशन से लेखन के क्षेत्र में भी वे प्रवेश पा रही हैं।

अन्तर् के बोल

—उपाध्याय अमरमुनि

भारतीय वाङ्मय की प्रमुख चिन्तन धारा, त्रिपथगा गंगा की भाँति 'वैदिक, जैन और बौद्ध-परम्परा के रूप में, तीन धाराओं में प्रवाहित है। भारतीय तत्त्व द्रष्टा ऋषि-मुनियों एवं अध्येता विद्वानों का पुराकालीन वह तत्त्व ज्ञान, जिसने हजारों वर्षों से भारतीय जनजीवन को आध्यात्मिक एवं नैतिक आदर्शों की तथा आत्मोत्थान एवं समाजोत्थान के कर्तव्य कर्मों की प्रेरणा दी है, वह इन्हीं तीनों परम्पराओं के प्राक्तन साहित्य में उपलब्ध है। भारत की तत्कालीन पवित्र एवं निर्मल आत्मा के दर्शन यदि हम आज कर सकते हैं, तो यहीं कर सकते हैं, अन्यत्र नहीं।

वैदिक ब्राह्मणधर्म में वेदों का तथा बौद्धधर्म में त्रिपिटक का जो गौरवशाली महत्त्वपूर्ण स्थान है, वही जैन धर्म में आगमसाहित्य का है। समवायांग सूत्र में आचारांग आदि १२ अंग शास्त्रों का तो 'गणिपिटक' के नाम से गौरवपूर्ण उल्लेख हुआ हैं। समवायांग सूत्र के टीकाकार आचार्य अभयदेव ने 'गणपिटक' का अर्थ किया है—"गणी अर्थात् गणधर आचार्यों का, पिटक अर्थात् धर्मरूप निधि के रखने का पात्र।" इसका अर्थ है—अंग साहित्य में धर्म का विशाल ज्ञानकोष सुरक्षित है। अंगशास्त्रों से इतर आगमों में भी 'गणिपिटक' का उक्त अर्थ समाहित है। उनमें भी जैन तत्त्व ज्ञान का वह अक्षय कोष है, जो साधक के अन्तरंग में तरंगित होने वाली जिज्ञासाओं का योग्य समाधान प्रस्तुत करता है।

अंग और अंगबाह्य

जैन आगम साहित्य का सर्वप्रथम 'अंग' और 'अंगबाह्यरूप' में दो प्रकार से विभाजन हुआ है।[1] जिनदास महत्तरकृत नन्दीचूर्णि, तत्त्वार्थराजवार्तिक आदि के अनुसार अंग शास्त्र वे हैं, जो अर्थरूप में जिनभाषित हैं तथा शब्दसूत्र के रूप में गणधरों द्वारा ग्रथित हैं।[2] तीर्थंकर महावीर ने आचारांग आदि शास्त्रों के नामोल्लेख

---

1. नन्दीसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र आदि।
2. भगवदर्हत्सर्वज्ञहिमवन्निर्गतवाग्गङ्गार्थविमलसलिलप्रक्षालितान्तःकरणैः बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैर्गणधरैरनुस्मृतग्रन्थरचनम् आचारादिद्वादशविधमङ्गप्रविष्टमित्युच्यते।
—तत्त्वार्थवार्तिक १।२०।१२

के साथ न कोई एक आगम कहा है, न लिखा है। उन्होंने तो भव्यात्माओं के बोधार्थ केवल धर्मदेशनाएँ दीं, आत्महितकर तत्त्वज्ञान का मर्म समझाया, और बस कृतकृत्य हो गए। भगवान द्वारा समय-समय पर दिए गए धर्मोपदेशों का जो अंश गणधरों की स्मृति में रहा, उसे उन्होंने संकलनकर सूत्रबद्ध किया, और अपने शिष्यों को कण्ठस्थ कराया। लिखा उन्होंने भी नहीं।

अंगबाह्य शास्त्र वे हैं, जो बाद में कालानुसार मन्दबुद्धि होते जाते शिष्यों के हितार्थ परम्परागत अंगसाहित्य के आधार पर स्थविरों ने संकलित किए।[3] अंगबाह्य शास्त्रों की संख्या का उल्लेख आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में 'अनेक' कह कर किया है,[4] अर्थात् उनकी दृष्टि में अंगबाह्य शास्त्रों की अंगशास्त्रों के अनुसार कोई नियत संख्या नहीं है।

उत्तराध्ययन सूत्र

उत्तराध्ययन सूत्र की गणना अंगबाह्य शास्त्रों में है।[5] यद्यपि कल्पसूत्र (१४६) के अनुसार उक्त आगम की प्ररूपणा श्रमण भगवान् महावीर ने अपने निर्वाण से पूर्व अन्तिम समय में पावापुरी में की थी। इस दृष्टि से जिनभाषित होने के कारण इसका स्थान अंगशास्त्रों में होना चाहिए था, अंगबाह्यों में नहीं। उत्तराध्ययन सूत्र की अन्तिम (३६।२६८) गाथा को भी कतिपय टीकाकार इसी भाव में अवतरित करते हैं कि उत्तराध्ययन का कथन करते हुए भगवान् महावीर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। इस गुत्थी को सुलझाना काफी कठिन है। फिर भी इतना कह सकता हूँ, कि उत्तराध्ययन के कुछ अंशों की अवश्य भगवान् महावीर ने प्ररूपणा की थी, बाद में स्थविरों ने कुछ और अंश जोड़कर प्रस्तुत शास्त्र का उत्तराध्ययन के नाम से संकलन किया। वर्तमान में उत्तराध्ययन का जो रूप उपलब्ध है, उस पर से ऐसा लगता भी है कि उसका कुछ अंश पीछे से संकलित हुआ है। साक्षी के लिए केशिगौतमीय, सम्यक्त्व पराक्रम आदि कुछ अध्ययन सूक्ष्मता से देखे जा सकते हैं। केशिगौतमीय अध्ययन में तीर्थंकर महावीर का श्रद्धा भक्ति के साथ गौरवपूर्ण उल्लेख है, जो स्वयं भगवान् महावीर के अपने ही श्री मुख से सुसंगत नहीं लगता है। सम्यक्त्वपराक्रम में प्रश्नोत्तरशैली है, जो परिनिर्वाण के समय की वर्णित स्थिति से घटित नहीं होती है। दूसरे

---

3. यद् गणधरशिष्यप्रशिष्यैरारातीयैरधिगतश्रुतार्थतत्त्वैः कालदोषादल्पमेधायुर्बलानां प्राणिनामनुग्रहार्थमुपनिबद्धं संक्षिप्ताङ्गार्थवचनविन्यासं तदङ्गबाह्यम्।

—तत्त्वार्थवार्तिक १।२०।१३

4. श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्-१।२०
5. नन्दीसूत्र, तत्त्वार्थवार्तिक आदि।

कल्पसूत्रकार ने उत्तराध्ययन को 'अपृष्ट व्याकरण' अर्थात् बिना किसी के पूछे स्वतः कथन किया हुआ शास्त्र बताया है।[6] अन्य अध्ययनों के भी कुछ अंश इसी प्रकार बाद में संकलित किए गए प्रतीत होते हैं। पूर्वोक्त तथ्यों के आधार पर गणधरों द्वारा संकलित न होकर, उक्त शास्त्र, पश्चाद्भावी स्थविरों द्वारा संकलित हुआ है, अतः उसे अंगशास्त्रो में नहीं, अंगबाह्य शास्त्रो मे स्थान मिला है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान् महावीर का धर्मोपदेश नहीं है। काफी मात्रा में उन्हीं का धर्मोपदेश है, जो यत्रतत्र स्पष्टतः प्रदीप्तिमान है, और साधक की अन्तरात्मा को स्पर्श करता है। वीतरागवाणी का तेज छिपा नही रहता है। वह महाकाल के सघन अवरोधों को तोड़ता हुआ आज भी प्रकाशमान है, भव्यात्माओ का साधनापथ उजागर कर रहा है।

आगमसाहित्य की तीन वाचनाएँ

आगम साहित्य की सुरक्षा का प्रश्न आरम्भ से ही काफी जटिल रहा है। अध्येता मुनि आगमो को कण्ठस्थ अर्थात् स्मृति में रखते थे, लिखते नहीं थे। लिखने और रखने में उन्हे हिंसा आदि असंयम का दोष लगता था[7] और ताड़पत्र आदि के संग्रह से परिग्रह आदि का दोष भी ? इसीलिए गुरुशिष्य परम्परा से श्रुत होने के कारण आगम साहित्य को 'श्रुत' कहा जाता है। श्रुत अर्थात् सुना गया, पुस्तक मे देखकर पढ़ा नहीं गया। वेद भी पहले श्रुत परम्परा से ही चलते आए थे, लिखे नहीं गए थे। अतः उन्हें भी 'श्रुति' कहा जाता है। परन्तु श्रुत होने पर भी वेदों का शब्द पाठ, आगम पाठ की अपेक्षा अधिक सुरक्षित रहा। इसका कारण एक तो यह है कि वेदपाठी ब्राह्मण एक जगह रहता था, अतः वह निरन्तर अभ्यास में, उच्चारण की शुद्धता में लगा रहता था। दूसरे वेदमंत्रो का प्रयोग यज्ञयागादि क्रिया काण्डों में प्रायः निरन्तर होता रहता था। आगमो के लिए यह स्थिति नहीं थी। एक तो जैन भिक्षु भ्रमणशील था। एक जगह अधिक रहना, उसके लिए निषिद्ध था। दूसरे लोकजीवनसम्बन्धी सामाजिक क्रियाकाण्डो मे उसका कोई उपयोग भी नहीं था।

---

6. छत्तीसं च अपुट्ठ वागरणाइं—कल्पसूत्र १४६

7. (क) पोत्थएसु घेप्पंतएसु असंजमो भवइ। —दशवैकालिक चूर्णि पृ० २१

(ख) जत्तियमेत्ता वारा, मुंचति बंधति य जत्तिया वारा।
जति अक्खराणि लिहति य, तति लहुगा जं च आवज्जे॥

—निशीथ भाष्य, ४००४

ब्राह्मणों की तरह श्रमण, भाषा की पवित्रता को भी कोई महत्त्व न देते थे। उनका लक्ष्य अर्थ था, शब्द नहीं। यही कारण है कि जहाँ ब्राह्मण वेद के शब्दों को नित्य मानता रहा है, वहाँ श्रमण आगमों के शब्दों को अनित्य मानकर चला है।[8] वेदों में शब्द-पाठ पहले हैं, अर्थ बाद में हैं। श्रमणों के यहाँ अर्थ पहले है, शब्दपाठ बाद में हैं।[9]

डा० हरिश्चन्द्र जैन ने 'अंगशास्त्र के अनुसार मानव व्यक्तित्व का विकास' नामक अपने शोध ग्रन्थ में ठीक ही लिखा है कि "ब्राह्मण के लिए वेदाध्ययन सर्वस्व था, किन्तु जैन श्रमण के लिए आचार ही सर्वस्व है। अतएव कोई मन्दबुद्धि शिष्य सम्पूर्ण श्रुत का पाठ न भी कर सके, तब भी उसके मोक्ष में किसी भी प्रकार की रुकावट नहीं थी और उसका ऐहिक जीवन भी निर्बाध रूप से सदाचार के बल पर व्यतीत हो सकता था। जैन सूत्रों का दैनिक क्रियाओं में विशेष उपयोग भी नहीं है। जहाँ एक सामायिक पदमात्र से भी मोक्षमार्ग सुगम हो जाने की शक्यता हो, वहाँ बिरले ही साधक यदि संपूर्ण श्रुतधर होने का प्रयत्न करें, तो इसमें क्या आश्चर्य।" डाक्टर साहब का उक्त कथन ऐतिहासिक सत्य के निकट है। यही कारण है कि आगमों की परम्परा बीच-बीच में कई बार छिन्न-भिन्न होती रही। भयंकर दुष्कालों के समय तो वह और भी विषम स्थिति में पहुंच गई। स्मृति दुर्बलता के कारण भी आगमों के अनेक अंश अस्तव्यस्त होते गए। और जब-जब यह स्थिति आई, तो आगमों की सुरक्षा के लिए श्रुतधर आचार्यों ने युगानुसार प्रयत्न किए। बौद्ध परम्परा में त्रिपिटिक के व्यवस्थित संकलन एवं संरक्षण के लिए होनेवाली विद्वत्परिषद् को संगीति कहते हैं, जैन परम्परा में इस प्रकार आगमसुरक्षा के सामूहिक प्रयत्नों को वाचना कहा जाता है। ये वाचनाएँ मुख्य रूप से तीन हैं।

सर्वप्रथम पाटलिपुत्र की वाचना है, जो आचार्य भद्रबाहु स्वामी और आर्य स्थूल भद्र के निर्देशन में हुई। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में १२ वर्ष का भयंकर दुष्काल पड़ा था। उस समय संघ बहुत अस्त-व्यस्त हो गया था। ऐसी स्थिति में आगमों का अभ्यास कैसे चालू रह सकता था। अतः दुष्काल के बाद आगमों को यथास्मृति व्यवस्थित रूप देने के लिए प्रथम वाचना का सूत्रपात हुआ।

इस वाचना में आचारांग आदि ११ अंग और बारहवें दृष्टिवाद अंग के १४ पूर्वों मे १० पूर्व ही शेष बच पाए थे। जैन कथानुसार एक मात्र स्थूलभद्र ही ऐसे थे, जिन्हें शब्दशः १४ पूर्व का और अर्थशः १० पूर्वों तक का स्पष्ट ज्ञान था।

---

8. नन्दीसूत्र, उपसंहार
9. अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गुंथंति गणहरा निउणं। —आवश्यकनिर्युक्ति

दूसरी वाचना आचार्य स्कन्दिल के समय में मथुरा में हुई। माथुरी वाचना के नाम से प्रसिद्ध यह वाचना भी १२ वर्ष के भीषण दुष्काल के बाद ही हुई थी। आचार्य स्कन्दिल का पट्टधर काल मुनि श्री कल्याण विजयजी के मतानुसार, वीर निर्वाण सं० ८२७ से ८४० तक है। आचार्य स्कन्दिल के समय में ही दूसरी वाचना, आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता मे, सौराष्ट्र प्रदेश के वलभी नगर में हुई।

तीसरी वाचना भगवान् महावीर के निर्वाण से ९८० अथवा ९९३ वर्ष के लगभग देवर्द्धिगणी के नेतृत्व में वलभी नगर मे हुई। अन्तः यह वालभी वाचना के नाम से प्रसिद्ध है। प्रथम की दो वाचनाओ में आगमो को स्मृति-अनुसार केवल मौखिक-रूप से व्यवस्थित ही किया गया था, उन्हे लिखा नही गया था। देवर्द्धिगणी ने ही सर्वप्रथम आगमो को लिखा, पुस्तकारूढ किया। स्मृति पर आधारित शास्त्रों में हेर-फेर होने की जितनी अधिक संभावना है, उतनी लिखित होने पर नहीं रहती। अतः लिखित रूप मे आगमो की व्यवस्थित सुरक्षा का यह महाप्रयत्न जैन इतिहास में चिर अभिनन्दनीय रहेगा। वर्तमान में आगमों का जो रूप है, वह अधिकांशतः देवर्द्धिगणी के द्वारा व्यवस्थित किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र का परम्परागत वर्तमान में उपलब्ध संस्करण भी देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की वालभी वाचना का ही कृपाफल है।

उत्तराध्ययन के व्यावहारिक जीवन प्रयोग

उत्तराध्ययन का प्रारम्भ विनय से होता है। विनय अर्थात् शिष्टाचार। गुरुजनों का, अभिभावकों का अनुशासन जीवन में कितना निर्माणकारी है, यह प्रथम अध्ययन मे ही मालूम हो जाता है। कैसे बोलना, कैसे बैठना, कैसे खड़े होना, कैसे सीखना-समझना—इत्यादि छोटी-छोटी बातों की भी काफी गंभीरता के साथ चर्चा की गई है, जैसे कि कोई अनुभवी वृद्ध नन्हे बालक को कुछ बता रहा हो। वस्तुतः जीवन-निर्माण की ये पहली सीढ़ियां हैं। इनको पार किए बिना ऊपर की मंजिल में कोई कैसे पहुँच सकेगा। आज जो हम विग्रह, कलह और द्वन्द्व परिवार में, समाज में और राष्ट्र में देख रहे हैं, यदि उत्तराध्ययन के प्रथम के दो, तीन अध्ययन ही निष्ठा के साथ जीवन में उतार लें, तो धरती पर जीते जी हो स्वर्ग उतर आए। देखिए, उक्त अध्ययनों में कितना सुन्दर कहा है—"बहुत नहीं बोलना चाहिए। किए को किया कहो और न किए को न किया। गलिताश्व (दुष्ट या दुर्बल घोड़ा) जैसे बार-बार चाबुक की मार खाता है, ऐसे बार-बार किसी के कुछ कहते रहने और सुनने की आदत मत डालो। समय पर समय (समयोचित कर्तव्य) का आचरण करना चाहिए। दूसरों पर तो क्या, अपने आप पर भी कभी क्रोध न करो। गलती को छिपाओ नहीं। बिना बुलाए किसी के बीच में न बोलो। दूसरे दमन करें, इससे तो अच्छा है कि व्यक्ति स्वयं ही स्वयं को

अनुशासित करले। दूसरों के दोष न देखो। ज्ञान प्राप्त कर नम्र बनो। खाने-पीने की मात्रा का यथोचित भान रखना चाहिए। बुरे के साथ बुरा होना, बचकानापन है। आज नहीं, तो कल मिलेगा? आज के अलाभ से ही निराशा क्यों? मन में दीनता न आने दो।"

उत्तराध्ययन का बन्धनमुक्ति-सन्देश

मानव में कामना का द्वन्द्व सबसे बड़ा द्वन्द्व है। यह वह द्वन्द्व है, जो कभी कुछ आगे बढ़ जाता है तो मानव को पशु बना देता है, विक्षिप्त और पागल भी। इसके लिए उत्तराध्ययन में वैराग्य की जो धारा प्रवाहित है, ब्रह्मचर्यसमाधि स्थान आदि अध्ययनों में जो व्यावहारिक एवं मौलिक चिन्तन है, उस का अक्षर-अक्षर ऐसा है, जो वासना के चिरबद्ध जाल को, यदि निष्ठा के साथ सक्रियता हो तो कुछ ही समय में तोड़ कर फेंका जा सकता है। अपेक्षा है साधना की। उत्तराध्ययन की दृष्टि में वासना एक असमाधि है, प्रतिपक्ष में ब्रह्मचर्य समाधि ही उसका समुचित उत्तर है। उसके लिए साधक को कब, कैसे सतर्क एवं सजग रहना है, यह उत्तराध्ययन के १६ और ३२ वें अध्ययनों से अच्छी तरह जाना जा सकता है।

उत्तराध्ययन के आध्यात्मिक उद्‌घोष

उत्तराध्ययन आध्यात्मिक शास्त्र है। वह जीवन की उलझी गुत्थियों को अन्दर में सुलझाता है। बाहर में जो भी द्वन्द्व, विग्रह या संघर्ष नजर में आते हैं, उनके मूल अन्दर में हैं। अतः विषवृक्ष के कुछ पत्ते नोंच लेने में समस्या का सही समाधान नहीं है। विषवृक्ष के तो मूल को ही उखाड़ना होगा। और वह मूल है प्राणी के अन्तर्मन का राग-द्वेष। इसी लिए उत्तराध्ययन कहता है—'शब्द, रूप, गन्ध, रस आदि का कोई अपराध नहीं है।[10] असली समस्या उस मन की है, जो मनोज्ञ से राग और अमनोज्ञ से द्वेष करने लगता है। शब्दादिसेनहीं, मोह से ही विकृति जन्म लेती है।[11] जो साधक सम है, मनोज्ञ और अनमोज्ञ की द्वन्द्वात्मक स्थिति में भी समभाव रख लेता है, राग द्वेष नहीं करता है, वह संसार मे रहता हुआ भी उससे वैसे ही लिप्त नहीं होता है, जैसे जल में रहता हुआ भी कमल का पत्ता जल से लिप्त आर्द्र नहीं होता है।[12]

---

10. 'न किंचि रूवं अवरज्झई से'—३२।२५
11. 'सो तेसु मोहा विगइं उवेइ'—३२।१०२
12. 'न लिप्पए भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं'—३२।३४

यह है साधना का गूढ़ार्थ ! यह पथ अपने को बदलने का है, भागने का नहीं । वास्तव में बदले बिना समस्या का समाधान नहीं है । राजीमती रथनेमि को ठीक ही कहती है—"ऐसे कैसे काम चलेगा । ऐसे तो जब भी कभी किसी नारी को देखोगे, गड़बड़ा जाओगे, अस्थिर हो जाओगे । कदम-कदम पर ठोकरें खाना, कैसी साधुता है ?"[13] बात ठीक है, संसार में जब तक हैं, अन्धे-बहरे, लूले-लंगड़े, लुंज-पुंज अपंग हो कर तो किसी कोने में नहीं पड़े रहेंगे । जीवन एकयात्रा है । यात्रा में अच्छे-बुरे सभी प्रसंग आसकते हैं । आवश्यकता है अपने को ही सँभाले रखने की । बाहर में किसी से झगड़ने की नहीं । अतः उत्तराध्ययन साधक को बाहर में इधर उधर के विषयों से, वातावरणों से बचे रहने की, नीति-नियमों की रक्षा के लिए एकान्त में अलग बने रहने की अनेक चर्चाएँ करता है, जो प्राथमिक साधक के लिए अतीव आवश्यक भी हैं, और उपयोगी भी हैं, किन्तु आखिर में इसी तात्विक निष्कर्ष पर आता है कि विवेकज्ञान से अपने को अन्दर में ऐसा तैयार करो कि बाहर में भला बुरा कुछ भी मिले, तुम अन्दर में **'मेरुव्व वाएण अकंपमाणो'** (उत्त० २०,१६) रहो ।

उत्तराध्ययन की दृष्टि में क्रियाकाण्ड

उत्तराध्ययन साधनापथ पर दृढ़ता से चलते रहने की बात तो करता है, किन्तु अर्थहीन देहदण्ड की नहीं । वह सहज शील को महत्त्व देता है, इसी लिए वह कहता है—"जटा बढ़ाने से क्या होगा ? मुण्ड होने से भी क्या बनेगा ? नग्न रहो तो क्या और अजिन एवं संघाटी धारण करो तो क्या ? यदि जीवन दुःशील है तो ये जरा भी त्राण नहीं कर सकेंगे ।"[14] बिल्कुल ठीक कथन है यह । मुख्य बात यम की नहीं, संयम की है—कोरे अनाचार या अत्याचार की नहीं, सदाचार की है । देवेन्द्र ने जब घोर आश्रम की चर्चा की, और वहीं तप तपने की बात कही, तो राजर्षि नमि कहते हैं—"बाल तप से क्या होता है ? अन्तर्विवेक जागृत होना चाहिए । बालजीव महीने-महीने भर के लम्बे उपवास करता है, पारणा के दिन कुशाग्र पर आए इतना अन्न-जल लेता है, तब भी वह श्रुताख्यात सहज शुद्ध धर्म की सोलहवीं कला को भी नही पा सकता है ।"[15] कितनी बड़ी बात कही है उत्तराध्ययन में । इससे बढ़कर जड़ क्रियाकाण्ड का और कौन आलोचक होगा ? उत्तराध्ययन की लड़ाई शरीर से नहीं है कि वह पापों की जड़ है । उसे खत्म करो । शरीर को तो वह संसार सागर को तैरने की नौका बताता है—**'सरीर माहु नाविति ।'**[16] मन के चंचल अश्व को भी मारने

---

13. दशवैकालिक, उत्तराध्ययन ।
14. उत्तराध्ययन, ५।२१
15. „ „ १५।४४
16. „ „ २३।७३

की बात नहीं कहता। बस, उसे साधने की बात कहता है। मन के घोड़े को ज्ञान का लगाम लगाओ[17] और यात्रा करो, कोई डर नहीं है।

उत्तराध्ययन में प्रज्ञावाद के सूत्र

उत्तराध्ययन मानव की सहज प्रज्ञा का पक्षधर है। वह सत्य का निर्णय किसी चिरागत परम्परा या शास्त्र के आधार पर करने को नही कहता है। वह तो कहता है, '**अप्पणा सच्चमेसेज्जा**' तुम स्वयं सत्य की खोज करो। अर्थात् अपनी खुद की आंखों से देखो। दूसरों की आंखों से भला कोई कैसे देख सकता है। भगवान पार्श्वनाथ और महावीर के संघों के आचार एवं वेष व्यवहार की गुत्थी को गौतम ने न पार्श्व जिन के नाम से सुलझाया और न अपने गुरु महावीर के नाम से ही। महापुरुषों और शास्त्रों की दुहाई न दी उन्होंने। गौतम का एक ही कहना है—"अपनी स्वत: प्रज्ञा से काम लो। देश काल के बदलते परिवेश में पुरागत मान्यताओं को परखो। '**पन्ना समिक्खए धम्मं**'[18]—**विन्नाणेण समागम्म, धम्मसाहणमिच्छियं**'[19]—प्रज्ञा ही धर्म के सत्य की सही समीक्षा कर सकती है। तत्त्व और अतत्त्व को परखने की प्रज्ञा एवं विज्ञान के सिवा और कोई कसौटी नहीं है।

उत्तराध्ययन के क्रान्ति-स्वर

उत्तराध्ययन के क्रान्ति के स्वर इतने मुखर हैं, जो महाकाल के झंझावातों में भी न अभी क्षीण हुए हैं, और न कभी क्षीण होंगे। भगवान् महावीर के युग में संस्कृत भाषा को देववाणी मानकर कहा जाता था कि वह शब्दत: ही पवित्र है। इस प्रकार शास्त्रों के अच्छे बुरे का द्वन्द्व भाषा पर ही आ टिका था। भगवान् ने समाधान दिया—कोई भी भाषा पवित्र या अपवित्र नहीं है। भाषा किसी का संरक्षण नहीं कर सकती।[20] शास्त्र पढ़ने भर से किसी का कुछ त्राण नहीं है।[21] अच्छा शास्त्र वही है, जिसके अध्ययन से तप, त्याग, क्षमा, अहिंसा आदि की प्रेरणा मिले।[22] भगवान् महावीर ने इसीलिए पंडिताऊ संस्कृत का मार्ग छोड़कर सर्वसाधारण जनता की बोली में जनता को उपदेश दिया। भाषा का मोह आज भी हमें कितना तंग कर रहा है, कितना खून बहा रहा है। अच्छा हो,

---

17. ,, ,, २३।५६
18. ,, ,, २३।२५
19. ,, ,, २३।३१
20. ,, ,, ६।१०
21. ,, ,, १४।१२
22. ,, ,, ३।८

उत्तराध्ययन की उक्त चर्चा पर से हम इस द्वन्द्व का कुछ समाधान पाएं। आदर्शों के नाम पर आए दिन नित नये बढ़ते झगड़े समाप्त करें।

मानव कहीं भी और कैसे भी रहे। कोई न कोई वेषभूषा तो होगी ही। सामाजिक ही नहीं, धार्मिक जीवन में भी वेष का कुछ अर्थ है। परन्तु द्वन्द्व तब पैदा होता है, जब देश कालानुसार उसमें कुछ बदलाव आता है। और वह आना भी चाहिए। लोक जीवन बहता पानी है। काल के साथ वह भी बहता रहता है। पलैया का पानी बहता नहीं है, अतः वह सड़ता है। भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर के संघों मे जब नए पुराने धर्मलिंग का, वेषभूषा का प्रश्न उठा, तो गणधर गौतम बहुत स्पष्ट समाधान करते हैं। उनकी दृष्टि में धार्मिक वेष कोई भी हो, देशकालानुसार वह कितना ही और कैसा ही बदले, उसका प्रयोजन लोक तक ही है, आगे नहीं। 'लोगे लिंगप्पओयणं।'[23] वेष और वेष से सम्बन्धित आचार-व्यवहार लोकप्रतीति के लिए विकल्पित किए हैं, ये तात्त्विक नहीं हैं, शाश्वत तो बिल्कुल भी नहीं। 'पच्चयत्थं च लोगस्स, नाणाविहविगप्पणं।'[24] निश्चय में—मुक्ति के सद्भूत साधन[25] सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही हैं, वेष आदि नहीं।

उत्तराध्ययन ने जातिवाद पर भी करारी चोटें की हैं। वह जन्म से श्रेष्ठता नहीं, कर्म से श्रेष्ठता मानता है। वह जन्म से नहीं, कर्म से ब्राह्मण होने की बात कहता है—'कम्मुणा बंभणो होइ।'[26] यज्ञीय अध्ययन में यज्ञ की और यायाजी ब्राह्मण की सत्कर्म-प्रधान बड़ी मौलिक व्याख्या की है। हरिकेश बल श्वपाक पुत्र को देव-पूजित बताया है। उसका स्पष्ट उद्घोष है—'सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसई जाइविसेस कोई।'[27] साधना की विशेषता है, जाति की विशेषता नहीं।

आज के इस युग में भी ये क्रान्ति के अपराजित स्वर कितने अपेक्षित हैं, यह आज के समाजशास्त्रियों और राष्ट्र नेताओं से पूछो।

उत्तराध्ययन का महत्त्व

उत्तराध्ययन का महत्त्व जैन वाङ्मय में सर्वविदित है। नाम से ही यह अध्ययन उत्तर अर्थात् उत्तम अध्ययन है। यह वह आध्यात्मक भोजन है, जो कभी बासी नहीं होता। यह जीवन के दुखते अंगों को सीधा स्पर्श करता है। वस्तुतः यह जीवनदर्शन है, जीवनसूत्र है। एक प्राचीन मनीषी के शब्दों में यह कह दिया

---

23. ,, ,, २३।३२
24. ,, ,, २३।३२
25. ,, ,, २३।३३
26. ,, ,, २५।३१
27. ,, ,, १२।३७

जाए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी कि 'यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।' यहाँ लोकनीति है, सामाजिक शिष्टाचार है, अनुशासन है, अध्यात्म है, वैराग्य है, इतिहास है, पुराण है, कथा है, दृष्टान्त है, और तत्त्वज्ञान है। यह गूढ भी है और सरल भी। अन्तर्जगत् का मनोविश्लेषण भी है, और बाह्य जगत् की रूपरेखा भी। अपनापन क्या है, यह जानना हो तो उत्तराध्ययन से जाना जा सकता है। उत्तराध्ययन जीवन की सर्वांगीण व्याख्या प्रस्तुत करता है। एक विद्वान् के शब्दों में जैन जगत् का यह गीता दर्शन है। यही कारण है, प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश तथा लोक भाषाओं में आजतक जितनी टीकाएँ, उपटीकाएँ, अनुवाद आदि उत्तराध्ययन पर प्रस्तुत किए गए हैं, उतने और किसी आगम पर नहीं। चिर अतीत में निर्युक्तिकार चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहु स्वामी से लेकर आज तक व्याख्याओं का प्रवाह अजस्रगति से बहता ही आ रहा है।

प्रस्तुत संस्करण

उत्तराध्ययन के संस्करण और भी कई प्रकाशित हुए हैं। अनुवाद और भी कई लिखे गए हैं। परन्तु यह संस्करण अपनी एक अलग ही विशेषता रखता है। शुद्ध मूल पाठ है। वह यथास्थान पदच्छेद एवं विराम आदि से सुसज्जित कर ऐसा लिखा गया है, यदि थोड़ा सा भी लक्ष्य दिया जाए तो मूल पर से ही काफी अर्थबोध हो सकता है। अनुवाद भी वैज्ञानिक शैली का है, जो मूल को सीधा स्पर्श करता है। टिप्पण भी भावोद्घाटन की दृष्टि से शानदार हैं। न अधिक विस्तार है, न संक्षेप। काफी अच्छा है, जो भी और जितना भी है।

उक्त संस्करण की सम्पादिका श्री चन्दना जी वस्तुतः श्री चन्दना हैं। उनका अध्ययन विस्तृत है, चिन्तन गहरा है। प्रज्ञात तत्त्व के प्रति निष्ठा उनकी अविचल है। उसके लिए वे कभी-कभी तो इतनी स्पष्टता पर उतर आती हैं कि आलोचना की शिकार हो जाती हैं। परन्तु अपने में वे इतनी साफ हैं, यदि कोई पूर्वाग्रह और पक्ष-विशेष से मुक्त होकर उन्हें देखे तो। उनकी वाणी में ओज है, एक सहज आकर्षण। जटिल से जटिल प्रतिपाद्य को भी वे बड़ी सहज सरलता के साथ श्रोताओं के मन-मस्तिष्क में उतार देती हैं। वे प्रवचन के साथ अच्छी लेखिका भी हैं। उनके द्वारा प्राकृत व्याकरण, तत्वार्थसूत्र सानुवाद, हमारा इतिहास आदि कई रचनाएँ रूपाकार ले चुकी हैं। उत्तराध्ययन का प्रस्तुत संपादन भी उसी शृंखला की एक कड़ी है। पर इस की अपनी एक अलग विशेषता है। जहाँ तक मुझे मालूम है, सम्भवतः यह पहली साध्वी हैं, जो आगमसम्पादन के गहन एवं दुर्गम पथ पर अग्रसर हुई हैं। बहुत जल्दी में लिखा है उन्होंने, जैसा कि सुना गया है। यदि वे कुछ और समय लेतीं तो निश्चित ही कुछ और भी अधिक सुन्दर प्रस्तुत कर पातीं। प्रतिभा की कमी नहीं है उनके पास। कमी है केवल समय की और समय पर कलम उठाने के उत्स की।

मैं आशा करता हूँ, प्रस्तुत संस्करण से अनेक धर्मजिज्ञासुओं को परितृप्ति मिलेगी। उनके विचार और आचार-दोनों ही पक्ष प्रशस्त होंगे। तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर के पच्चीस सौवें निर्वाण महोत्सव की पुण्यस्मृति में उनकी ओर से प्रभु की ही दिव्य वाणी का यह सुन्दर मंगलमय उपहार सादर स्वीकृत है। धन्यवाद !

अध्ययन-अनुक्रमणिका

उत्तराध्ययन सूत्र

१

विनय-श्रुत

आर्य सुधर्मा का आर्य जम्बू को विनयश्रुत का प्रतिबोध !

मुक्ति का प्रथम चरण है—'विनय।'

पावाकी अन्तिम धर्मसभा में, आर्य सुधर्मा स्वामी ने भगवान् महावीर से, विनय के सम्बन्ध में जो सुना और जो समझा, उसे अपने प्रिय शिष्य जम्बू को समझाया है।

यद्यपि सम्पूर्ण विनय के प्रकरण में आर्य सुधर्मा ने विनय की परिभाषा नही दी है, किन्तु विनयी और अविनयी के व्यवहार और उनके परिणाम की विस्तार से चर्चा की है और उसके आधार पर विनय और अविनय की परिभाषा स्वतः स्पष्ट हो जाती है।

वस्तुतः विनय और अविनय अन्तरंग भाव-जगत् की सूक्ष्म अवस्थाएँ है। विनयी और अविनयी के व्यवहार की व्याख्या हो सकती है, किन्तु विनय और अविनय की शब्दों में व्याख्या असंभव है, फिर भी दोनों के व्यवहार और परिणाम को समझाकर विनय को प्रतिष्ठित किया जा सकता है। और व्यक्ति का बाह्य व्यवहार भी तो अन्ततः अन्तरंग भावों का प्रतिबिम्ब ही होता है। उस पर से अन्तरंग स्थिति को समझने के कुछ संकेत मिल सकते है। यही प्रयास इस प्रकरण में है।

प्रस्तुत विनयश्रुत अध्ययन में बताया गया है कि विनयी का चित्त अहंकारशून्य होता है--सरल, निर्दोष, विनम्र और अनाग्रही होता है। अतः वह परम ज्ञान की उपलब्धि में सक्षम होता है। इसके विपरीत अविनयी अहंकारी होता है, कठोर होता है, हिंसक होता है, विद्रोही होता है।

आक्रामक और विध्वंसात्मक होता है। इस अहंता एवं कठोरता के कारण अविनीत अपने जीवन का सही दिशा में निर्माण नही कर सकता है। उसकी शक्तियाँ बिखर जाती हैं। उसका व्यक्तित्व टूट जाता है, जीवन विकेन्द्रित हो जाता है। वह अपने जीवन में कुछ भी अच्छा नहीं कर सकता।

यहाँ एक बात समझ लेनी जरूरी है कि विनय से आर्य सुधर्मा का अभिप्राय दासता या दीनता नही है, गुरु की गुलामी नही है, स्वार्थ सिद्धि के लिए कोई दुरंगी चाल नहीं है, सामाजिक व्यवस्था-मात्र भी नही है। और न वह कोई आरोपित औपचारिकता ही है। अपितु गुणीजनों और गुरुजनों के महनीय एवं पवित्रगुणों के प्रति सहज प्रमोदभाव हैं। यह प्रमोद भाव ही विनय है, जो गुरु और शिष्य के मध्य एक सेतु का काम करता है, उसके माध्यम से गुरू, शिष्य को ज्ञान से लाभान्वित करते है।

वस्तुतः गुरु एक दक्ष शिल्पी की भाँति होता है। शिल्पी की ओर से पत्थर पर की गयी चोट पत्थर को तोड़ने के लिए नही होती है, अपितु उसमें छुपे सौन्दर्य को प्रगट करने के लिए होती है। इसी प्रकार गुरू का अनुशासन भी शिष्य की अन्तरात्मा के छुपे हुए आध्यात्मिक सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने के लिए होता है। अतः शिष्य का कर्तव्य है कि गुरु के मनोगत अभिप्राय को समझे, गुरु के साथ योग्य सद्व्यवहार रखे। गुरु के निर्माणकारी अनुशासन को सहर्ष स्वीकार करे। अपनी आचार संहिता का सम्यक् पालन करे और गुरु को हर स्थिति में संतुष्ट और प्रसन्न रखे।

यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि अगर शिष्य अपने व्यवहार से गुरु को आश्वस्त नहीं कर सकता है, गुरु की दृष्टि में यदि वह अप्रामाणिक, अनैतिक और दुराचारी है, तो गुरु शिष्य को जो देना चाहते हैं, वे ठीक तरह दे नहीं सकेंगे। उक्त स्थिति में शिष्य जो पाना चाहता है, वह नहीं पा सकेगा। इसलिए गुरु की मानसिक प्रसन्नता शिष्य के लिए ज्ञान-प्राप्ति की प्रथम शर्त है। गुरु के महत्व को ध्यान में रखकर शिष्य को गुरु के प्रति अपने को सर्वात्मना समर्पण करना चाहिए।

●

पढमं अज्झयणं : प्रथम अध्ययन
विणय-सुयं : विनय-श्रुत

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. संजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो । विणयं पाउकरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ॥	जो सांसारिक संयोगों, अर्थात् बन्धनों से मुक्त है, अनगार—गृहत्यागी है, भिक्षु है, उसके विनय धर्म का अनुक्रम से निरूपण करूँगा, उसे ध्यानपूर्वक मुझसे सुनो ।
२. आणानिद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए । इंगियागारसपन्ने, से 'विणीए' त्ति वुच्चई ॥	जो गुरु की आज्ञा का पालन करता है, गुरु के सान्निध्य मे रहता है, गुरु के इंगित एवं आकार—अर्थात् संकेत और मनोभावों को जानता है, वह 'विनीत' कहलाता है ।
३. आणाऽनिद्देसकरे, गुरूणमणुववायकारए । पडिणीए असंबुद्धे, 'अविणीए' त्ति वुच्चई ॥	जो गुरु की आज्ञा का पालन नहीं करता है, गुरु के सान्निध्य में नहीं रहता है, गुरु के प्रतिकूल आचरण करता है, असंबुद्ध है—तत्त्वज्ञ नहीं है, वह 'अविनीत' कहलाता है ।
४. जहा सुणी पूई-कण्णी, निक्कसिज्जइ सव्वसो । एवं दुस्सील-पडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई ॥	जिस प्रकार सड़े कान की कुतिया घृणा के साथ सभी स्थानों से निकाल दी जाती है, उसी प्रकार गुरु के प्रतिकूल आचरण करने वाला दुःशील वाचाल शिष्य भी सर्वत्र अपमानित करके निकाल दिया जाता है ।

५. कण-कुण्डगं चइत्ताणं,
विट्ठं भुंजइ सूयरे।
एवं सीलं चइत्ताणं,
दुस्सीले रमई मिए॥

जिस प्रकार सूअर चावलों की भूसी को छोड़कर विष्ठा खाता है, उसी प्रकार मृग—पशुबुद्धि अज्ञानी शिष्य शील-सदाचार छोड़कर दुःशील-दुराचार में रमण करता है।

६. सुणियाऽभावं साणस्स,
सूयरस्स नरस्स य।
विणए ठवेज्ज अप्पाणं,
इच्छन्तो हियमप्पणो॥

अपना हित चाहने वाला भिक्षु, सड़े कान वाली कुतिया और विष्ठाभोजी सूअर के समान, दुःशील से होने वाले मनुष्य के अभाव—अशोभन—हीनस्थिति को समझ कर विनय धर्म में अपने को स्थापित करे।

७. तम्हा विणयमेसेज्जा,
सीलं पडिलभे जओ।
बुद्ध-पुत्त नियागट्ठी,
न निक्कसिज्जइ कण्हुई॥

इसलिए विनय का आचरण करना चाहिए, जिससे कि शील की प्राप्ति हो। जो बुद्ध-पुत्र है—प्रबुद्ध गुरु का पुत्रवत् प्रिय मोक्षार्थी शिष्य है, वह कहीं से भी निकाला नहीं जाता।

८. निसन्ते सियाऽमुहरी,
बुद्धाणं अन्तिए सया।
अट्ठजुत्ताणि सिक्खेज्जा,
निरट्ठाणि उ वज्जए॥

शिष्य बुद्ध-गुरुजनों के निकट सदैव प्रशान्त भाव से रहे, वाचाल न बने। अर्थपूर्ण पदों को सीखे। निरर्थक बातों को छोड़ दे।

९. अणुसासिओ न कुप्पेज्जा,
खंतिं सेवेज्ज पण्डिए।
खुड्डेहिं सह संसग्गिं,
हासं कीडं च वज्जए॥

गुरु के द्वारा अनुशासित होने पर समझदार शिष्य क्रोध न करे, क्षमा की आराधना करे—शांत रहे। क्षुद्र व्यक्तियों के सम्पर्क से दूर रहे, उनके साथ हंसी मजाक और अन्य कोई क्रीड़ा भी न करे।

१०. मा य चण्डालियं कासी,
बहुयं मा य आलवे।
कालेण य अहिज्जित्ता,
तओ झाएज्ज एगगो॥

शिष्य आवेश में आकर कोई चाण्डालिक-आवेशमूलक अपकर्म न करे, बकवास न करे। अध्ययन काल में अध्ययन करे और उसके बाद एकाकी ध्यान करे।

११. आहच्च चण्डालियं कट्टु,
न निण्हविज्ज कयाइ वि ।
कडं 'कडे' त्ति भासेज्जा,
अकडं 'नो कडे' त्ति य ॥

आवेश-वश यदि शिष्य कोई चाण्डालिक--गलत व्यवहार कर भी ले तो उसे कभी भी न छिपाए । किया हो तो 'किया' कहे, और न किया हो तो 'नहीं किया' कहे ।

१२. मा गलियस्से व कसं,
वयणमिच्छे पुणो पुणो ।
कसं व दट्ठुमाइण्णे,
पावगं परिवज्जए ॥

जैसे कि गलिताश्व---अडियल घोड़े को बार-बार चाबुक की जरूरत होती है, वैसे शिष्य गुरु के बार-बार आदेश-वचनों की अपेक्षा न करे । किन्तु जैसे आकीर्ण--उत्तम शिक्षित अश्व चाबुक को देखते ही उन्मार्ग को छोड देता है, वैसे ही योग्य शिष्य गुरु के संकेतमात्र से पापक कर्म-गलत आचरण को छोड दे ।

१३. अणासवा थूलवया कुसीला
मिउंपि चण्डं पकरेंति सीसा ।
चित्ताणुया लहु दक्खोववेया,
पसायए ते हु दुरासयं पि ॥

आज्ञा में न रहने वाले, बिना विचारे कुछ का कुछ बोलने वाले दुष्ट शिष्य, मृदु स्वभाव वाले गुरु को भी क्रुद्ध बना देते हैं । और गुरु के मनोनुकूल चलने वाले एवं पटुता से कार्य सम्पन्न करने वाले शिष्य शीघ्र ही कुपित होने वाले दुराश्रय गुरु को भी प्रसन्न कर लेते हैं ।

१४. नापुट्ठो वागरे किंचि,
पुट्ठो वा नालियं वए ।
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा,
धारेज्जा पियमप्पियं ॥

बिना पूछे कुछ भी न बोले, पूछने पर भी असत्य न कहे । यदि कभी क्रोध आ भी जाए तो उसे निष्फल करे---अर्थात् क्रोध को आगे न बढ़ा कर वहीं उसे शान्त कर दे । आचार्य की प्रिय और अप्रिय दोनों ही शिक्षाओं को धारण करे ।

१५. अप्पा चेव दमेयव्वो,
अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दन्तो सुही होइ,
अस्सिं लोए परत्थ य ॥

स्वयं पर ही विजय प्राप्त करना चाहिए। स्वयं पर विजय प्राप्त करना ही कठिन है। आत्म-विजेता ही इस लोक और परलोक में सुखी होता है।

१६. वरं मे अप्पा दन्तो,
संजमेण तवेण य ।
माहं परेहि दम्मन्तो,
बन्धणेहि वहेहि य ॥

शिष्य विचार करे–'अच्छा है कि मैं स्वयं ही संयम और तप के द्वारा स्वयं पर विजय प्राप्त करूं। बन्धन और बध के द्वारा दूसरों से मैं दमित–प्रताड़ित किया जाऊं, यह अच्छा नहीं है।'

१७. पडिणीयं च बुद्धाणं,
वाया अदुव कम्मुणा ।
आवी वा जइ वा रहस्से,
नेव कुज्जा कयाइ वि ॥

लोगों के समक्ष अथवा अकेले मे वाणी से अथवा कर्म से, कभी भी आचार्यो के प्रतिकूल आचरण नहीं करना चाहिए।

१८. न पक्खओ न पुरओ,
नेव किच्चाण पिट्ठओ ।
न जुंजे ऊरुणा ऊरुं,
सयणे नो पडिस्सुणे ॥

कृत्य—अर्थात् आचार्यो के बराबर न बैठे, आगे न बैठे, न पीठ के पीछे ही सटकर बैठे। गुरु के अति निकट जांघ से जांघ सटाकर शरीर का स्पर्श हो, ऐसे भी न बैठे। बिछौने पर बैठे-बैठे ही गुरु के कथित आदेश का स्वीकृतिरूप उत्तर न दे। अर्थात् आसन से उठकर पास आकर प्रति निवेदन करे।

१९. नेव पल्हत्थियं कुज्जा
पक्खपिण्डं व संजए ।
पाए पसारिए वावि
न चिट्ठे गुरुणन्तिए ॥

गुरु के समक्ष पलथी लगाकर न बैठे, दोनों हाथों से शरीर को बांधकर न बैठे तथा पैरों को फैलाकर भी न बैठे।

२०. आयरिएहिं वाहित्तो,
तुसिणीओ न कयाइ वि ।
पसाय-पेही नियागट्ठी,
उवचिट्ठे गुरुं सया ॥

गुरु के प्रसाद—कृपाभाव को चाहने वाला मोक्षार्थी शिष्य, आचार्यों के द्वारा बुलाये जाने पर किसी भी स्थिति में मौन न रहे, किन्तु निरन्तर उनकी सेवा में उपस्थित रहे ।

२१. आलवन्ते लवन्ते वा
न निसीएज्ज कयाइ वि ।
चइऊणमासणं धीरो
जओ जत्तं पडिस्सुणे ॥

गुरू के द्वारा एक बार अथवा अनेक बार बुलाए जाने पर बुद्धिमान् शिष्य कभी बैठा न रहे, किन्तु आसन छोड़कर उनके आदेश को यत्नपूर्वक—सावधानता से स्वीकार करे ।

२२. आसण-गओ न पुच्छेज्जा
नेव सेज्जा-गओ कया ।
आगम्मुक्कुडुओ सन्तो
पुच्छेज्जा पंजलीउडो ॥

आसन अथवा शय्या पर बैठा-बैठा कभी भी गुरू से कोई बात न पूछे, किन्तु उनके समीप आकर, उकडू आसन से बैठकर और हाथ जोड़कर जो भी पूछना हो, पूछे ।

२३. एवं विणय-जुत्तस्स
सुत्तं अत्थं च तदुभयं ।
पुच्छमाणस्स सीसस्स
वागरेज्ज जहासुयं ॥

विनयी शिष्य के द्वारा इस प्रकार विनीत स्वभाव से पूछने पर गुरु सूत्र, अर्थ और तदुभय—दोनों का यथाश्रुत (जैसा सुना और जाना हो, वैसे) निरूपण करे ।

२४. मुसं परिहरे भिक्खू
न य ओहारिणिं वए ।
भासा-दोसं परिहरे
मायं च वज्जए सया ॥

भिक्षु असत्य का परिहार करे, निश्चयात्मक भाषा न बोले । भाषा के अन्य परिहास एवं संशय आदि दोषों को भी छोड़े । माया (कपट) का सदा परित्याग करे ।

२५. न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं
न निरट्ठं न मम्मयं ।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा
उभयस्सन्तरेण वा ॥

किसी के पूछने पर भी अपने लिए, दूसरों के लिए अथवा दोनों के लिए सावद्य (पापकारी) भाषा न बोले, निरर्थक न बोले, मर्म-भेदक वचन भी न कहे ।

२६. समरेसु अगारेसु
सन्धीसु य महापहे ।
एगो एगित्थिए सद्धिं
नेव चिट्ठे न संलवे ॥

लुहार की शाला में, घरों में, घरों की बीच की संधियों में और राजमार्ग में अकेला मुनि अकेली स्त्री के साथ खड़ा न रहे, न बात करे ।

२७. जं मे बुद्धाणुसासन्ति
सीएण फरुसेण वा ।
'मम लाभो' त्ति पेहाए
पयओ तं पडिस्सुणे ॥

'प्रिय अथवा कठोर शब्दों से आचार्य मुझ पर जो अनुशासन करते हैं, वह मेरे लाभ के लिए है'—ऐसा विचार कर प्रयत्नपूर्वक उनका अनुशासन स्वीकार करे ।

२८. अणुसासणमोवायं
दुक्कडस्स य चोयणं ।
हियं तं मन्नए पण्णो
वेसं होइ असाहुणो ॥

आचार्य का प्रसंगोचित कोमल या कठोर अनुशासन दुष्कृत का निवारक होता है । उस अनुशासन को बुद्धिमान शिष्य हितकर मानता है । असाधु-अयोग्य के लिए वही अनुशासन द्वेष का कारण बन जाता है ।

२९. हियं विगय-भया बुद्धा
फरुसं पि अणुसासणं ।
वेसं तं होइ मूढाणं
खन्ति-सोहिकरं पयं ॥

भय से मुक्त, मेधावी प्रबुद्ध शिष्य गुरु के कठोर अनुशासन को भी हितकर मानते हैं । किन्तु वही क्षमा एवं चित्त-विशुद्धि करने वाला गुरु का अनुशासन मूर्खों के लिए द्वेष का निमित्त होजाता है ।

३०. आसणे उवचिट्ठेज्जा
अणुच्चे अकुए थिरे ।
अप्पुट्ठाई निरुट्ठाई
निसीएज्जऽप्पकुक्कुए ॥

शिष्य ऐसे आसन पर बैठे, जो गुरु के आसन से नीचा हो, जिस से कोई आवाज न निकलती हो, जो स्थिर हो । आसन से बार-बार न उठे । प्रयोजन होने पर भी कम ही उठे, स्थिर एवं शान्त होकर बैठे—इधर-उधर चपलता न करे ।

३१. कालेण निक्खमे भिक्खू
कालेण य पडिक्कमे ।
अकालं च विवज्जित्ता
काले कालं समायरे ॥

भिक्षु समय पर भिक्षा के लिए निकले और समय पर लौट आए। असमय में कोई कार्य न करे। जो कार्य जिस समय करने का हो, उस को उसी समय पर करे।

३२. परिवाडीए न चिट्ठेज्जा
भिक्खू दत्तेसणं चरे ।
पडिरूवेण एसित्ता
मियं कालेण भक्खए ॥

भिक्षा के लिए गया हुआ भिक्षु, खाने के लिए उपविष्ट लोगों की पंक्ति में न खड़ा रहे। मुनि की मर्यादा के अनुरूप एषणा करके गृहस्थ के द्वारा दिया हुआ आहार स्वीकार करे और शास्त्रोक्त काल में आवश्यकतापूर्तिमात्र परिमित भोजन करे।

३३. नाइदूरमणासन्ने
नन्नेसिं चक्खु-फासओ ।
एगो चिट्ठेज्ज भत्तट्ठा ।
लंघिया तं नइक्कमे ॥

यदि पहले से ही अन्य भिक्षु गृहस्थ के द्वार पर खड़े हों तो उनसे अतिदूर या अतिसमीप खड़ा न रहे और न देने वाले गृहस्थो की दृष्टि के सामने ही रहे, किन्तु एकान्त मे अकेला खडा रहे। उपस्थित भिक्षुओं को लांघ कर घर में भोजन लेने को न जाए।

३४. नाइउच्चे व नीए वा
नासन्ने नाइदूरओ ।
फासुयं परकडं पिण्डं
पडिगाहेज्ज संजए ॥

संयमी मुनि प्रासुक—अचित्त और परकृत—गृहस्थ के लिए बनाया गया आहार ले, किन्तु बहुत ऊँचे या बहुत नीचे स्थान से लाया हुआ तथा अति समीप या अति दूर से दिया जाता हुआ आहार न ले।

३५. अप्पपाणेऽप्पबीयंमि
पडिच्छन्नंमि संवुडे ।
समयं संजए भुंजे
जयं अपरिसाडियं ॥

संयमी मुनि प्राणी और बीजों से रहित, ऊपर से ढके हुए और दीवार आदि से संवृत मकान में, अपने सहधर्मी साधुओं के साथ भूमि पर न गिराता हुआ विवेकपूर्वक आहार करे।

३६. सुकडे त्ति सुपक्के त्ति
सुच्छिन्ने सुहडे मडे।
सुणिट्ठिए सुलट्ठे त्ति
सावज्जं वज्जए मुणी ॥

आहार करते समय मुनि, भोज्य पदार्थों के सम्बन्ध मे—अच्छा किया (बना) है, अच्छा पकाया है, अच्छा काटा है, अच्छा हुआ जो इस करेले आदि का कड़वापन मिट गया है, अच्छा प्रासुक हो गया है, अथवा सूप आदि में घृतादि अच्छा भरा है—रम गया है, इसमे अच्छा रस उत्पन्न हो गया है, यह बहुत ही सुन्दर है—इस प्रकार के सावद्य—पापयुक्त वचनों का प्रयोग न करे।

३७. रमए पण्डिए सासं
हयं भद्दं व वाहए।
बालं सम्मइ सासन्तो
गलियस्सं व वाहए ॥

मेधावी शिष्य को शिक्षा देते हुए आचार्य वैसे ही प्रसन्न होते हैं, जैसे कि वाहक (अश्वशिक्षक) अच्छे घोड़े को हाँकता हुआ प्रसन्न रहता है। अबोध शिष्य को शिक्षा देते हुए गुरु वैसे ही खिन्न होता है, जैसे कि दुष्ट घोड़े को हाकता हुआ उसका वाहक !

३८. 'खड्डुया मे चवेडा मे
अक्कोसा य वहा य मे।'
कल्लाणमणुसासन्तो
पावदिट्ठि त्ति मन्नई ॥

गुरु के कल्याणकारी अनुशासन को पापदृष्टि वाला शिष्य ठोकर और चांटा मारने, गाली देने और प्रहार करने के समान कष्टकारक समझता है।

३९. 'पुत्तो मे भाय नाइ' त्ति
साहू कल्लाण मन्नई।
पावदिट्ठी उ अप्पाणं
सासं 'दासं व' मन्नई ॥

'गुरु मुझे पुत्र, भाई और स्वजन की तरह आत्मीय समझकर शिक्षा देते हैं'—ऐसा सोचकर विनीत शिष्य उनके अनुशासन को कल्याणकारी मानता है। परन्तु पापदृष्टि वाला कुशिष्य हितानुशासन से शासित होने पर अपने को दास के समान हीन समझता है।

४० न कोवए आयरियं
अप्पाणं पि न कोवए।
बुद्धोवघाई न सिया
न सिया तोत्तगवेसए॥

शिष्य को चाहिए कि वह न तो आचार्य को कुपित करे और न उनके कठोर अनुशासनादि से स्वयं ही कुपित हो। आचार्य का उपघात करने वाला न हो। और न गुरु को खरी-खोटी सुनाने के फिराक में उनका छिद्रान्वेषी हो।

४१. आयरियं कुवियं नच्चा
पत्तिएण पसायए।
विज्झवेज्ज पंजलिउडो
वएज्ज 'न पुणो' त्ति य॥

अपने किसी अभद्र व्यवहार से आचार्य को अप्रसन्न हुआ जाने तो विनीत शिष्य प्रीतिवचनों से उन्हें प्रसन्न करे। हाथ जोड़ कर उन्हें शान्त करे और कहे कि "मैं फिर कभी ऐसा नहीं करूँगा।"

४२. धम्मज्जियं च ववहारं
बुद्धेहायरियं सया।
तमायरन्तो ववहारं
गरहं नाभिगच्छई॥

जो व्यवहार धर्म से अर्जित है, और प्रबुद्ध आचार्यों के द्वारा आचरित है, उस व्यवहार को आचरण मे लाने वाला मुनि कभी निन्दित नहीं होता है।

४३. मणोगयं वक्कगयं
जाणित्ताऽऽयरियस्स उ।
तं परिगिज्झ वायाए
कम्मुणा उववायए॥

शिष्य आचार्य के मनोगत और वाणीगत भावों को जान कर उन्हें सर्व-प्रथम वाणी से ग्रहण (स्वीकार) करे और फिर कार्य रूप मे परिणत करे।

४४. वित्ते अचोइए निच्चं
खिप्पं हवइ सुचोइए।
जहोवइट्ठं सुकयं
किच्चाइं कुव्वई सया॥

विनयी रूप से प्रसिद्ध शिष्य गुरु के द्वारा प्रेरित न किए जाने पर भी कार्य करने के लिए सदा प्रस्तुत रहता है। प्रेरणा होने पर तो तत्काल यथोपदिष्ट कार्य अच्छी तरह सम्पन्न करता है।

४५. नच्चा नमइ मेहावी
लोए कित्ती से जायए।
हवई किच्चाणं सरणं
भूयाणं जगई जहा ।।

विनय के स्वरूप को जानकर जो मेधावी शिष्य विनम्र हो जाता है, उसकी लोक में कीर्ति होती है। प्राणियों के लिए पृथ्वी जिस प्रकार आधार होती है, उसी प्रकार योग्य शिष्य समय पर धर्माचरण करने वालों का आधार बनता है।

४६. पुज्जा जस्स पसीयन्ति
संबुद्धा पुव्वसंथुया।
पसन्ना लाभइस्सन्ति
विउलं अट्ठियं सुयं ।।

शिक्षण काल से पूर्व ही शिष्य के विनय-भाव से परिचित, संबुद्ध, पूज्य आचार्य उस पर प्रसन्न रहते हैं। प्रसन्न होकर वे उसे अर्थगंभीर विपुल श्रुत ज्ञान का लाभ करवाते हैं।

४७. स पुज्जसत्थे सुविणीयसंसए
मणोरुई चिट्ठइ कम्म-संपया।
तवोसमायारिसमाहिसंवुडे
महज्जुई पंच वयाइं पालिया।

वह शिष्य पूज्यशास्त्र होता है—अर्थात् उसका शास्त्रीय ज्ञान जनता में सम्मानित होता है। उसके सारे संशय मिट जाते हैं। वह गुरु के मन को प्रिय होता है। वह कर्मसम्पदा से अर्थात् साधु-समाचारी से युक्त होता है। वह तप समाचारी और समाधि से सम्पन्न होता है। पांच महाव्रतों का पालन करके वह महान् तेजस्वी होता है।

४८. स देव-गन्धव्व-मणुस्सपूइए
चइत्तु देहं मलपंकपुव्वयं।
सिद्धे वा हवइ सासए
देवे वा अप्परए महिड्ढिए ।।

वह देव, गन्धर्व और मनुष्यों से पूजित विनयी शिष्य मल पंक से निर्मित इस देह को त्याग कर शाश्वत सिद्ध होता है अथवा अल्प कर्म वाला महान् ऋद्धि-सम्पन्न देव होता है।

—त्ति बेमि।

—ऐसा मैं कहता हूं!

२

परीषह-प्रविभक्ति

साधक परीषह आने पर परीषहों से घबराए नहीं।

परीषह एक कसौटी है।

बीज को अंकुरित होने में जल के साथ धूप की भी आवश्यकता होती है। क्या इसी प्रकार जीवन-निर्माण के लिए अनुकूलता की शीतलता के साथ, परीषह की प्रतिकूलता रूप गरमी की आवश्यकता नहीं है? वस्तुतः प्रकृति दोनों के पूर्ण सहयोग में ही प्रकट होती है।

इसी बात को आर्य सुधर्मा स्वामी समझाते हैं कि निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए संयम के मार्ग पर चलने वाले साधक के जीवन में परीषह आते हैं, किन्तु सच्चे साधक के लिए वे बाधक नहीं, उपकारक ही होते है। अतः साधक परीषह के आने पर घबराता नहीं, उद्विग्न नहीं होता, अपितु उन्हें शान्त भाव से सहन करता है। वस्तुस्थिति का द्रष्टा होकर वह उन्हें मात्र जानता है, उनसे परिचित होता है। किन्तु उनके दबाव में स्वीकृत प्रतिज्ञा के विरुद्ध आचरण नही करता, आत्म जागृति के पथ पर बढ़ते हुए बीच में आने वाली विघ्न-बाधाओं में भी संयम की सुरक्षा का सतत ध्यान रखता है।

परीषह के इस प्रकरण में एक और बात ध्यान में रखना जरूरी है कि परीषह का अर्थ शरीर या मन को कष्ट देना नहीं है, और न आये हुए कष्टों को मजबूरी से सहन करना है। परीषह का अर्थ है—प्रत्येक प्रतिकूल परिस्थिति को, साधना में सहायक होने के क्षणों तक, प्रसन्नता पूर्वक

स्वीकृति देना। उससे न इधर उधर भागना है, न बचने का कोई गलत मार्ग खोजना है, न उनका मर्यादाहीन प्रतिकार करना है।

परीषह आने पर साधक सोचता है कि यह एक अवसर है स्वयं को नापने और परखने का। अतः वह घबराता नहीं है! वरन् मन की आदतों और सुविधाओं की प्रतिबद्धताओं को तोड़कर स्वतन्त्र, निर्भय एवं निर्द्वन्द्व खड़ा हो जाता है।

वह वातावरण का खिलौना नहीं बनता, अपितु बाहर में होने वाले इन खेलों का वह ज्ञाता द्रष्टा बनता है। उसका यह ज्ञान ही आन्तरिक अनाकुलता एवं सुख का कारण बनता है। अतः परीषह दुःख नहीं हैं, कष्ट नही हैं। और न मजबूरी से सहन की गई कोई दुःस्थिति ही हैं।

●

बीयं अज्झयणं : द्वितीय अध्ययन

परीसह-पविभत्ती : परीषह-प्रविभक्ति

मूल

सूत्र १—सुयं मे, आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—

इह खलु बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, जे भिक्खू सोच्चा, नच्चा, जिच्चा, अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयन्तो पुट्ठो नो विहन्नेज्जा।

सूत्र २—कयरे खलु ते बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, जे भिक्खू सोच्चा, नच्चा, जिच्चा, अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयन्तो पुट्ठो नो विहन्नेज्जा।

हिन्दी अनुवाद

आयुष्मन् ! मैंने सुना है, भगवान् ने इस प्रकार कहा है—

श्रमण जीवन मे बाईस परीषह होते है, जो कश्यप गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा प्रवेदित है, जिन्हें सुनकर, जानकर, अभ्यास के द्वारा परिचित कर, पराजित कर, भिक्षाचर्या के लिए पर्यटन करता हुआ मुनि, परीषहो से स्पृष्ट—आक्रान्त होने पर विचलित नही होता।

वे बाईस परीषह कौन से हैं, जो कश्यप गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा प्रवेदित हैं? जिन्हें सुनकर, जानकर, अभ्यास के द्वारा परिचित कर, पराजित कर, भिक्षा-चर्या के लिए पर्यटन करता हुआ मुनि, उनसे स्पृष्ट—आक्रान्त होने पर विचलित नहीं होता।

सूत्र ३—इमे खलु ते बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, जे भिक्खू सोच्चा, नच्चा, जिच्चा, अभिभूय, भिक्खायरियाए परिव्वयन्तो पुट्ठो नो विहन्नेज्जा, तं जहा—

वे बाईस परीषह ये हैं, जो कश्यप-गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा प्रवेदित हैं, जिन्हे सुनकर, जानकर, अभ्यास के द्वारा परिचित कर, पराजित कर भिक्षाचर्या के लिए पर्यटन करता हुआ मुनि, उनसे स्पृष्ट—आक्रान्त होने पर विचलित नहीं होता। वे इस प्रकार हैं :

१ दिगिंछा-परीसहे	१ क्षुधा परीषह
२ पिवासा-परीसहे	२ पिपासा परीषह
३ सीय-परीसहे	३ शीत परीषह
४ उसिण-परीसहे	४ उष्ण परीषह
५ दंस-मसय-परीसहे	५ दंश-मशक परीषह
६ अचेल-परीसहे	६ अचेल परीषह
७ अरइ-परीसहे	७ अरति परीषह
८ इत्थी-परीसहे	८ स्त्री परीषह
९ चरिया-परीसहे	९ चर्या परीषह
१० निसीहिया-परीसहे	१० निषद्या परीषह
११ सेज्जा-परीसहे	११ शय्या परीषह
१२ अक्कोस-परीसहे	१२ आक्रोश परीषह
१३ वह-परीसहे	१३ वध परीषह
१४ जायणा-परीसहे	१४ याचना-परीषह
१५ अलाभ-परीसहे	१५ अलाभ परीषह
१६ रोग-परीसहे	१६ रोग परीषह
१७ तण-फास-परीसहे	१७ तृण-स्पर्श-परीषह
१८ जल्ल-परीसहे	१८ जल्ल परीषह
१९ सक्कार-पुरक्कार-परीसहे	१९ सत्कार-पुरस्कार-परीषह
२० पन्ना-परीसहे	२० प्रज्ञा परीषह
२१ अन्नाण-परीसहे	२१ अज्ञान परीषह
२२ दंसण-परीसहे	२२ दर्शन परीसह

१. परीसहाणं पविभत्ती
कासवेणं पवेइया ।
तं मे उदाहरिस्सामि
आणुपुव्विं सुणेह मे ॥

काश्यप-गोत्रीय भगवान् महावीर ने परीषहों के जो भेद (प्रविभक्ति) बताए हैं, उन्हें मैं तुम्हे कहता हूँ। मुझसे तुम अनुक्रम से सुनो।

१—क्षुधा-परीषह

२. दिगिंछा-परिगए देहे
तवस्सी भिक्खु थामवं ।
न छिन्दे, न छिन्दावए
न पए, न पयावए ॥

बहुत भूख लगने पर भी मनोबल से युक्त तपस्वी भिक्षु फल आदि का न स्वयं छेदन करे, न दूसरों से छेदन कराए, उन्हे न स्वयं पकाए और न दूसरों से पकवाए।

३. काली-पव्वग-संकासे
किसे धमणि-संतए ।
मायन्ने असण-पाणस्स
अदीण-मणसो चरे ॥

लंबी भूख के कारण काकजंघा (तृण-विशेष) के समान शरीर दुर्बल हो जाए, कृश हो जाए, धमनियाँ स्पष्ट नजर आने लगें, तो भी अशन एवं पानरूप आहार की मात्रा को जानने वाला भिक्षु अदीनभाव से विचरण करे।

२—पिपासा-परीषह

४. तओ पुट्ठो पिवासाए
दोगुंछी लज्ज-संजए ।
सीओदगं न सेविज्जा
वियडस्सेसणं चरे ॥

असंयम से अरुचि रखने वाला, लज्जावान् संयमी भिक्षु प्यास से पीड़ित होने पर भी शीतोदक—सचित्त जल का सेवन न करे, किन्तु अचित्त जल की खोज करे।

५. छिन्नावाएसु पन्थेसु
आउरे सुपिवासिए ।
परिसुक्क-मुहेऽदीणे
तं तितिक्खे परीसहं ॥

यातायात से शून्य एकांत निर्जन मार्गों में भी तीव्र प्यास से आतुर—व्याकुल होने पर, यहाँ तक कि मुँह के सूख जाने पर भी मुनि अदीनभाव से प्यास के कष्ट को सहन करे।

३—शीत-परीषह

६. चरन्तं विरयं लूहं
सीयं फुसइ एगया।
नाइवेलं मुणी गच्छे
सोच्चाणं जिणसासणं॥

विरक्त और अनासक्त (अथवा स्निग्ध भोजनादि के अभाव से रूक्ष-शरीर) होकर विचरण करते हुए मुनि को शीतकाल में शीत का कष्ट होता ही है, फिर भी आत्मजयी जिन-शासन (वीतराग भगवान की शिक्षाओं) को समझकर अपनी यथोचित मर्यादाओं का या स्वाध्यायादि के प्राप्त काल का उल्लंघन न करे।

७. 'न मे निवारणं अत्थि
छवित्ताणं न विज्जई।
अहं तु अग्गिं सेवामि'—
इइ भिक्खू न चिन्तए॥

शीत लगने पर मुनि ऐसा न सोचे कि "मेरे पास शीत-निवारण के योग्य मकान आदि का कोई अच्छा साधन नहीं है। शरीर को ठण्ड से बचाने के लिए छवित्राण—कम्बल आदि वस्त्र भी नही हैं, तो मैं क्यों न अग्नि का सेवन करलूँ।"

४—उष्ण-परीषह

८. उसिण-परियावेणं
परिदाहेण तज्जिए।
घिंसु वा परियावेणं
सायं नो परिदेवए॥

गरम भूमि, शिला एवं लू आदि के परिताप से, प्यास की दाह से, ग्रीष्म-कालीन सूर्य के परिताप से अत्यन्त पीड़ित होने पर भी मुनि सात (ठंडक आदि के सुख) के लिए परिदेवना—आकुलता न करे।

९. उण्हाहितत्ते मेहावी
सिणाणं नो वि पत्थए।
गायं नो परिसिंचेज्जा
न वीएज्जा य अप्पयं॥

गरमी से परेशान होने पर भी मेधावी मुनि स्नान की इच्छा न करे। जल से शरीर को सिंचित—गीला न करे, पंखे आदि से हवा न करे।

५—दंश-मशक-परीषह

१०. पुट्ठो य दंस-मसएहिं
समरेव महामुणी।
नागो संगाम-सीसे वा
सूरो अभिहणे परं॥

महामुनि डांस तथा मच्छरों का उपद्रव होने पर भी समभाव रखे। जैसे युद्ध के मोर्चे पर हाथी बाणों की कुछ भी परवाह न करता हुआ शत्रुओं का हनन करता है, वैसे ही मुनि भी परीषहों की कुछ भी परवाह न करते हुए राग-द्वेष रूपी अन्तरंग शत्रुओं का हनन करे।

११. न संतसे न वारेज्जा
मणं पि न पओसए।
उवेहे न हणे पाणे
भुंजन्ते मंस-सोणियं॥

दंशमशक परीषह का विजेता साधक दंश-मशकों से संत्रस्त (उद्विग्न) न हो, उन्हें हटाए नहीं। यहाँ तक कि उनके प्रति मन में भी द्वेष न लाए। मांस काटने तथा रक्त पीने पर भी उपेक्षा भाव रखे, उनको मारे नहीं।

६—अचेल-परीषह

१२. 'परिजुण्णेहिं वत्थेहिं
होक्खामि त्ति अचेलए।
अदुवा 'सचेलए होक्खं'
इइ भिक्खू न चिन्तए॥

"वस्त्रों के अति जीर्ण हो जाने से अब मैं अचेलक (नग्न) हो जाऊंगा। अथवा नए वस्त्र मिलने पर मैं फिर सचेलक हो जाऊंगा"—मुनि ऐसा न सोचे।

१३. 'एगयाऽचेलए होइ
सचेले यावि एगया।'
एयं धम्महियं नच्चा
नाणी नो परिदेवए॥

"विभिन्न एवं विशिष्ट परिस्थितियों के कारण मुनि कभी अचेलक होता है, कभी सचेलक भी होता है। दोनों ही स्थितियां यथाप्रसंग संयम धर्म के लिए हितकारी हैं"—ऐसा समझकर मुनि खेद न करे।

७—अरति-परीषह

१४. गामाणुगामं रीयन्तं
अणगारं अकिंचणं।
अरई अणुप्पविसे
तं तितिक्खे परीसहं॥

एक गांव से दूसरे गांव विचरण करते हुए अकिंचन (निर्ग्रन्थ) अनगार के मन में यदि कभी संयम के प्रति अरति—अरुचि, उत्पन्न हो जाए तो उस परीषह को सहन करे।

१५. अरइं पिट्ठओ किच्चा
विरए आय-रक्खिए।
धम्मारामे निरारम्भे
उवसन्ते मुणी चरे॥

विषयासक्ति से विरक्त रहने वाला, आत्मभाव की रक्षा करने वाला, धर्म में रमण करने वाला, आरम्भ-प्रवृत्ति से दूर रहने वाला निरारम्भ मुनि अरति का परित्याग कर उपशान्त भाव से विचरण करे।

८—स्त्री-परीषह

१६. 'संगो एस मणुस्साणं
जाओ लोगंमि इत्थिओ।'
जस्स एया परिन्नाया
सुकडं तस्स सामण्णं॥

'लोक में जो स्त्रियाँ हैं, वे पुरुषों के लिए बंधन हैं'—ऐसा जो जानता है, उसका श्रामण्य–साधुत्व सुकृत अर्थात् सफल होता है।

१७. एवमादाय मेहावी
'पंकभूया उ इत्थिओ'।
नो ताहिं विणिहन्नेज्जा
चरेज्जऽत्तगवेसए॥

'ब्रह्मचारी के लिए स्त्रियां पंक—दल दल के समान हैं'—मेधावी मुनि इस बात को समझकर किसी भी तरह संयमी जीवन का विनिघात न होने दे, किन्तु आत्मस्वरूप की खोज करता हुआ विचरण करे।

९—चर्या-परीषह

८. एग एव चरे लाढे
अभिभूय परीसहे।
गामे वा नगरे वावि
निगमे वा रायहाणिए॥

शुद्ध चर्या से लाढ अर्थात् प्रशंसित मुनि एकाकी ही परीषहों को पराजित कर गांव, नगर, निगम (व्यापार की मंडी) अथवा राजधानी में विचरण करे।

१९. असमाणो चरे भिक्खू
नेव कुज्जा परिग्गहं ।
असंसत्तो गिहत्थेहिं
अणिएओ परिव्वए ॥

भिक्षु गृहस्थादि से असमान अर्थात् विलक्षण—असाधारण होकर विहार करे, परिग्रह संचित न करे, गृहस्थों में असंसक्त—निर्लिप्त रहे। सर्वत्र अनिकेत भाव से अर्थात् गृहबन्धन से मुक्त होकर परिभ्रमण करे।

१०—निषद्या-परीषह

२०. सुसाणे सुन्नगारे वा
रुक्ख-मूले व एगओ ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा
न य वित्तासए परं ॥

श्मशान में, सूने घर में और वृक्ष के मूल में एकाकी मुनि अचपल भाव से बैठे। आसपास के अन्य किसी प्राणी को कष्ट न दे।

२१. तत्थ से चिट्ठमाणस्स
उवसग्गाभिधारए ।
संका-भीओ न गच्छेज्जा
उट्ठित्ता अन्नमासणं ॥

उक्त स्थानों में बैठे हुए यदि कभी कोई उपसर्ग आजाए तो उसे समभाव से धारण करे कि इससे मेरे अजर-अमर आत्मा की कुछ भी क्षति नहीं होने वाली है। अनिष्ट की शंका से भयभीत होकर वहाँ से उठकर अन्य स्थान पर न जाए।

११—शय्या-परीषह

२२. उच्चावयाहिं सेज्जाहिं
तवस्सी भिक्खु थामवं ।
नाइवेलं विहन्नेज्जा
पावदिट्ठी विहन्नई ॥

ऊँची-नीची अर्थात् अच्छी या बुरी शय्या (उपाश्रय) के कारण तपस्वी एवं सक्षम भिक्षु संयम-मर्यादा का भंग न करे, अर्थात् हर्ष शोक न करे। पाप दृष्टिवाला साधु ही हर्ष शोक से अभिभूत होकर मर्यादा को तोड़ता है।

२३. पइरिक्कुवस्सयं लद्धुं
कल्लाणं अदु पावगं ।
'किमेगरायं करिस्सइ'
एवं तत्थऽहियासए ॥

प्रतिरिक्त (स्त्री आदि की बाधा से रहित) एकान्त उपाश्रय पाकर, भले ही वह अच्छा हो या बुरा, उसमें मुनि को समभाव से यह सोच कर रहना चाहिए कि यह एक रात क्या करेगी? अर्थात् इतने से में क्या बनता-बिगड़ता है?

१२—आक्रोश-परीषह

२४. अक्कोसेज्ज परो भिक्खुं
न तेसिं पडिसंजले ।
सरिसो होइ बालाणं
तम्हा भिक्खू न संजले ॥

यदि कोई भिक्षु को गाली दे, तो वह उसके प्रति क्रोध न करे। क्रोध करने वाला अज्ञानियों के सदृश होता है। अतः भिक्षु आक्रोश-काल मे संज्वलित न हो, उबाल न खाए।

२५. सोच्चाणं फरुसा भासा
दारुणा गाम-कण्टगा ।
तुसिणीओ उवेहेज्जा
न ताओ मणसीकरे ॥

दारुण (असह्य), ग्रामकण्टक—कांटे की तरह चुभने वाली कठोर भाषा को सुन कर भिक्षु मौन रहे, उपेक्षा करे, उसे मन मे भी न लाए।

१३—वध-परीषह

२६. हओ न संजले भिक्खू
मणं पि न पओसए ।
तितिक्खं परमं नच्चा
भिक्खु-धम्मं विचिंतए ॥

मारे-पीटे जाने पर भी भिक्षु क्रोध न करे। और तो क्या, दुर्भावना से मन को भी दूषित न करे। तितिक्षा—क्षमा को साधना का श्रेष्ठ अंग जानकर मुनिधर्म का चिन्तन करे।

२७. समणं संजयं दन्तं
हणेज्जा कोई कत्थई ।
'नत्थि जीवस्स नासु' त्ति
एवं पेहेज्ज संजए ॥

संयत और दान्त—इन्द्रियजयी श्रमण को यदि कोई कहीं मारे-पीटे तो उसे यह चिन्तन करना चाहिए कि आत्मा का नाश नहीं होता है।

१४—याचना-परीषह

२८. दुक्करं खलु भो निच्चं
अणगारस्स भिक्खुणो ।
सव्वं से जाइयं होइ
नत्थि किंचि अजाइयं ॥

वास्तव में अनगार भिक्षु की यह चर्या सदा से ही दुष्कर रही है कि उसे वस्त्र, पात्र, आहारादि सब कुछ याचना से मिलता है। उसके पास कुछ भी अयाचित नहीं होता है।

२९. गोयरग्गपविट्ठस्स
पाणी नो सुप्पसारए ।
'सेओ अगार-वासु' त्ति
इइ भिक्खू न चिन्तए ॥

गोचरी के लिए घर में प्रविष्ट साधु के लिए गृहस्थ के सामने हाथ फैलाना सरल नहीं है, अतः 'गृहवास ही श्रेष्ठ है'—मुनि ऐसा चिन्तन न करे।

१५—अलाभ परीषह

३०. परेसु घासमेसेज्जा
भोयणे परिणिट्ठिए ।
लद्धे पिण्डे अलद्धे वा
नाणुतप्पेज्ज संजए ॥
३१. 'अज्जेवाहं न लब्भामि
अवि लाभो सुए सिया ।'
जो एवं पडिसंचिक्खे
अलाभो तं न तज्जए ॥

गृहस्थों के घरों में भोजन तैयार हो जाने पर आहार की एषणा करे। आहार थोड़ा मिले, या कभी न भी मिले, पर संयमी मुनि इसके लिए अनुताप न करे।

'आज मुझे कुछ नहीं मिला, संभव है, कल मिल जाय'—जो इस प्रकार सोचता है, उसे अलाभ कष्ट नहीं देता।

१६—रोग-परीषह

३२. नच्चा उप्पइयं दुक्खं
वेयणाए दुहट्टिए ।
अदीणो थावए पन्नं
पुट्ठो तत्थऽहियासए ॥

'कर्मों के उदय से रोग उत्पन्न होता है'—ऐसा जानकर वेदना से पीड़ित होने पर दीन न बने। व्याधि से विचलित प्रज्ञा को स्थिर बनाए और प्राप्त पीड़ा को समभाव से सहन करे।

३३. तेगिच्छं नाभिनन्देज्जा
संचिक्खऽत्तगवेसए ।
एवं खु तस्स सामण्णं
जं न कुज्जा, न कारवे ॥

आत्मगवेषक मुनि चिकित्सा का अभिनन्दन न करे, समाधिपूर्वक रहे। यही उसका श्रामण्य है कि वह रोग उत्पन्न होने पर चिकित्सा न करे, न कराए।

१७—तृण-स्पर्श-परीषह

३४. अचेलगस्स लूहस्स
संजयस्स तवस्सिणो ।
तणेसु सयमाणस्स
हुज्जा गाय-विराहणा ॥

अचेलक और रूक्षशरीरी संयत तपस्वी साधु को घास पर सोने से शरीर को कष्ट होता है।

३५. आयवस्स निवाएणं
अउला हवइ वेयणा ।
एवं नच्चा न सेवन्ति
तन्तुजं तण-तज्जिया ॥

गर्मी पड़ने से घास पर सोते समय बहुत वेदना होती है, यह जान करके तृण-स्पर्श से पीड़ित मुनि वस्त्र धारण नहीं करते हैं।

१८—मल-परीषह

३६. किलिन्नगाए मेहावी
पंकेण व रएण वा ।
घिंसु वा परितावेण
सायं नो परिदेवए ॥

ग्रीष्म ऋतु में मैल से, रज से अथवा परिताप से शरीर के क्लिन्न—लिप्त हो जाने पर मेधावी मुनि साता के लिए परिदेवना—विलाप न करे।

३७. वेएज्ज निज्जरा-पेही
आरियं धम्मऽणुत्तरं ।
जाव सरीरभेउ त्ति
जल्लं काएण धारए ॥

निर्जरार्थी मुनि अनुत्तर—अद्वितीय श्रेष्ठ आर्यधर्म (वीतरागभाव की साधना) को पाकर शरीर-विनाश के अन्तिम क्षणों तक भी शरीर पर जल्ल—स्वेद-जन्य मैल को रहने दे। उसे समभाव से सहन करे।

३८. अभिवायणमब्भुट्ठाणं
सामी कुज्जा निमन्तणं।
जे ताइं पडिसेवन्ति
न तेसिं पीहए मुणी॥

१९—सत्कार-पुरस्कार-परीषह

राजा आदि शासकवर्गीय लोगों के द्वारा किए गए अभिवादन, सत्कार एवं निमन्त्रण को जो अन्य भिक्षु स्वीकार करते हैं, मुनि उनकी स्पृहा न करे।

३९. अणुक्कसाई अप्पिच्छे
अन्नाएसी अलोलुए।
रसेसु नाणुगिज्झेज्जा
नाणुतप्पेज्ज पन्नवं॥

अनुत्कर्ष—निरहंकार की वृत्ति वाला, अल्प इच्छा वाला, अज्ञात कुलों से भिक्षा लेने वाला अलोलुप भिक्षु रसों में गृद्ध-आसक्त न हो। प्रज्ञावान् दूसरों को सम्मान पाते देख अनुताप न करे।

२०—प्रज्ञा-परीषह

४०. 'से नूणं मए पुव्वं
कम्माणाणफला कडा।
जेणाहं नाभिजाणामि
पुट्ठो केणइ कण्हुई॥'

"निश्चय ही मैंने पूर्व काल में अज्ञानरूप फल देने वाले अपकर्म किए हैं, जिससे मैं किसी के द्वारा किसी विषय में पूछे जाने पर कुछ भी उत्तर देना नहीं जानता हूँ।"

४१. 'अह पच्छा उइज्जन्ति
कम्माणाणफला कडा।'
एवमस्सासि अप्पाणं
नच्चा कम्मविवागयं॥

'अज्ञानरूप फल देने वाले पूर्वकृत कर्म परिपक्व होने पर उदय में आते हैं'—इस प्रकार कर्म के विपाक को जानकर मुनि अपने को आश्वस्त करे।

२१—अज्ञान-परीषह

४२. 'निरट्ठगम्मि विरओ
मेहुणाओ सुसंवुडो।
जो सक्खं नाभिजाणामि
धम्मं कल्लाण पावगं॥'

"मैं व्यर्थ में ही मैथुनादि सांसारिक सुखों से विरक्त हुआ, इन्द्रिय और मन का संवरण किया। क्योंकि धर्म कल्याणकारी है या पापकारी है, यह मैं प्रत्यक्ष में तो कुछ देख पाता नहीं हूँ—" ऐसा मुनि न सोचे।

४३. 'तवोवहाणमादाय
पडिमं पडिवज्जओ ।
एवं पि विहरओ मे
छउमं न नियट्टई ॥'

"तप और उपधान को स्वीकार करता हूँ, प्रतिमाओं का भी पालन कर रहा हूं, इस प्रकार विशिष्ट साधनापथ पर विहरण करने पर भी मेरा छद्म अर्थात् ज्ञानावरणादि कर्म का आवरण दूर नहीं हो रहा है—"ऐसा चिन्तन न करे ।

२२—दर्शन-परीषह

४४. 'नत्थि नूणं परे लोए
इड्ढी वावि तवस्सिणो ।
अदुवा वंचिओ मि' त्ति
इइ भिक्खू न चिन्तए ॥

"निश्चय ही परलोक नहीं है, तपस्वी की ऋद्धि भी नहीं है, मैं तो धर्म के नाम पर ठगा गया हूँ"—भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे ।

४५. 'अभू जिणा अत्थि जिणा
अदुवावि भविस्सई ।
मुसं ते एवमाहंसु'
इइ भिक्खू न चिन्तए ॥

"पूर्व काल में जिन हुए थे, वर्तमान में जिन हैं और भविष्य में जिन होंगे'—ऐसा जो कहते हैं, वे झूठ बोलते हैं"—भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे ।

४६. एए परीसहा सव्वे
कासवेण पवेइया ।
जे भिक्खू न विहन्नेज्जा
पुट्ठो केणइ कण्हुई ॥

—त्ति बेमि

कश्यप-गोत्रीय भगवान् महावीर ने इन सभी परीषहों का प्ररूपण किया है । इन्हें जानकर कहीं भी किसी भी परीषह से स्पृष्ट—आक्रान्त होने पर भिक्षु इनसे पराजित न हो ।

—ऐसा मैं कहता हूं ।

३

चतुरंगीय

मानवता, सद्धर्म-श्रवण, यथार्थ दृष्टि, सम्यक् श्रम—
ये परिनिर्वाण के चार अंग हैं।

अनन्त संसारयात्रा पर चली आती जीवन की नौका, बारी-बारी से जन्म और मृत्यु के दो तटों को स्पर्श करती हुई, कभी ऐसे महत्त्वपूर्ण तट पर लग जाती है, जहाँ उसे यात्रा की परेशानी से मुक्त होने के अवसर मिल जाते हैं। इसी विषय की चर्चा इस तीसरे अध्ययन में है।

मानव-देह से ही मुक्ति होती है। और किसी देह से नहीं होती। मनुष्य-देह की तरह और भी बहुत से देह हैं, और उनमें कुछ मनुष्यदेह से भी अच्छे देह हैं, किन्तु उनमें मुक्ति प्राप्त होने की योग्यता नहीं है। क्यों नहीं है? इस 'नहीं' का कारण है कि मनुष्य के देह में मानवता, जो आध्यात्मिक जीवन की भूमि है, अल्प प्रयास से प्राप्त हो सकती है। वह पशु आदि के अन्य देहों में नामुमकिन है। इसका फलित अर्थ है, मनुष्य देह से नहीं, किन्तु मनुष्यत्व से मुक्ति है। मनुष्यदेह पूर्व कर्म के फल से मिलता है और मनुष्यत्व कर्म फल को निष्फल करने से मिलता है। मनुष्यदेह प्राप्त करने के बाद भी मनुष्यत्व प्राप्त करना परम दुर्लभ है।

मनुष्यत्व के साथ दूसरा अंग है 'श्रुति'—अर्थात् सद्धर्म का श्रवण। तत्त्ववेत्ताओं के द्वारा जाने गए मार्ग का श्रवण। सद्धर्म के श्रवण से ही व्यक्ति हेय, ज्ञेय एवं उपादेय का बोध कर सकता है। मनुष्यत्व प्राप्त होने के बाद भी श्रुति परम दुर्लभ है।

तीसरा अंग है श्रद्धा, अर्थात् यथार्थ दृष्टि। सत्य की प्रतीति। कुछ सुन और जान लेने पर भी तत्त्वश्रद्धा का होना आवश्यक है। अतः श्रुति के बाद भी सच्ची श्रद्धा का होना परम दुर्लभ है।

अन्तिम है–पुरुषार्थ। चतुर्थ अंग है यह। जो जाना है, जो श्रद्धा के रूप में स्वीकार किया है, उसके अनुसार उसी दिशा में श्रम अर्थात् पुरुषार्थ करना परम दुर्लभ है। यहाँ आकर और कुछ भी प्राप्त करने के लिए दुर्लभ नहीं रह जाता है।

मोक्ष-प्राप्ति के ये चार अंग हैं।

तइयं अज्झयणं : तृतीय अध्ययन

चाउरंगिज्जं : चतुरंगीय

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो । माणुसत्तं सुई सद्धा संजमंमि य वीरियं ॥	इस संसार में प्राणियों के लिए चार परम अंग दुर्लभ हैं—मनुष्यत्व, सद्धर्म का श्रवण, श्रद्धा और संयम में पुरुषार्थ ।
२. समावन्नाण संसारे नाणा-गोत्तासु जाइसु । कम्मा नाणा-विहा कट्टु पुढो विस्संभिया पया ॥	नाना प्रकार के कर्मों को करके नानाविध जातियों में उत्पन्न होकर, पृथक्-पृथक् रूप से प्रत्येक संसारी जीव समस्त विश्व को स्पर्श कर लेते हैं—अर्थात् समग्र विश्व में सर्वत्र जन्म लेते हैं ।
३. एगया देवलोएसु नरएसु वि एगया । एगया आसुरं कायं आहाकम्मेहिं गच्छई ॥	अपने कृत कर्मों के अनुसार जीव कभी देवलोक में, कभी नरक में और कभी असुर निकाय में जाता है—जन्म लेता है ।
४. एगया खत्तिओ होई तओ चण्डाल-वोक्कसो । तओ कीड-पयंगो य तओ कुन्थु-पिवीलिया ॥	यह जीव कभी क्षत्रिय, कभी चाण्डाल, कभी बोक्कस—वर्णसंकर, कभी कुंथु और कभी चींटी होता है ।

५. एवमावट्ट-जोणीसु
पाणिणो कम्मकिब्बिसा।
न निविज्जन्ति संसारे
सव्वट्ठेसु व खत्तिया॥

जिस प्रकार क्षत्रिय लोग चिरकाल तक समग्र ऐश्वर्य एवं सुखसाधनों का उपभोग करने पर भी निर्वेद-विरक्ति को प्राप्त नहीं होते हैं, उसी प्रकार कर्मों से मलिन जीव अनादि काल से आवर्त-स्वरूप योनिचक्र मे भ्रमण करते हुए भी संसार दशा से निर्वेद नही पाते हैं—जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होने की इच्छा नही करते है।

६. कम्म-संगेहिं सम्मूढा
दुक्खिया बहु-वेयणा।
अमाणुसासु जोणीसु
विणिहम्मन्ति पाणिणो॥

कर्मों के संग से अति मूढ, दुःखित और अत्यन्त वेदना से युक्त प्राणी मनुष्येतर योनियो मे जन्म लेकर पुनः-पुनः विनिघात—त्रास पाते हैं।

७. कम्माणं तु पहाणाए
आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता।
आययन्ति मणुस्सयं॥

कालक्रम के अनुसार कदाचित् मनुष्यगतिनिरोधक कर्मों के क्षय होने से जीवो को शुद्धि प्राप्त होती है और उसके फलस्वरूप उन्हे मनुष्यत्व प्राप्त होता है।

८. माणुस्सं विग्गहं लद्धुं
सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जन्ति
तवं खन्तिमहिंसयं॥

मनुष्यशरीर प्राप्त होने पर भी धर्म का श्रवण दुर्लभ है, जिसे सुनकर जीव तप, क्षमा और अहिंसा को प्राप्त करते हैं।

९. आहच्च सवणं लद्धुं
सद्धा परमदुल्लहा।
सोच्चा नेआउयं मग्गं
बहवे परिभस्सई॥

कदाचित् धर्म का श्रवण हो भी जाए, फिर भी उस पर श्रद्धा का होना परम दुर्लभ है। बहुत से लोग नैयायिक मार्ग—न्यायसंगत मोक्षमार्ग को सुनकर भी उससे विचलित हो जाते हैं।

१०. सुइं च लद्धुं सद्धं च
वीरियं पुण दुल्लहं।
बहवे रोयमाणा वि
नो एणं पडिवज्जए॥

श्रुति और श्रद्धा प्राप्त करके भी संयम में पुरुषार्थ होना अत्यन्त दुर्लभ है। बहुत से लोग संयम में अभिरुचि रखते हुए भी उसे सम्यक्तया स्वीकार नहीं कर पाते हैं।

११. माणुसत्तंमि आयाओ
जो धम्मं सोच्च सद्दहे।
तवस्सी वीरियं लद्धुं
संवुडे निद्धुणे रयं॥

मनुष्यत्व प्राप्त कर जो धर्म को सुनता है, उसमें श्रद्धा करता है, वह तपस्वी संयम में पुरुषार्थ कर संवृत (अनाश्रव) होता है, कर्म रज को दूर करता है।

१२. सोही उज्जुयभूयस्स
धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।
निव्वाणं परमं जाइ
घय-सित्त व्व पावए॥

जो सरल होता है, उसे शुद्धि प्राप्त होती है। जो शुद्ध होता है, उसमें धर्म रहता है। जिसमें धर्म है वह घृत से सिक्त अग्नि की तरह परम निर्वाण (विशुद्ध आत्म दीप्ति) को प्राप्त होता है।

१३. विगिंच कम्मुणो हेउं
जसं संचिणु खन्तिए।
पाढवं सरीरं हिच्चा
उड्ढं पक्कमई दिसं॥

कर्मों के हेतुओं को दूर करके और क्षमा से यश—संयम का संचय करके वह साधक पार्थिव शरीर को छोड़कर ऊर्ध्व दिशा (स्वर्ग अथवा मोक्ष) की ओर जाता है।

१४. विसालिसेहिं सीलेहिं
जक्खा उत्तर-उत्तरा।
महासुक्का व दिप्पन्ता
मन्नन्ता अपुणच्चवं॥

अनेक प्रकार के शील को पालन करने से देव होते हैं। उत्तरोत्तर समृद्धि के द्वारा महाशुक्ल—सूर्य, चन्द्र की भांति दीप्तिमान् होते हैं। और तब वे 'स्वर्ग से च्यवन नहीं होता है'—ऐसा मानने लगते हैं।

१५. अप्पिया देवकामाणं
कामरूव-विउव्विणो ।
उड्ढं कप्पेसु चिट्ठन्ति
पुव्वा वाससया बहू ॥

एक प्रकार से दिव्य भोगों के लिए अपने को अर्पित किए हुए वे देव इच्छानुसार रूप बनाने में समर्थ होते हैं। तथा ऊर्ध्व कल्पो मे पूर्व वर्ष शत अर्थात् असंख्य काल तक रहते हैं।

१६. तत्थ ठिच्चा जहाठाणं
जक्खा आउक्खए चुया ।
उवेन्ति माणुसं जोणिं
से दसंगेऽभिजायई ॥

वहा देवलोक मे यथास्थान अपनी काल-मर्यादा तक ठहरकर, आयु क्षय होने पर वे देव वहा से लौटते हैं, और मनुष्य-योनि को प्राप्त होते हैं। वे वहां दशाग भोग-सामग्री से युक्त होते हैं।

१७. खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च
पसवो दास-पोरुसं ।
चत्तारि काम-खन्धाणि
तत्थ से उववज्जई ॥

क्षेत्र—खेतों की भूमि, वास्तु—गृह, स्वर्ण, पशु और दास—पौरुषेय—ये चार काम-स्कन्ध जहां होते हैं, वहां वे उत्पन्न होते हैं।

१८. मित्तवं नायवं होइ
उच्चागोए य वण्णवं ।
अप्पायंके महापन्ने
अभिजाए जसोबले ॥

वे सन्मित्रो से युक्त,, ज्ञातिमान्, उच्च गोत्र वाले, सुन्दर वर्ण वाले, नीरोग, महाप्राज्ञ, अभिजात—कुलीन, यशस्वी और बलवान होते है।

१९. भोच्चा माणुस्सए भोए
अप्पडिरूवे अहाउयं ।
पुव्वं विसुद्ध-सद्धम्मे
केवलं बोहि बुज्झिया ॥

जीवनपर्यन्त अनुपम मानवीय भोगो को भोगकर भी पूर्व काल मे विशुद्ध सद्धर्म के आराधक होने के कारण निर्मल बोधि का अनुभव करते है।

२०. चउरंगं दुल्लहं नच्चा
संजमं पडिवज्जिया ।
तवसा धुयकम्मंसे
सिद्धे हवइ सासए ॥

पूर्वोक्त चार अंगों को दुर्लभ जानकर साधक संयम धर्म को स्वीकार करते हैं। अनन्तर तपश्चर्या से समग्र कर्मों को दूर कर शाश्वत सिद्ध होते हैं।

—त्ति बेमि।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

४

असंस्कृत

जीवन धन से बचाया नहीं जा सकेगा।

परिजन संकट के समय साथ छोड़ देंगे।

टूटते हुए जीवन को बचाने वाला या टूट जाने पर पुनः उसे जोड़ने वाला कोई भी तो इस संसार में नहीं है। मृत्यु के द्वार पर पहुंचने के बाद अशरण जीव को कोई भी शरण नहीं है। जीवन की सुरक्षा के लिए संगृहीत किए गए एक से एक सशक्त साधन अन्त में दिखाई तक नहीं देते हैं। विपदा आने पर परिजन साथ छोड़ देते हैं। मृत्यु से बचने के लिए जिस धन को सर्वोत्तम साधन माना जाता है, वही धन कभी मृत्यु का ही कारण बन जाता है। व्यक्ति जीवन के इस सत्य को ध्यान में रखे। धन, परिजन आदि सुरक्षा के तमाम साधनों के आवरणों में छुपी हुई असुरक्षा और अशुभ कर्म-फल-भोग को भूलें नहीं। एक दिन आता है, जब इन साधनों की अन्तिम निष्फलता प्रगट होगी। अतः पहले से ही व्यक्ति को सतर्क रहना चाहिए।

धन एवं परिजन आदि के प्रलोभन व्यक्ति को सन्मार्ग से बहका देते हैं। साधन एक साधन है। उसकी एक बहुत छोटी सी क्षुद्र सीमा है। वहीं तक उसका अर्थ है। इससे आगे उसको महत्व देना एक भ्रान्ति है, और कुछ नहीं। भ्रान्ति मानव को दिग्भ्रान्त कर देती है। उसका हिताहित-विवेक नष्ट हो जाता है। यही बात धर्म और दर्शन की भ्रान्ति के सम्बन्ध मे है। धर्म और दर्शन की भ्रान्त धारणाएं भी व्यक्ति को बहका देती हैं। वे सबसे अधिक खतरनाक हैं। भ्रान्त धारणाओं की प्ररूपणा करने वाले लोग भगवान् महावीर की दृष्टि में अधार्मिक हैं, असंस्कारी हैं।

●

चउत्थं अज्झयणं : चतुर्थ अध्ययन

असंखयं : असंस्कृत

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. असंखयं जीविय मा पमायए जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं। एवं वियाणाहि जणे पमत्ते कण्णू विहिंसा अजया गहिन्ति॥	टूटा जीवन सांधा नहीं जा सकता, अतः प्रमाद मत करो। बुढ़ापा आने पर कोई शरण नहीं है। यह विचार करो कि 'प्रमादी, हिंसक और असंयमी मनुष्य समय पर किसकी शरण लेंगे।'
२. जे पावकम्मेहि धणं मणुस्सा समाययन्ती अमइं गहाय। पहाय ते पासपयट्टिए नरे वेराणुबद्धा नरयं उवेन्ति॥	जो मनुष्य अज्ञानता के कारण पाप-प्रवृत्तियों से धन का उपार्जन करते हैं, वे वासना के जाल में पड़े हुए और वैर (कर्म, से बंधे हुए अन्त मे मरने के बाद नरक में जाते हैं।
३. तेणे जहा सन्धि-मुहे गहीए सकम्मुणा किच्चइ पावकारी। एवं पया पेच्च इहं च लोए कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि॥	जैसे सेंध लगाते हुए संधि-मुख में पकड़ा गया पापकारी चोर अपने किए हुए कर्म से छेदा जाता है, वैसे ही जीव अपने कृत कर्मों के कारण लोक तथा परलोक में छेदा जाता है। किए हुए कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं है।

४. संसारमावन्न परस्स अट्ठा
साहारणं जं च करेइ कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ वेय-काले
न बन्धवा बन्धवयं उवेन्ति॥

संसारी जीव अपने और अन्य बंधु-बांधवों के लिए साधारण (सबके लिए समान लाभ की इच्छा से किया जाने वाला) कर्म करता है, किन्तु उस कर्म के फलोदय के समय कोई भी बन्धु बन्धुता नहीं दिखाता है—हिस्सेदार नहीं होता है।

५. वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते
इमंमि लोए अदुवा परत्था।
दीव-प्पणट्ठे व अणन्त-मोहे
नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव॥

प्रमत्त मनुष्य इस लोक में और परलोक में धन से त्राण-संरक्षण नहीं पाता है। अंधेरे में जिसका दीप बुझ गया हो उसका पहले प्रकाश में देखा हुआ मार्ग भी न देखे हुए की तरह जैसे हो जाता है, वैसे ही अनन्त मोह के कारण प्रमत्त व्यक्ति मोक्ष-मार्ग को देखता हुआ भी नहीं देखता है।

६. सुत्तेसु यावी पडिबुद्ध-जीवी
न वीससे पण्डिए आसु-पन्ने।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं
भारण्ड-पक्खी व चरेऽप्पमत्तो॥

आशुप्रज्ञावाला ज्ञानी साधक सोए हुए लोगों में भी प्रतिक्षण जागता रहे। प्रमाद में एक क्षण के लिए भी विश्वास न करे। समय भयंकर है, शरीर दुर्बल है। अतः भारण्ड पक्षी की तरह अप्रमादी होकर विचरण करना चाहिए।

७. चरे पयाइं परिसंकमाणो
जं किंचि पासं इह मण्णमाणो।
लाभन्तरे जीविय वूहइत्ता
पच्छा परिन्नाय मलावधंसी॥

साधक पग-पग पर दोषों की संभावना को ध्यान में रखता हुआ चले, छोटे से छोटे दोष को भी पाश (जाल) समझकर सावधान रहे। नये-नये गुणों के लाभ के लिए जीवन को सुरक्षित रखे। और जब लाभ न होता दीखे तो परिज्ञानपूर्वक धर्म-साधना के साथ शरीर को छोड़ दे।

८. छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्खं
आसे जहा सिक्खिय-वम्मधारी।
पुव्वाइं वासाइं चरेऽप्पमत्तो
तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं॥

शिक्षित और वर्म (कवच)-धारी अश्व जैसे युद्ध से पार हो जाता है, वैसे ही स्वच्छन्दता का निरोध करने वाला साधक संसार से पार हो जाता है। पूर्व जीवन में अप्रमत्त होकर विचरण करने वाला मुनि शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त होता है।

९. स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा
एसोवमा सासय-वाइयाणं।
विसीयई सिढिले आउयंमि
कालोवणीए सरीरस्स भेए॥

'जो पूर्व जीवन में अप्रमत्त—जागृत नहीं रहता, वह बाद में भी अप्रमत्त नहीं हो पाता है—'यह ज्ञानी जनों की उपमा—धारणा है। 'अभी क्या है, बाद में अन्तिम समय अप्रमत्त हो जाएँगे—'यह शाश्वतवादियों (अपने को अजर-अमर समझने वाले अज्ञानियों) की मिथ्या धारणा है। पूर्व जीवन में प्रमत्त रहने वाला व्यक्ति, आयु के शिथिल होने पर मृत्यु के समय, शरीर छूटने की स्थिति आने पर विषाद को पाता है।

१०. खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं
तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे।
समिच्च लोयं समया महेसी
अप्पाण-रक्खी चरमप्पमत्तो॥

कोई भी तत्काल विवेक (त्याग) को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः अभी से कामनाओं का परित्याग कर, सन्मार्ग में उपस्थित होकर, समत्व दृष्टि से लोक (स्वजन-परजन आदि समग्रजन) को अच्छी तरह जानकर आत्मरक्षक महर्षि अप्रमत्त होकर विचरण करे।

११. मुहुं मुहुं मोह-गुणे जयन्तं
अणेग-रूवा समणं चरन्तं ।
फासा फुसन्ती असमंजसं च
न तेसु भिक्खू मणसा पउस्से ॥

बार-बार मोह-गुणों पर—रागद्वेष की वृत्तियों पर विजय पाने को यत्नशील संयम में विचरण करते श्रमण को अनेक प्रकार के प्रतिकूल स्पर्श अर्थात् शब्दादि विषय परेशान करते हैं। किन्तु भिक्षु उन पर मन से भी द्वेष न करे।

१२. मन्दा य फासा बहु-लोहणिज्जा
तह-प्पगारेसु मणं न कुज्जा ।
रक्खेज्ज कोहं, विणएज्ज माणं
मायं न सेवे, पयहेज्ज लोहं ॥

अनुकूल स्पर्श बहुत लुभावने होते हैं। किन्तु साधक तथाप्रकार के विषयों में मन को न लगाए। क्रोध से अपने को बचाए रखे। मान को दूर करे। माया का सेवन न करे। लोभ को त्यागे।

१३. जेऽसंखया तुच्छ परप्पवाई
ते पिज्ज-दोसाणुगया परज्झा ।
एए 'अहम्मे' त्ति दुगुंछमाणो
कंखे गुणे जाव सरीर-भेओ ॥

जो व्यक्ति संस्कारहीन हैं, तुच्छ हैं और परप्रवादी हैं, जो प्रेय-राग और द्वेष मे फंसे हुए हैं, वासनाओं के दास हैं, वे 'धर्म रहित हैं'—ऐसा जानकर साधक उनसे दूर रहे। शरीर-भेद के अन्तिम क्षणो तक सद्गुणों की आराधना करे।

—त्ति बेमि ।

—ऐसा मैं कहता हूं।

५

अकाममरणीय

मृत्यु और मृत्यु के भय से मुक्ति !

हजारों प्रश्न मनुष्य ने पूछे हैं और हजारों ही समाधान उसे मिले हैं ? किन्तु कुछ ऐसे विलक्षण प्रश्न हैं, जिनका अनेक बार समाधान होने पर भी प्रश्नत्व मिटा नही है। ऐसे ही प्रश्नों में जन्म और मृत्यु का प्रश्न भी है। प्रत्येक व्यक्ति का यह प्रश्न है और प्रत्येक व्यक्ति समाधान की खोज में है।

आत्मा की मृत्यु नही होती है। आत्मा द्रव्यदृष्टि से सनातन है, अतः वह अज है, अजर है, अमर है।

शरीर की भी मृत्यु नही होती। शरीर भी मूल पुद्‌गल द्रव्य की दृष्टि से शाश्वत है, ध्रुव है।

क्या आत्मद्रव्य की पर्याय का परिवर्तन मृत्यु है ?

नहीं, जिस मृत्यु की चर्चा यहां है वह आत्म द्रव्य की प्रतिक्षण उत्पादव्ययशील पर्याय के परिवर्तन से सम्बन्धित नहीं है।

तब क्या शरीर का परिवर्तन मृत्यु है ?

नहीं, वह भी नहीं। यहां केवल शरीर के परिवर्तन को भी मृत्यु नहीं कहते हैं।

तब मृत्यु क्या है ?

आत्मा का शरीर को छोड़ना 'मृत्यु' है।

आत्मा शरीर को क्यों छोड़ता है ?

दिया क्यों बुझ जाता है ?

जलते-जलते तेल समाप्त हो जाता है, और दिया बुझ जाता है।

समय आता है, आत्मा और शरीर को जोड़े रखने वाला आयुष्कर्म भी प्रतिक्षण क्षीण होता-होता अन्त में सर्वथा क्षीण हो जाता है, और मृत्यु हो जाती है।

मृत्यु का दुःख क्यों है ?

मृत्यु को नहीं जाना है, इसलिए मृत्यु का दुःख है। यह अज्ञान ही मृत्यु के सम्बन्ध में भय पैदा करता है, फलतः दुःख का कारण बनता है।

क्या मृत्यु के भय से मुक्त हुआ जा सकता है ?

हाँ, मृत्यु को जानकर मृत्यु के भय से मुक्त हुआ जा सकता है, किन्तु मृत्यु को मृत्यु से नहीं जाना जा सकता है।

वरन् मृत्यु को जीवन से जाना जा सकता है।

आत्मा और शरीर के यौगिक जीवन से नही,

किन्तु मौलिक आत्मद्रव्य के जीवन से—

स्वयं की सत्ता के बोध से—

स्वस्वरूप में रमणता से—संलीनता से।

इस बोध से मृत्यु का भय मिट जाता है, केवल मृत्यु रह जाती है। और इसी मृत्यु को सूत्रकार ने पण्डितों का सकाम मरण कहा है। और वह मृत्यु, जिसमे भय, खेद और कष्ट है, आत्मज्ञान नही है, वह बालजीवों का—अज्ञानियों का अकाम मरण है।

साधक सकाम मरण की अपेक्षा करे, अकाम मरण की नहीं।

सकाम मरण संयम से और आत्मबोध से होता है।

अकाम मरण असंयम से और आत्मअज्ञान से होता है।

पंचमं अज्झयणं : पांचवां अध्ययन

अकाम-मरणिज्जं : अकाम-मरणीय

मूल — हिन्दी अनुवाद

१. अण्णवंसि महोहंसि
एगे तिण्णे दुरुत्तरे।
तत्थ एगे महापन्ने
इमं पट्ठमुदाहरे ॥

संसार एक सागर की भांति है, उसका प्रवाह विशाल है, उसे तैर कर दूसरे तट पर पहुंचना अतीव कष्टसाध्य है। फिर भी कुछ लोग उसे पार कर गये हैं। उन्हीं में से एक महाप्राज्ञ (महावीर) ने यह स्पष्ट किया था।

२. सन्तिमे य दुवे ठाणा
अक्खाया मारणन्तिया।
अकाम-मरणं चेव
सकाम - मरणं तहा ॥

मृत्यु के दो स्थान (भेद या रूप) कहे गये हैं—

अकाम मरण और सकाम मरण।

३. बालाणं अकामं तु
मरणं असइं भवे।
पण्डियाणं सकामं तु
उक्कोसेण सइं भवे ॥

बालजीवों के अकाम मरण बार-बार होते हैं। पण्डितों का सकाम मरण उत्कर्ष से अर्थात् केवल ज्ञानी की उत्कृष्ट भूमिका की दृष्टि से एक बार होता है।

४. तत्थिमं पढमं ठाणं
महावीरेण देसियं।
काम-गिद्धे जहा बाले
भिसं कूराइं कुव्वई ॥

महावीर ने दो स्थानों में से प्रथम स्थान के विषय में कहा है कि काम-भोग में आसक्त बाल जीव—अज्ञानी आत्मा क्रूर कर्म करता है।

५. जे गिद्धे कामभोगेसु
एगे कूडाय गच्छई।
'न मे दिट्ठे परे लोए
चक्खु-दिट्ठा इमा रई॥'

जो काम-भोगों में आसक्त होता है, वह कूट (हिंसा एवं मिथ्या भाषण) की ओर जाता है।

वह कहता है-"परलोक तो मैंने देखा नहीं है। और यह रति (सांसारिक सुख) प्रत्यक्ष आंखों के सामने है-"

६. 'हत्थागया इमे कामा
कालिया जे अणागया।
को जाणइ परे लोए
अत्थि वा नत्थि वा पुणो॥'

"वर्तमान के ये कामभोग-सम्बन्धी सुख तो हस्तगत हैं। भविष्य में मिलने वाले सुख संदिग्ध हैं। कौन जानता है—परलोक है भी या नहीं-"

७. 'जणेण सद्धि होक्खामि'
इइ बाले पगब्भई।
काम-भोगाणुराएणं
केसं संपडिवज्जई॥

"मैं तो आम लोगों के साथ रहूँगा। अर्थात् जो उनकी स्थिति होगी, वह मेरी होगी"—ऐसा मानकर अज्ञानी मनुष्य भ्रष्ट हो जाता है। किन्तु अन्ततोगत्वा वह कामभोग के अनुराग से कष्ट ही पाता है।

८. तओ से दण्डं समारभई
तसेसु थावरेसु य।
अट्ठाए य अणट्ठाए
भूयग्गामं विहिंसई॥

फिर वह त्रस एवं स्थावर जीवों के प्रति दण्ड का प्रयोग करता है। प्रयोजन से अथवा कभी निष्प्रयोजन ही प्राणी-समूह की हिंसा करता है।

९. हिंसे बाले मुसावाई
माइल्ले पिसुणे सढे।
भुंजमाणे सुरं मंसं
सेयमेयं ति मन्नई॥

जो हिंसक, बाल-अज्ञानी, मृषावादी, मायावी, चुगलखोर तथा शठ (धूर्त) होता है वह मद्य एवं मांस का सेवन करता हुआ यह मानता है कि यही श्रेय है।

१०. कायसा वयसा मत्ते
वित्ते गिद्धे य इत्थिसु ।
दुहओ मलं संचिणइ
सिसुणागु व्व मट्टियं ॥

वह शरीर और वाणी से मत्त होता होता है, धन और स्त्रियों में आसक्त रहता है। वह राग और द्वेष दोनों से वैसे ही कर्म-मल संचय करता है, जैसे कि शिशुनाग (केंचुआ) अपने मुख और शरीर दोनों से मिट्टी संचय करता है।

११. तओ पुट्ठो आयंकेणं
गिलाणो परितप्पई ।
पभीओ परलोगस्स
कम्माणुप्पेहि अप्पणो ॥

फिर वह भोगासक्त बालजीव आतंक-रोग से आक्रान्त होने पर ग्लान (खिन्न) होता है, परिताप करता है, अपने किए हुए कर्मों को यादकर परलोक से भयभीत होता है।

१२. सुया मे नरए ठाणा
असीलाणं च जा गई ।
बालाणं कूर-कम्माणं
पगाढा जत्थ वेयणा ॥

वह सोचता है, मैंने उन नारकीय स्थानों के विषय में सुना है, जो शील से रहित क्रूर कर्म वाले अज्ञानी जीवों की गति है, और जहाँ तीव्र वेदना है।

१३. तत्थोववाइयं ठाणं
जहा मेयमणुस्सुयं ।
आहाकम्मेहिं गच्छन्तो
सो पच्छा परितप्पई ॥

जैसा कि मैंने परम्परा से यह सुना है—

उन नरकों में औपपातिक स्थिति है। अर्थात् वहाँ कुंभी आदि में तत्काल जन्म होजाता है। आयुष्य क्षीण होने के पश्चात् अपने कृतकर्मों के अनुसार वहाँ जाता हुआ प्राणी परिताप करता है।

१४. जहा सागडिओ जाणं
समं हिच्चा महापहं ।
विसमं मग्गमोइण्णो
अक्खे भग्गंमि सोयई ॥

जैसे कोई गाड़ीवान् समतल महान् मार्ग को जानता हुआ भी उसे छोड़कर विषम मार्ग से चल पड़ता है और तब गाड़ीकी धुरी टूट जानेपर शोक करता है।

१५. एवं धम्मं विउक्कम्म
अहम्मं पडिवज्जिया।
बाले मच्चु-मुहं पत्ते
अक्खे भग्गे व सोयई॥

इसी प्रकार जो धर्म का उल्लंघन कर अधर्म को स्वीकार करता है, वह मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ बालजीव शोक करता है, जैसे कि धुरी के टूटने पर गाड़ीवान् शोक करता है।

१६. तओ से मरणन्तमि
बाले सन्तस्सई भया।
अकाम-मरणं मरई
धुत्ते व कलिना जिए॥

मृत्यु के समय वह अज्ञानी आत्मा परलोक के भय से संत्रस्त होता है। एक ही दाव में सब कुछ हार जाने वाले धूर्त–जुआरी की तरह शोक करता हुआ अकाम मरण से मरता है।

१७. एयं अकाम-मरणं
बालाणं तु पवेइयं।
एत्तो सकाम-मरणं
पण्डियाणं सुणेह मे॥

यह अज्ञानी जीवों के अकाम मरण का प्रतिपादन किया है। अब यहाँ से आगे पण्डितों के सकाम मरण को मुझसे सुनो—

१८. मरणं पि सपुण्णाणं
जहा मेयमणुस्सुयं।
विप्पसण्णमणाघायं
संजयाणं वुसीमओ॥

जैसा कि मैंने परम्परा से यह सुना है कि—

संयत और जितेन्द्रिय पुण्यात्माओं का मरण अतिप्रसन्न (अनाकुल) और आघातरहित होता है।

१९. न इमं सव्वेसु भिक्खूसु
न इमं सव्वेसुऽगारिसु।
नाणा-सीला अगारत्था
विसम-सीला य भिक्खुणो॥

यह सकाम मरण न सभी भिक्षुओं को प्राप्त होता है और न सभी गृहस्थों को। गृहस्थ नाना प्रकार के शीलों से सम्पन्न होते हैं, जबकि बहुत से भिक्षु भी विषम–अर्थात् विकृत शीलवाले होते हैं।

२०. सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं
गारत्था संजमुत्तरा।
गारत्थेहि य सव्वेहिं
साहवो संजमुत्तरा॥

कुछ भिक्षुओं की अपेक्षा गृहस्थ संयम में श्रेष्ठ होते हैं। किन्तु शुद्धाचारी साधुजन सभी गृहस्थों से संयम में श्रेष्ठ हैं।

२१. चीराजिणं नगिणिणं
जडी-संघाडि-मुण्डिणं ।
एयाणि वि न तायन्ति
दुस्सीलं परियागयं ॥

दुराचारी साधु को चीवर—वस्त्र, अजिन—मृगछाला आदि चर्म, नग्नत्व, जटा, गुदड़ी, शिरोमुंडन आदि बाह्याचार, नरकगति में जाने से नहीं बचा सकते ।

२२. पिण्डोलए व दुस्सीले
नरगाओ न मुच्चई ।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा
सुव्वए कम्मई दिवं ॥

भिक्षावृत्ति से निर्वाह करने वाला भी यदि दुःशील है तो वह नरक से मुक्त नही हो सकता है । भिक्षु हो अथवा गृहस्थ, यदि वह सुव्रती है, तो स्वर्ग में जाता है ।

२३. अगारि-सामाइयंगाइं
सड्ढी काएण फासए ।
पोसहं दुहओ पक्खं
एगरायं न हावए ॥

श्रद्धावान् गृहस्थ सामायिक साधना के सभी अंगो का काया से स्पर्श करे, अर्थात् आचरण करे । कृष्ण और शुक्ल दोनो पक्षों में पौषध व्रत को एक रात्रि के लिए भी न छोड़े ।

२४. एवं सिक्खा-समावन्ने
गिह-वासे वि सुव्वए ।
मुच्चई छवि-पव्वाओ
गच्छे जक्ख-सलोगयं ॥

इस प्रकार धर्मशिक्षा से सम्पन्न सुव्रती गृहवास मे रहता हुआ भी मानवीय औदारिक शरीर को छोड़कर देवलोक मे जाता है ।

२५. अह जे संवुडे भिक्खू
दोण्हं अन्नयरे सिया ।
सव्व-दुक्ख-प्पहीणे वा
देवे वावि महड्ढिए ॥

संवृत—संयमी भिक्षु की दोनों में से एक स्थिति होती है—या तो वह सदा के लिए सब दुःखों से मुक्त होता है अथवा महान् ऋद्धिवाला देव होता है ।

२६. उत्तराइं विमोहाइं
जुइमन्ताणुपुव्वसो ।
समाइण्णाइं जक्खेहिं
आवासाइं जसंसिणो ॥

देवताओं के आवास अनुक्रम से ऊर्ध्व अथवा उत्तम, मोहरहित, द्युतिमान्, तथा देवों से परिव्याप्त होते हैं । उनमें रहने वाले देव यशस्वी—

२७. दीहाउया इड्ढिमन्ता
समिद्धा काम-रूविणो ।
अहुणोववन्न-संकासा
भुज्जो अच्चिमालि-प्पभा ॥

दीर्घायु, ऋद्धिमान्, दीप्तिमान्, इच्छानुसार रूप धारण करने वाले और अभी-अभी उत्पन्न हुए हों, ऐसी भव्य कांति वाले एवं सूर्य के समान अत्यन्त तेजस्वी होते हैं ।

२८. ताणि ठाणाणि गच्छन्ति
सिक्खित्ता संजमं तवं ।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा
जे सन्ति परिनिव्वुडा ॥

भिक्षु हो या गृहस्थ, जो हिंसा आदि से निवृत्त होते है, वे संयम और तप का अभ्यास कर उक्त देव लोकों में जाते हैं ।

२९. तेसिं सोच्चा सपुज्जाणं
संजयाण वुसीमओ ।
न संतसन्ति मरणन्ते
सीलवन्ता बहुस्सुया ॥

सत्पुरुषों के द्वारा पूजनीय उन संयत और जितेन्द्रिय आत्माओं के उक्त वृत्तान्त को सुनकर शीलवान् बहुश्रुत साधक मृत्यु के समय में भी संत्रस्त नहीं होते हैं ।

३०. तुलिया विसेसमादाय
दयाधम्मस्स खन्तिए ।
विप्पसीएज्ज मेहावी
तहा-भूएण अप्पणा ॥

बालमरण और पंडितमरण की परस्पर तुलना करके मेधावी साधक विशिष्ट सकाम मरण को स्वीकार करे, और मरण काल में दया धर्म एवं क्षमा से पवित्र तथाभूत आत्मा से प्रसन्न रहे ।

३१. तओ काले अभिप्पेए
सड्ढी तालिसमन्तिए ।
विणएज्ज लोम-हरिसं
भेयं देहस्स कंखए ॥

जब मरण-काल आए, तो जिस श्रद्धा से प्रव्रज्या स्वीकार की थी, तदनुसार ही भिक्षु गुरु के समीप पीडाजन्य लोमहर्ष को दूर करे, तथा शान्तिभाव से शरीर के भेद अर्थात् पतन की प्रतीक्षा करे ।

३२. अह कालंमि संपत्ते
आघायाय समुस्सयं ।
सकाम-मरणं मरई
तिण्हमन्नयरं मुणी ॥

मृत्यु का समय आने पर मुनि भक्त-परिज्ञा, इंगिनी और प्रायोपगमन—इन तीनों में से किसी एक को स्वीकार कर समाधिपूर्वक सकाम मरण से शरीर को छोड़ता है ।

—त्ति बेमि ।

—ऐसा मैं कहता हूं ।

६

क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय

ग्रन्थ बन्धन है, विद्यानुशासन भी बन्धन है।

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'क्षुल्लक निर्ग्रन्थ' है। निर्ग्रन्थ शब्द जैन आगमों का महत्त्वपूर्ण शब्द है। भगवान् महावीर को भी 'निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र' के नाम से अनेक जगह सम्बोधित किया है। भगवान महावीर के परि-निर्वाण के बाद कई शताब्दियों तक भगवान् महावीर के संघ और धर्म को भी 'निर्ग्रन्थ धर्म' कहा गया है।

स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के ग्रन्थ का परित्याग कर क्षुल्लक अर्थात् साधु निर्ग्रन्थ होता है। स्थूलग्रन्थ का अर्थ है—आवश्यकता के अति-रिक्त वस्तुओं को जोड़कर रखना और सूक्ष्म ग्रन्थ का अर्थ है—'मूर्छा।'

राग और द्वेष के बन्धन को भी 'ग्रन्थ' कहते हैं। निर्ग्रन्थ होने के लिए साधु इसका भी परित्याग करता है। ग्रन्थ का मूल अर्थ 'गांठ' है, फिर भले वह बाहर की हो, या अन्दर की।

अज्ञान दुःख का कारण है, किन्तु भाषा का ज्ञान या कोरा सैद्धा-न्तिक शब्द ज्ञान भी दुःख को दूर नहीं कर सकता। जो कहता अधिक है, जीवन की पवित्रता का काफी ज्ञान बघारता है, किन्तु तदनुसार करता कुछ भी नहीं है, वह अपने कोरे शब्दज्ञान से मुक्तिलाभ नहीं कर पाता है। ज्ञान, जो केवल ग्रन्थ तक सीमित है, जीवन में उतरा नहीं है, वह भी ग्रन्थ है, भार है, बन्धन है। सच्चा साधु इस ग्रन्थ से भी मुक्त होता है।

●

छट्ठमज्झयणं : छठा अध्ययन

खुड्डागनियंठिज्जं : क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय

मूल — हिन्दी अनुवाद

१. जावन्तऽविज्जापुरिसा
सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुप्पन्ति बहुसो मूढा
संसारंमि अणन्तए॥

जितने अविद्यावान्–अज्ञानी पुरुष हैं, वे सब दुःख के उत्पादक हैं। वे विवेकमूढ अनन्त संसार में बार-बार लुप्त होते हैं।

२. समिक्ख पंडिए तम्हा
पासजाईपहे बहू।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा
मेत्तिं भूएसु कप्पए॥

इसलिए पण्डित पुरुष अनेकविध बन्धनों की एवं जातिपथो (जन्म-मरण के हेतु मोहादि भावकर्मो) की समीक्षा करके स्वयं सत्य की खोज करे और विश्व के सब प्राणियों के प्रति मैत्री का भाव रखे।

३. माया पिया ण्हुसा भाया
भज्जा पुत्ता य ओरसा।
नालं ते मम ताणाय
लुप्पन्तस्स सकम्मुणा॥

अपने ही कृत कर्मों से लुप्त–पीड़ित रहने वाले मेरी रक्षा करने में माता-पिता, पुत्रवधू, भाई, पत्नी तथा औरस पुत्र (आत्म-जात) समर्थ नहीं हैं।

४. एयमट्ठं सपेहाए
पासे समियदंसणे।
छिन्द गेहिं सिणेहं च
न कंखे पुव्वसंथवं॥

सम्यक् द्रष्टा साधक अपनी स्वतंत्र बुद्धि से इस अर्थ की सत्यता को देखे। आसक्ति तथा स्नेह का छेदन करे। किसी के पूर्व परिचय की भी अभिलाषा न करे।

५. गवासं मणिकुंडलं
पसवो दासपोरुसं।
सव्वमेयं चइत्ताणं
कामरूवी भविस्ससि ॥

गौ—गाय और बैल, घोड़ा, मणि, कुण्डल, पशु, दास और अन्य सहयोगी पुरुष—इन सबका परित्याग करने वाला साधक परलोक में कामरूपी देव होगा।

६. थावरं जंगमं चेव
धणं धण्णं उवक्खरं।
पच्चमाणस्स कम्मेहिं
नालं दुक्खाउ मोयणे ॥

कर्मों से दुःख पाते हुए प्राणी को स्थावर-जंगम-अर्थात् चल-अचल संपत्ति, धन, धान्य और उपस्कर—गृहोपकरण भी दुःख से मुक्त करने में समर्थ नहीं होते हैं।

७. अज्झत्थं सव्वओ सव्वं
दिस्स पाणे पियायए।
न हणे पाणिणो पाणे
भयवेराओ उवरए ॥

'सबको सब तरह से अध्यात्म—सुख प्रिय है, सभी प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है'—यह जानकर भय और वैर से उपरत साधक किसी भी प्राणी के प्राणों की हिंसा न करे।

८. आयाणं नरयं दिस्स
नायएज्ज तणामवि।
दोगुंछी अप्पणो पाए
दिन्नं भुंजेज्ज भोयणं ॥

अदत्तादान (चोरी) नरक है, यह जानकर बिना दिया हुआ एक तिनका भी मुनि न ले। असंयम के प्रति जुगुप्सा रखने वाला मुनि अपने पात्र में गृहस्थ द्वारा दिया हुआ ही भोजन ग्रहण करे।

९. इहमेगे उ मन्नन्ति
अप्पच्चक्खाय पावगं।
आयरियं विदित्ताणं
सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥

इस संसार में कुछ लोग मानते हैं कि—'पापों का परित्याग किए बिना ही केवल आर्य—तत्वज्ञान अथवा आचरण को जानने-भर से ही जीव सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।'

१०. भणन्ता अकरेन्ता य
बन्ध - मोक्खपइण्णिणो।
वाया - विरियमेत्तेण
समासासेन्ति अप्पयं ॥

जो बन्ध और मोक्ष के सिद्धान्तों की स्थापना तो करते हैं, कहते बहुत कुछ है, किन्तु करते कुछ नहीं हैं, वे आत्मवादी केवल वाग्वीर्य से—अर्थात् वाणी के बल से अपने को आश्वस्त करते रहते हैं।

११. न चित्ता तायए भासा
कओ विज्जाणुसासणं ?
विसन्ना पाव-कम्मेहिं
बाला पंडियमाणिणो ॥

विविध भाषाएं रक्षा नहीं करती हैं, विद्याओं का अनुशासन भी कहां सुरक्षा देता है ? जो इन्हें संरक्षक मानते हैं, वे अपने आपको पण्डित मानने वाले अज्ञानी जीव पाप कर्मों मे मग्न है, डूबे हुए हैं।

१२. जे केई सरीरे सत्ता
वण्णे रूवे य सव्वसो।
मणसा कायवक्केणं
सव्वे ते दुक्खसंभवा ॥

जो मन, वचन और काया से शरीर मे, शरीर के वर्ण और रूप में सर्वथा आसक्त हैं, वे सभी अपने लिए दुःख उत्पन्न करते हैं।

१३. आवन्ना दीहमद्धाणं
संसारम्मि अणंतए।
तम्हा सव्वदिसं पस्स
अप्पमत्तो परिव्वए ॥

उन्होंने इस अनन्त संसार में लम्बे मार्ग को स्वीकार किया है। इसलिए सब ओर (सर्वदिशाओ को—जीवो के उत्पत्ति स्थानों को) देख-भालकर साधक अप्रमत्त भाव से विचरण करे।

१४. बहिया उड्ढमादाय
नावकंखे कयाइ वि।
पुव्वकम्म - खयट्ठाए
इमं देहं समुद्धरे ॥

ऊर्ध्व (मुक्ति का) लक्ष्य रखने वाला साधक कभी भी बाह्य विषयों की आकांक्षा न करे। पूर्व कर्मों के क्षय के लिए ही इस शरीर को धारण करे।

१५. विविच्च कम्मुणो हेउं
कालकंखी परिव्वए।
मायं पिंडस्स पाणस्स
कडं लद्धूण भक्खए ॥

प्राप्त अवसर का ज्ञाता साधक कर्म के हेतुओं को दूर करके विचरण करे। गृहस्थ के द्वारा अपने लिए तैयार किया गया आहार और पानी आवश्यकतापूर्ति-मात्र उचित परिमाण में ग्रहण कर सेवन करे।

१६. सन्निहिं च न कुव्वेज्जा
लेवमायाए संजए।
पक्खी पत्तं समादाय
निरवेक्खो परिव्वए ॥

साधु लेशमात्र भी संग्रह न करे, पक्षी की तरह संग्रह से निरपेक्ष रहता हुआ पात्र लेकर भिक्षा के लिए विचरण करे।

१७. एसणासमिओ लज्जू गामे अणियओ चरे। अप्पमत्तो पमत्तेहिं पिंडवायं गवेसए ॥	एषणा समिति से युक्त लज्जावान् संयमी मुनि गांवों में अनियत विहार करे, अप्रमत्त रहकर गृहस्थों से पिण्डपात—भिक्षा की गवेषणा करे।
१८. एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे। अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए ॥ —त्ति बेमि।	अनुत्तर ज्ञानी, अनुत्तरदर्शी, अनुत्तर ज्ञान-दर्शन के धर्ता, अर्हन्-तत्त्व के व्याख्याता, ज्ञातपुत्र वैशालिक (तीर्थङ्कर महावीर) ने ऐसा कहा है। —ऐसा मैं कहता हूं।

७

उरभ्रीय

पश्चात्ताप और मृत्यु का कारण आसक्ति है।

अनासक्ति में सुख है।

इन्द्रिया क्षणिक है। इन्द्रियों के विषय क्षणिक हैं। फलतः इन्द्रियों से मिलने वाला सुख भी क्षणिक है। इन क्षणिक सुखों के प्रलोभनों को, इनके भविष्य में होने वाले विकृत परिणामो को साधक न भूले। ऐसा न हो कि भ्रान्तिवश साधक थोडे-से के लिए अपनी कोई बडी हानि कर ले। इस विषय को इस अध्ययन में बहुत सुन्दर एव व्यावहारिक पांच सरल उदाहरणों से स्पष्ट किया है। वे पांच उदाहरण इस प्रकार है-

१—एक मालिक मेमने (भेड का बच्चा मेंढा) को बहुत अच्छा ताजा और हरा स्निग्ध भोजन खिलाता है। मेमना पुष्ट होता रहता है। मालिक के पास एक बछडा और गाय भी है। मालिक गाय को सूखी घास देता है। बछड़ा मालिक के इस व्यवहार को देखता है। अपनी प्यारी मां से मालिक के व्यवहार की शिकायत करता है—"मा ! मालिक मेमने को कितना अच्छा खिलाता है और तुम्हे केवल सूखी घास देता है। जबकि तुम उसे दूध देती हो। ऐसा क्यो है ? और मेरे साथ भी तो कोई अच्छा सलूक नहीं है इसका। मुझे भी इधर-उधर से रूखा-सूखा चारा डाल देता है, और बस....।" गाय अपने प्रिय बछड़े को समझाती है—"मालिक उसे अच्छा खिलाता है, उसका कारण है। बेटा, जिसकी मृत्यु निकट है, उसको बहुत अच्छा मनचाहा खिलाया ही जाता है। कुछ ही दिनो मे देखना, क्या होने वाला है इसका।"

एक दिन बछड़ा एक भयानक दृश्य देखता है और भय से कांप जाता है। माँ से आकर पूछता है—"माँ ! मालिक ने आज मेमने को अतिथि के स्वागत में काट दिया है। क्या मैं भी इसी तरह काटा जाऊंगा ?" मां ने कहा—"नहीं, बेटा ! तू तो सूखी घास खाकर जीता है। जो रूखा-सूखा खाकर जीता है, उसे यह दुःख सहन नहीं करना पड़ता है। जो मन चाहे गुल छर्रे उड़ाते हैं, एक दिन उन्हीं के गले काटे जाते हैं।"

सुस्वादु भोगों की आसक्ति साधक के जीवन के सार सर्वस्व का संहार कर डालती है।

२—एक भिखारी ने बड़ी मुश्किल से एक हजार कार्षापण (प्राचीन समय का एक क्षुद्र सिक्का। बीस काकिणी में एक कार्षापण बदला जाता था) इकट्ठे किए थे। वह अपने गांव लौट रहा था। खाने पीने की व्यवस्था के लिए उसने कुछ काकिणी अपने पास रख छोड़ी थी। एक दिन गांव में कहीं ठहरा। वहीं एक काकिणी भूल गया और चल दिया। रास्ते में जाते हुए काकिणी याद आयी तो एक हजार कार्षापण वहीं कहीं छुपाकर वह काकिणी लेने के लिए वापस लौट पड़ा। वह काकिणी उसे नहीं मिली। उसे कोई उठा ले गया होगा। वह निराश लौटा, जहां उसने एक हजार कार्षापण छुपा कर रखे थे। उसके दुःख की कोई सीमा न रही, जब उसने देखा कि एक हजार कार्षापण में से एक कार्षापण भी वहाँ नहीं है। कोई रखते समय देख रहा था, पीछे से चुरा ले गया।

जो अल्प सुख के लिए दिव्य सुखों को छोड़ते हैं, वे उक्त भिखारी की तरह अन्त में दुःखी होते हैं।

३—चिकित्सकों ने एक रोगी राजा को आम न खाने का सुझाव दिया था। एक दिन राजा मन्त्री के साथ जंगल में था। वहाँ पेड़ पर पके हुए मीठे आम लगे देखे तो राजा चिकित्सकों के सुझाव को भूल गया। मन्त्री ने रोका भी, किन्तु राजा ने उसकी बात न मानी और आम खा लिया। आम राजा के लिए अपथ्य था। अतः वह वहीं मर गया। क्षणिक सुख के लिए राजा ने अपना अनमोल जीवन गंवा दिया।

४—मनुष्यजीवन के सुख ओस के जलकण की तरह अल्प और क्षणिक हैं। और दिव्य सुख सागर के जल की तरह विशाल और स्थायी हैं।

५—पिता का आदेश पाकर तीन पुत्र व्यापार करने गये। एक व्यापार में बहुत धन कमाकर लौटा। दूसरा जैसे गया था, वैसे ही मूल पूंजी बचाकर लौट आया। और तीसरा जो पूंजी लेकर गया था, वह भी खो आया।

मनुष्य-जीवन मूल धन के समान है। मनुष्य जीवन से जो देवगति पाता है, वह उसका अतिरिक्त लाभ है। मनुष्य से मनुष्य की गति मूल धन की सुरक्षा है! और नरक अथवा तिर्यञ्च की गति मूल धन को भी गंवा देना है।

सत्तमं अज्झयणं : सातवां अध्ययन

उरब्भिज्जं : उरभ्रीय

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. जहाएसं समुद्दिस्स कोइ पोसेज्ज एलयं । ओयणं जवसं देज्जा पोसेज्जा वि सयंगणे ॥	जैसे कोई व्यक्ति संभावित अतिथि के उद्देश्य से मेमने का पोषण करता है। उसे चावल, जौ या हरी घास आदि देता है। और उसका यह पोषण अपने आंगन में ही करता है।
२. तओ से पुट्ठे परिवूढे जायमेए महोदरे । पीणिए विउले देहे आएसं परिकंखए ॥	इस प्रकार वह मेमना अच्छा खाते-पीते पुष्ट, बलवान, मोटा, बड़े पेटवाला हो जाता है। अब वह तृप्त एवं मांसल देहवाला मेमना बस आदेश—अतिथि की प्रतीक्षा करता है।
३. जाव न एइ आएसे ताव जीवइ से दुही । अह पत्तंमि आएसे सीसं छेत्तूण भुज्जई ॥	जब तक अतिथि नहीं आता है, तब तक वह बेचारा जीता है। मेहमान के आते ही वह सिर काटकर खा लिया जाता है।
४. जहा खलु से उरब्भे आएसाए समीहिए । एवं बाले अहम्मिट्ठे ईहई नरयाउयं ॥	मेहमान के लिए प्रकल्पित मेमना, जैसे कि मेहमान की प्रतीक्षा करता है, वैसे ही अधर्मिष्ठ अज्ञानी जीव भी यथार्थ में नरक के आयुष्य की प्रतीक्षा करता है।

५. हिंसे बाले मुसावाई
अद्धाणंमि विलोवए ।
अन्नदत्तहरे तेणे
माई कण्हुहरे सढे ॥

हिंसक, अज्ञानी, मिथ्याभाषी, मार्ग लूटनेवाला बटमार, दूसरों को दी हुई वस्तु को बीच में ही हड़प जाने वाला, चोर, मायावी ठग, कुतोहर—अर्थात् कहाँ से चुराऊं—इसी विकल्पना में निरन्तर लगा रहने वाला, धूर्त—

६. इत्थीविसयगिद्धे य
महारंभ—परिग्गहे ।
भुंजमाणे सुरं मंसं
परिवूढे परंदमे ॥

स्त्री और अन्य विषयों मे आसक्त, महाआरम्भ और महापरिग्रह वाला, सुरा और मांस का उपभोग करने वाला, बलवान्, दूसरों को सताने वाला—

७. अयकक्कर—भोई य
तुंदिल्ले चियलोहिए ।
आउयं नरए कंखे
जहाएसं व एलए ॥

बकरे की तरह कर-कर शब्द करते हुए मासादि अभक्ष्य खाने वाला, मोटी तोंद और अधिक रक्त वाला व्यक्ति उसी प्रकार नरक के आयुष्य की आकांक्षा करता है, जैसे कि मेमना मेहमान की प्रतीक्षा करता है ।

८. आसणं सयणं जाणं
वित्तं कामे य भुंजिया ।
दुस्साहडं धणं हिच्चा
बहुं संचिणिया रयं ॥

आसन, शय्या, वाहन, धन और अन्य कामभोगों को भोगकर, दुःख से एकत्रित किए धन को छोडकर, कर्मों की बहुत धूल संचित कर—

९. तओ कम्मगुरू जन्तू
पच्चुप्पन्नपरायणे ।
अय व्व आगयाएसे
मरणन्तंमि सोयई ॥

केवल वर्तमान को ही देखने में तत्पर, कर्मों से भारी हुआ जीव मृत्यु के समय वैसे ही शोक करता है, जैसे कि मेहमान के आने पर मेमना करता है ।

१०. तओ आउपरिक्खीणे
चुया देहा विहिंसगा ।
आसुरियं दिसं बाला
गच्छन्ति अवसा तमं ॥

नाना प्रकार से हिंसा करने वाले अज्ञानी जीव आयु के क्षीण होने पर जब शरीर छोड़ते हैं तो वे कृत कर्मों से विवश अंधकाराच्छन्न नरक की ओर जाते हैं ।

११. जहा कागिणिए हेउं सहस्सं हारए नरो । अपत्थं अम्बगं भोच्चा राया रज्जं तु हारए ॥	एक क्षुद्र काकिणी के लिए जैसे मूढ मनुष्य हजार (कार्षापण) गँवा देता है और राजा एक अपथ्य आम्रफल खाकर बदले में जैसे राज्य को खो देता है ।
१२. एवं माणुस्सगा कामा देवकामाण अन्तिए । सहस्सगुणिया भुज्जो आउं कामा य दिव्विया ॥	इसी प्रकार देवताओं के कामभोगों की तुलना में मनुष्य के कामभोग नगण्य हैं । मनुष्य की अपेक्षा देवताओं की आयु और कामभोग हजार गुणा अधिक हैं ।
१३. अणेगवासानउया जा सा पन्नवओ ठिई । जाणि जीयन्ति दुम्मेहा ऊणे वाससयाउए ॥	"प्रज्ञावान् साधक की देवलोक में अनेक युत वर्ष (असंख्य काल) की स्थिति होती है"—यह जानकर भी मूर्ख मनुष्य सौ वर्ष से भी कम आयुकाल में उन दिव्य सुखों को गँवा रहे हैं ।
१४. जहा य तिन्नि वाणिया मूलं घेत्तूण निग्गया । एगोऽत्थ लहई लाहं एगो मूलेण आगओ ॥	तीन वणिक् मूल धन लेकर व्यापार को निकले । उनमें से एक अतिरिक्त लाभ प्राप्त करता है । एक सिर्फ मूल ही लेकर लौट आता है ।
१५. एगो मूलं पि हारित्ता आगओ तत्थ वाणिओ । ववहारे उवमा एसा एवं धम्मे वियाणह ॥	और एक मूल भी गँवाकर लौट आता है । यह व्यवहार की उपमा है । इसी प्रकार धर्म के विषय में भी जानना चाहिए ।
१६. माणुसत्तं भवे मूलं लाभो देवगई भवे । मूलच्छेएण जीवाणं नरग-तिरिक्खत्तणं धुवं ॥	मनुष्यत्व मूल धन है । देवगति लाभरूप है । मूल के नाश से जीवों को निश्चय ही नरक और तिर्यंच गति प्राप्त होती है ।

१७. दुहओ गई बालस्स
आवई वहमूलिया ।
देवत्तं माणुसत्तं च
जं जिए लोलयासढे ॥

अज्ञानी जीव की दो प्रकार की गति है—नरक और तिर्यंच। वहाँ उसे वध-मूलक कष्ट प्राप्त होता है। क्योंकि वह लोलुपता और वंचकता के कारण देवत्व और मनुष्यत्व को पहले ही हार चुका होता है।

१८. तओ जिए सइं होइ
दुविहं दोग्गइं गए ।
दुल्लहा तस्स उम्मज्जा
अद्धाए सुचिरादवि ॥

नरक और तिर्यंच—रूप दो प्रकार की दुर्गति को प्राप्त अज्ञानी जीव देव और मनुष्य गति को सदा ही हारे हुए है। क्योकि भविष्य मे उनका दीर्घ काल तक वहा से निकलना दुर्लभ है।

१९. एवं जियं सपेहाए
तुलिया बालं च पंडियं ।
मूलियं ते पवेसन्ति
माणुसं जोणिमेन्ति जे ॥

इस प्रकार हारे हुए बालजीवो को देखकर तथा बाल एव पडित को तुलना कर जो मानुषी योनि मे आते है, वे मूलधन के साथ लौटे वणिक् की तरह है।

२०. वेमायाहिं सिक्खाहिं
जे नरा गिहिसुव्वया ।
उवेन्ति माणुसं जोणिं
कम्मसच्चा हु पाणिणो ॥

जो मनुष्य विविध परिमाण वाली शिक्षाओ द्वारा घर मे रहते हुए भी सुव्रती है, वे मानुषी योनि मे उत्पन्न होते है। क्योकि प्राणी कर्मसत्य होते हैं—कृत कर्मो का फल अवश्य पाते हैं।

२१. जेसिं तु विउला सिक्खा
मूलियं ते अइच्छिया ।
सीलवन्ता सवीसेसा
अद्दीणा जन्ति देवयं ॥

जिनकी शिक्षा विविध परिमाण वाली व्यापक है, जो घर मे रहते हुए भी शील से सम्पन्न एव उत्तरोत्तर गुणो से युक्त है, वे अदीन पुरुष मूलधन-रूप मनुष्यत्व से आगे बढ़कर देवत्व को प्राप्त होते है।

२२. एवमद्दीणवं भिक्खुं
अगारिं च वियाणिया ।
कहण्णु जिच्चमेलिक्खं
जिच्चमाणे न संविदे ?

इस प्रकार दैन्यरहित पराक्रमी भिक्षु और गृहस्थ को लाभान्वित जानकर कैसे कोई विवेकी पुरुष उक्त लाभ को हारेगा ? और हारता हुआ कैसे नहीं सवेदन (पश्चात्ताप) करेगा ?

२३. जहा कुसग्गे उदगं
समुद्देण समं मिणे ।
एवं माणुस्सगा कामा
देवकामाण अन्तिए ॥

देवताओ के काम-भोग की तुलना मे मनुष्य के काम-भोग वैसे ही क्षुद्र हैं, जैसे समुद्र की तुलना मे कुश के अग्रभाग पर टिका हुआ जलबिन्दु ।

२४. कुसग्गमेत्ता इमे कामा
सन्निरुद्धंमि आउए ।
कस्स हेउं पुराकाउं
जोगक्खेमं न संविदे ? ॥

मनुष्यभव की इस अत्यल्प आयु में कामभोग कुशाग्र पर स्थित जलबिन्दु-मात्र है, फिर भी अज्ञानी किस कारण को आगे रखकर अपने लाभकारी योग-क्षेमको नहीं समझता है ?

२५. इह कामाणियट्टस्स
अत्तट्ठे अवरज्झई ।
सोच्चा नेयाउय मग्गं
जं भुज्जो परिभस्सई ॥

मनुष्य भव मे काम भोगों से निवृत्त न होने वाले का आत्मार्थ—अपना प्रयोजन विनष्ट हो जाता है । क्योंकि वह सन्मार्ग को बार-बार सुनकर भी उसे छोड़ देता है ।

२६. इह कामणियट्टस्स
अत्तट्ठे नावरज्झई ।
पूइदेह—निरोहेणं
भवे देवे त्ति मे सुयं ॥

मनुष्य भव मे काम भोगो से निवृत्त होने वाले का आत्म-प्रयोजन नष्ट नहीं होता है । वह पूतिदेह—मलिन औदारिक शरीर के छोड़ने पर देव होता है—ऐसा मैंने सुना है ।

२७. इड्ढी जुई जसो वण्णो
आउं सुहमणुत्तरं ।
भुज्जो जत्थ मणुस्सेसु
तत्थ से उववज्जई ॥

देवलोक से आकर वह जीव जहाँ श्रेष्ठ ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण, आयु और सुख होते हैं, उस मनुष्य-कुल में उत्पन्न होता है ।

२८. बालस्स पस्स बालत्तं
अहम्मं पडिवज्जिया ।
चिच्चा धम्मं अहम्मिट्ठे
नरए उववज्जई ॥

बालजीव की अज्ञानता तो देखो। वह अधर्म को ग्रहण कर एवं धर्म को छोड़कर अधर्मिष्ठ बनता है और नरक में उत्पन्न होता है।

२९. धीरस्स पस्स धीरत्तं
सव्वधम्माणुवत्तिणो ।
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे
देवेसु उववज्जई ॥

सब धर्मों का अनुवर्तन—पालन करने वाले धीर पुरुष का धैर्य देखो। वह अधर्म को छोडकर धर्मिष्ठ बनता है और देवो मे उत्पन्न होता है।

३०. तुलियाण बालभावं
अबालं चेव पण्डिए ।
चइऊण बालभावं
अबालं सेवए मुणि ॥
—त्ति बेमि-

पण्डित मुनि बालभाव और अबाल भाव की तुलना—अर्थात् गुण-दोष की दृष्टि से ठीक परीक्षा करके बाल भाव को छोड कर अबाल भाव को स्वीकारता है।

—ऐसा मै कहता हूं।

८

कापिलीय

लोभ लोभ से नहीं, अलोभ से शान्त होता है।

पिता की मृत्यु के बाद विधवा माँ का पुत्र कौशाम्बी निवासी ब्राह्मण-कुमार कपिल, पिता के मित्र प. इन्द्रदत्त के पास अध्ययन के लिए श्रावस्ती में रहता था। भोजन के लिए श्रेष्ठी शालिभद्र के यहाँ जाता था। श्रेष्ठी ने एक दासी नियुक्त कर दी थी, जो उसे भोजन कराती थी। धीरे-धीरे दोनों का परिचय बढ़ा और अन्त में वह परिचय प्रेम में बदल गया।

एक बार श्रावस्ती में कोई विशाल जनमहोत्सव होना था, दासी ने उसमें जाना चाहा। किन्तु कपिल के पास उसे महोत्सव-योग्य देने के लिए कुछ भी तो नही था। उसे पता चला कि श्रावस्ती में एक धनी सेठ है, जो प्रातः काल सबसे पहले बधाई देने वाले व्यक्ति को दो माशा सोना देता है। कपिल सबसे पहले पहुँचने के इरादे से मध्यरात में ही घर से चल पड़ा। नगर-रक्षकों ने उसे चोर समझा और पकड़ कर राजा के समक्ष उपस्थित किया।

कपिल शान्त था। राजा ने पूछा तो उसने सारी घटना ज्यों-की-त्यों सुना दी। राजा गरीब कपिल की सरलता एवं स्पष्टवादिता पर मुग्ध हो गया और उसे मन चाहा मांगने के लिए कहा। कपिल विचार करने के लिए कुछ समय लेकर पास के बगीचे में गया। काफी देर तक सोचता रहा कि क्या और कितना माँगू ? पर वह कुछ निश्चित नहीं कर पा रहा था। सोची हुई स्वर्ण मुद्राओं की संख्या उसे बराबर कम लग रही थी। आगे बढ़-बढ़ कर वह सोचता रहा, सोचता रहा। दो माशा सोने से करोड़ों

स्वर्ण मुद्राओं पर पहुँच गया। फिर भी उसे सन्तोष नही था, विराम नहीं मिल रहा था। अन्त में चिन्तन ने सहसा दूसरा मोड़ लिया और लोभ की पराकाष्ठा अलोभ में परिवर्तित हो गई। और वह मुख पर त्याग का तेज लिए राजा के पास पहुंचा और राजा से बोला—"आप से कुछ लेने की अब मुझे कोई चाह नहीं रही है। जो पाना था, वह मैंने पा लिया। अब मुझे किसी से कुछ नहीं चाहिए।"

और वह निर्ग्रन्थ मुनि बन गया।

श्रावस्ती और राजगृही के बीच एक जंगल में कपिल मुनि विहार कर रहे थे। उस जंगल में ५०० चोर रहते थे। उन्होने कपिल मुनि को देखा, तो उन्हें घेर लिया। कपिल मुनि ने उन्हें गाकर समझाया—"विरक्ति, संयम और विवेक दुर्गति से बचने के मार्ग हैं। भोगो से विरक्ति तथा परिग्रह का त्याग ही बन्धन से मुक्ति दिलाता है।" चोर समझ गये और अन्त में वे सब भी मुनि बन गये।

कपिल मुनि का चोरों को दिया हुआ वह उपदेश ही इस अध्ययन में संकलित है।

●

अट्ठमं अज्झयणं : आठवां अध्ययन

काविलीयं : कापिलीय

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराए । किं नाम होज्ज तं कम्मयं- जेणाऽहं दोग्गइं न गच्छेज्जा ॥	अध्रुव, अशाश्वत और दुःखबहुल ससार मे वह कौनसा कर्म–अनुष्ठान है, जिससे मैं दुर्गति मे न जाऊँ ?
२. विजहित्तु पुव्वसंजोगं न सिणेहं कहिंचि कुव्वेज्जा । असिणेह सिणेहकरेहिं दोसपओसेहिं मुच्चए भिक्खू ॥	पूर्व सम्बन्धो को एक बार छोड़कर फिर किसी पर भी स्नेह न करे। स्नेह करने वालो के साथ भी स्नेह न करने वाला भिक्षु सभी प्रकार के दोषों और प्रदोषो से मुक्त हो जाता है।
३. तो नाण — दंसणसमग्गो हियनिस्सेसाए सव्वजीवाणं । तेसिं विमोक्खणट्ठाए भासई मुणिवरो विगयमोहो ॥	केवलज्ञान और केवल दर्शन से सम्पन्न तथा मोहमुक्त कपिल मुनि ने सब जीवों के हित और कल्याण के लिए तथा मुक्ति के लिए कहा—
४. सव्वं गन्थं कलहं च विप्पजहे तहाविहं भिक्खू । सव्वेसु कामजाएसु पासमाणो न लिप्पई ताई ॥	मुनि कर्मबन्धन के हेतुस्वरूप सभी प्रकार के ग्रन्थ (परिग्रह) का तथा कलह का त्याग करे। काम भोगों के सब प्रकारों में दोष देखता हुआ आत्मरक्षक मुनि उनमें लिप्त न हो।

५. भोगामिसदोसविसण्णे
हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।
बाले य मन्दिए मूढे
बज्झई मच्छिया व खेलमि ॥

आसक्तिजनक आमिषरूप भोगों में निमग्न, हित और निश्रेयस में विपरीत बुद्धि वाला, अज्ञ, मन्द और मूढ जीव कर्मों से वैसे ही बंध जाता है, जैसे श्लेष्म—कफ मे मक्खी ।

६. दुपरिच्चया इमे कामा
नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।
अह सन्ति सुव्वया साहू
जे तरन्ति अतरं वणिया व ॥

काम—भोगो का त्याग दुष्कर है, अधीर पुरुषों के द्वारा कामभोग आसानी से नही छोड़े जाते । किन्तु जो सुव्रती साधु हैं, वे दुस्तर कामभोगों को उसी प्रकार तैर जाते है, जैसे वणिक् समुद्र को ।

७. 'समणा मु' एगे वयमाणा
पाणवहं मिया अयाणन्ता ।
मन्दा नरयं गच्छन्ति
बाला पावियाहिं दिट्ठीहिं ॥

'हम श्रमण है'—ऐसा कहते हुए भी कुछ पशु की भांति अज्ञानी जीव प्राण-बध को नही समझते है । वे मन्द और अज्ञानी पापदृष्टियों के कारण नरक में जाते हैं ।

८. 'न हु पाणवहं अणुजाणे
मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाण ।'
एवारिएहिं अक्खायं
जेहिं इमो साहुधम्मो पन्नत्तो ॥

जिन्होंने साधु धर्म की प्ररूपणा की है, उन आर्य पुरुषों ने कहा है—"जो प्राणवध का अनुमोदन करता है, वह कभी भी सब दुःखो से मुक्त नहीं हो सकता है ।"

९. पाणे य नाइवाएज्जा
से 'समिए' त्ति वुच्चई ताई ।
तओ से पावयं कम्मं
निज्जाइ उदगं व थलाओ ॥

जो जीवों की हिंसा नहीं करता, वह साधक 'समित'—'सम्यक् प्रवृत्ति वाला' कहा जाता है । उससे अर्थात् उसके जीवन में से पाप-कर्म वैसे ही निकल जाता है, जैसे ऊँचे स्थान से जल ।

१०. जगनिस्सिएहिं भूएहिं
तसनामेहिं थावरेहिं च ।
नो तेसिमारभे दंडं
मणसा वयसा कायसा चेव ॥

जगत् के आश्रित—अर्थात् संसार में जो भी त्रस और स्थावर नाम के प्राणी हैं, उनके प्रति मन, वचन, काय—रूप किसी भी प्रकार के दण्ड का प्रयोग न करे।

११. सुद्धेसणाओ नच्चाणं
तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाणं ।
जायाए घासमेसेज्जा
रसगिद्धे न सिया भिक्खाए ॥

शुद्ध एषणाओं को जानकर भिक्षु उनमें अपने आप को स्थापित करे—अर्थात् उनके अनुसार प्रवृत्ति करे। भिक्षाजीवी मुनि संयमयात्रा के लिए आहार की एषणा करे, किन्तु रसों में मूर्छित न बने।

१२. पन्ताणि चेव सेवेज्जा
सीयपिण्डं पुराणकुम्मासं ।
अदु वुक्कसं पुलागं वा
जवणट्ठाए निसेवए मंथुं ॥

भिक्षु जीवन-यापन के लिए प्रायः नीरस, शीत, पुराने कुलमाष—उड़द, वुक्कस—सारहीन, पुलाक—रूखा और मंथु-बेर आदि का चूर्ण ही भिक्षा में ग्रहण करता है।

१३. 'जे लक्खणं च सुविणं च
अंगविज्जं च जे पउंजन्ति ।
न हु ते समणा वुच्चन्ति'
एवं आयरिएहिं अक्खायं ॥

"जो साधु लक्षणशास्त्र, स्वप्न-शास्त्र और अंग विद्या का प्रयोग करते हैं, उन्हें साधु नहीं कहा जाता है"—ऐसा आचार्यों ने कहा है।

१४. इहजीवियं अणियमेत्ता
पब्भट्ठा समाहिजोएहिं ।
ते कामभोग-रसगिद्धा
उववज्जन्ति आसुरे काए ॥

जो वर्तमान जीवन को नियंत्रित न रख सकने के कारण समाधियोग से भ्रष्ट हो जाते हैं, वे कामभोग और रसों में आसक्त रहने वाले लोग असुरकाय में उत्पन्न होते हैं।

१५. तत्तो वि य उवट्टित्ता
संसारं बहुं अणुपरियडन्ति
बहुकम्मलेवलित्ताणं
बोही होइ सुदुल्लहा तेसिं ॥

वहां से निकल कर भी वे संसार में बहुत काल तक परिभ्रमण करते हैं। बहुत अधिक कर्मों से लिप्त होने के कारण उन्हें बोधि धर्म की प्राप्ति होना अतीव दुर्लभ है।

१६. कसिणं पि जो इमं लोयं
पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स ।
तेणावि से न संतुस्से
इइ दुप्पूरए इमे आया ॥

धन-धान्य आदि से प्रतिपूर्ण यह समग्र विश्व (लोक) भी यदि किसी एक को दे दिया जाए, तो भी वह उससे सन्तुष्ट नहीं होगा। इतनी दुष्पूर है यह लोभाभिभूत आत्मा।

१७. जहा लाहो तहा लोहो
लाहा लोहो पवड्ढई ।
दोमास - कयं कज्जं
कोडीए वि न निट्ठियं ॥

जैसे-जैसे लाभ होता है, वैसे-वैसे लोभ होता है। लाभ से लोभ बढ़ता जाता है। दो माशा सोने से निष्पन्न होने वाला कार्य करोड़ों स्वर्ण—मुद्राओं से भी पूरा नहीं हो सका।

१८. नो रक्खसीसु गिज्झेज्जा
गंडवच्छासु ऽणेगचित्तासु ।
जाओ पुरिसं पलोभित्ता
खेल्लन्ति जहा व दासेहिं ॥

जिनके हृदय में कपट है, अथवा जो वक्ष मे फोड़े के रूप स्तनो वाली हैं, जो अनेक कामनाओं वाली हैं, जो पुरुष को प्रलोभन में फँसा कर उसे खरीदे हुए दास की भाँति नचाती हैं, ऐसी वासना की दृष्टि से राक्षसी-स्वरूप साधनाविघातक स्त्रियों में आसक्ति नहीं रखनी चाहिए।

१९. नारीसु नोवगिज्झेज्जा
इत्थीविप्पजहे अणगारे ।
धम्मं च पेसलं नच्चा
तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाणं ॥

स्त्रियों को त्यागने वाला अनगार उनमें आसक्त न हो। भिक्षु-धर्म को पेशल अर्थात् एकान्त कल्याणकारी मनोज्ञ जानकर उसमें अपनी आत्मा को स्थापित करे।

२०. इइ एस धम्मे अक्खाए
कविलेणं च विसुद्धपन्नेणं।
तरिहिन्ति जे उ काहिन्ति
तेहिं आराहिया दुवे लोग ॥

—त्ति बेमि।

विशुद्ध प्रज्ञा वाले कपिल मुनि ने इस प्रकार धर्म कहा है। जो इसकी सम्यक् आराधना करेंगे, वे संसारसमुद्र को पार करेंगे। उनके द्वारा ही दोनों लोक आराधित होंगे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

६

नमिप्रव्रज्या

साधक संसार को प्रिय और अप्रिय में विभाजित नहीं करता है !

मिथिला के राजा 'नमि' एकबार छह मास तक दाह ज्वर की भयंकर वेदना से पीडित रहे। उपचार होते रहे, पर कोई लाभ नहीं। एक वैद्य ने शरीर पर चन्दन का लेप बताया। रानियां चन्दन घिसने लगीं। चन्दन घिसते समय हाथों के ककरण परस्पर टकराए, शोर हुआ। वेदना से व्याकुल राजा कंकरण की आवाज सहन नही कर सके। रानियों ने सौभाग्यसूचक एक-एक कंकरण रखा और सब कंकरण उतार दिए। आवाज बन्द हो गयी। अकेला कंकरण भला कैसे आवाज करता ?

राजा के लिए यह घटना, घटना न रही। इस घटना ने राजा की मनोगति को ही बदल दिया। वह विचारने लगा कि—"जहां अनेक हैं, वहां संघर्ष है, दुःख है, पीडा है। जहां एक है, वहां पूर्ण शान्ति है। जहां शरीर, इन्द्रिय, मन और इनसे आगे धन एवं परिवार आदि की बेतुकी भीड़ है, वहीं दुःख है। जहां केवल एक आत्मभाव है, वहाँ दुःख नहीं है।"

राजा के अन्तर् में विवेकमूलक वैराग्य का उदात्त जागरण हुआ और वह निर्ग्रन्थ मुनि हो गया। सब कुछ यों-का-यों छोड़ कर नगर से बाहर चला गया।

यह सूचना स्वर्ग में भी गई कि नमिराजा यकायक मुनि हो गये हैं। 'इस त्याग में और तो कोई कारण नहीं है। त्याग की यह ज्ञानचेतना स्थिर

है, या यह कोई क्षणिक उबाल है'--यह जानने के लिए स्वर्ग का राजा इन्द्र ब्राह्मण के वेष में नमि राजर्षि के पास आया और क्षात्रधर्म की याद दिला कर आग्रह किया कि—'आपको राजधर्म का पालन करने के बाद ही मुनि धर्म की दीक्षा लेनी चाहिए।'

देवेन्द्र ने कुछ और भी इसी से मिलते-जुलते प्रश्न खड़े किये। देवेन्द्र की सभी बातें लोकजीवन की नीतियों से सम्बन्धित हैं, अतः वे आसानी से समझ में आने जैसी हैं। किन्तु राजर्षि नमि के सभी उत्तर आध्यात्मिक स्तर के हैं, अतः उन्हें समझना आसान नहीं है। एक अहिंसक एवं दयालु मुनि के ये शब्द कि "मिथिला जल रही है, तो उसमें मेरा क्या है, मेरा तो कुछ भी नहीं जल रहा है--" काफी अटपटे लगते हैं। किंतु नमिराजर्षि ने बहुत गहराई में जाकर इन शब्दों के माध्यम से अध्यात्म भावना के प्राण 'भेद-विज्ञान' की चर्चा की है। मिथिला ही नहीं, अगर नमि राजर्षि का शरीर भी जलता, तो भी उनके ये ही शब्द होते। राज्य-रक्षा, राज्य-विस्तार, शत्रु, और चोर-लुटेरों के दमन की अपेक्षा अन्तर् का राज्य, आत्मदमन, आत्मरक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। बाहर की दुनिया को बचा लेने पर भी अन्तर्जीवन अगर असुरक्षित है, तो बाहर की सुरक्षा का कोई अर्थ नहीं है। बाहर के हजारों शत्रुओं को जीतने की अपेक्षा आन्तरिक शत्रुओं पर प्राप्त की जाने वाली विजय ही वास्तविक विजय है। उक्त शब्दों में नमिराजर्षि पूर्ण अनासक्त नजर आते हैं।

वे परिवार आदि के बाह्य संसार से ही नहीं, किन्तु शरीर, मन, इन्द्रिय, उनके विषयभोग, मोह और अज्ञान-इन सबको भी पार कर गये हैं। बाहर की दुनिया में उनके लिए कोई शत्रु नहीं रहा है। उन्होंने आध्यात्मिक पूर्णता का पथ अपना लिया है, वे अनन्त के यात्री हो गये हैं।

नमि राजर्षि के उत्तर सुनकर देवेन्द्र प्रभावित होता है, उनके गुणों की प्रशंसा करता है और क्षमा मांगकर वापिस स्वर्गलोक को चला जाता है।

नवमं अज्झयणं : नववां अध्ययन

नमिपव्वज्जा : नमि-प्रव्रज्या

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. चइऊण देवलोगाओ उववन्नो माणुसंमि लोगंमि । उवसन्त — मोहणिज्जो सरई पोराणियं जाइं ॥	देवलोक से आकर नमि के जीव ने मनुष्य लोक में जन्म लिया। उसका मोह उपशान्त हुआ, तो उसे पूर्व जन्म का स्मरण हुआ।
२. जाइं सरित्तु भयवं सहसंबुद्धो अणुत्तरे धम्मे । पुत्तं ठवेत्तु रज्जे अभिणिक्खमई नमी राया ॥	भगवान् नमि पूर्वजन्म को स्मरण करके अनुत्तर धर्म में स्वयं संबुद्ध बने। राज्य का भार पुत्र को सौंपकर उन्होंने अभिनिष्क्रमण किया।
३. से देवलोग — सरिसे अन्तेउरवरगओ वरे भोए । भुंजित्तु नमी राया बुद्धो भोगे परिच्चयई ॥	नमिराजा श्रेष्ठ अन्तःपुर में रह कर, देवलोक के भोगों के समान सुन्दर भोगों को भोगकर एक दिन प्रबुद्ध हुए और उन्होंने भोगों का परित्याग कर दिया।
४. मिहिलं सपुरजणवयं बलमोरोहं च परियणं सव्वं । चिच्चा अभिनिक्खन्तो एगन्तमहिट्ठिओ भयवं ॥	भगवान् नमि ने पुर और जनपद-सहित अपनी राजधानी मिथिला, सेना, अन्तःपुर और समग्र परिजनों को छोड़कर अभिनिष्क्रमण किया और एकान्तवासी बन गए।

५. कोलाहलगभूयं
आसी मिहिलाए पव्वयन्तंमि ।
तइया रायरिसिंमि
नमिंमि अभिणिक्खमन्तंमि ॥

जिस समय राजर्षि नमि अभिनिष्क्रमण कर प्रव्रजित हो रहे थे, उस समय मिथिला में बहुत कोलाहल हुआ था।

६. अब्भुट्ठियं रायरिसिं
पव्वज्जा — ठाणमुत्तमं ।
सक्को माहणरूवेण
इमं वयणमब्बवी —॥

उत्तम प्रव्रज्या—स्थान (मुनिपद की भूमिका) के लिए प्रस्तुत हुए नमि राजर्षि को ब्राह्मण के रूप में आए हुए देवेन्द्र ने यह वचन कहा—

७. 'किण्णु भो ! अज्ज मिहिलाए
कोलाहलग — संकुला
सुव्वन्ति दारुणा सद्दा
पासाएसु गिहेसु य ?'

"हे राजर्षि ! आज मिथिला नगरी मे, प्रासादों मे और घरों में कोलाहल पूर्ण दारुण (हृदयविदारक) शब्द क्यों सुनाई दे रहे है ?"

८. एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारण — चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्दं इणमब्बवी—॥

देवेन्द्र के इस अर्थ (बात या प्रश्न) को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को इस प्रकार कहा—

९. 'मिहिलाए चेइए वच्छे
सीयच्छाए मणोरमे ।
पत्त—पुप्फ — फलोवेए
बहूणं बहुगुणे सया—॥

"मिथिला में एक चैत्य वृक्ष था। जो शीतल छायावाला, मनोरम, पत्र पुष्प एवं फलों से युक्त, बहुतों (बहुत पक्षियों) के लिए सदैव बहुत उपकारक था—

१०. वाएण हीरमाणंमि
चेइयंमि मणोरमे ।
दुहिया असरणा अत्ता
एए कन्दन्ति भो ! खगा ॥'

प्रचण्ड आंधी से उस मनोरम वृक्ष के गिर जाने पर दुःखित, अशरण और आर्त ये पक्षी क्रन्दन कर रहे हैं।" [यहां नमि ने अपने को चैत्य वृक्ष से और पुरजन-परिजनों को पक्षियों से उपमित किया है।]

११. एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारण—चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमब्बवी—॥

राजर्षि के इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमि राजर्षि को इस प्रकार कहा—

१२. 'एस अग्गी य वाऊ य
एयं डज्झइ मन्दिरं ।
भयवं ! अन्तेउरं तेणं
कीस णं नावपेक्खसि ? ॥'

"यह अग्नि है, यह वायु है और इनसे यह आपका राजभवन जल रहा है। भगवन् ! आप अपने अन्तःपुर (रनिवास) की ओर क्यों नहीं देखते ?"

१३. एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारण-चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्दं इणमब्बवी—॥

देवेन्द्र के इस अर्थ को सुनकर, हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को इस प्रकार कहा—

१४. 'सुहं वसामो जीवामो
जेसिं मो नत्थि किंचण ।
मिहिलाए डज्झमाणीए
न मे डज्झइ किंचण ॥

"जिनके पास अपना जैसा कुछ भी नही है, ऐसे हम लोग सुख से रहते हैं, सुख से जीते हैं। मिथिला के जलने में मेरा कुछ भी नही जल रहा है—

१५. चत्तपुत्तकलत्तस्स
निव्वावारस्स भिक्खुणो ।
पियं न विज्जई किंचि
अप्पियं पि न विज्जए ॥

पुत्र, पत्नी और गृह-व्यापार से मुक्त भिक्षु के लिए न कोई वस्तु प्रिय होती है और न कोई अप्रिय—

१६. बहुं खु मुणिणो भद्दं
अणगारस्स भिक्खुणो ।
सव्वओ विप्पमुक्कस्स
एगन्तमणुपस्सओ ॥'

'सब ओर से मैं अकेला ही हूँ'—इस प्रकार एकान्तद्रष्टा—एकत्वदर्शी, गृहत्यागी मुनि को सब प्रकार से सुख ही सुख है।"

१७. एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारण—चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमब्बवी—॥

इस अर्थ को सुनकर, हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमि राजर्षि को इस प्रकार कहा—

१८. 'पागारं कारइत्ताणं
गोपुरट्टालगाणि य ।
उस्सूलग—सयग्घीओ
तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥'

"हे क्षत्रिय ! पहले तुम नगर का परकोटा, गोपुर—नगर का द्वार, अट्टालिकाएँ, दुर्ग की खाई, शतघ्नी—एक बार में सैंकड़ों को मार देने वाला यंत्र-विशेष बनाकर फिर जाना, प्रव्रजित होना।"

१९. एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारण — चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्दं इणमब्बवी —॥

इस अर्थ को सुनकर, हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को इस प्रकार कहा—

२०. 'सद्धं नगरं किच्चा
तवसंवरमग्गलं ।
खन्ति निउणपागारं
तिगुत्तं दुप्पधंसयं ॥

"श्रद्धा को नगर, तप और संयम को अर्गला, क्षमा को (बुर्ज, खाई और शतघ्नी-स्वरूप) मन, वचन, काय की त्रिगुप्ति से सुरक्षित, एवं अजेय मजबूत प्राकार बनाकर—

२१. धणुं परक्कमं किच्चा
जीवं च ईरियं सया ।
धिइं च केयणं किच्चा
सच्चेण पलिमन्थए ।

पराक्रम को धनुष, ईर्या समिति को उसकी डोर, धृति को उसकी मूठ बनाकर, सत्य से उसे बाधकर—

२२. तवनारायजुत्तेण
भेत्तूणं कम्मकंचुयं ।
मुणी विगयसंगामो
भवाओ परिमुच्चए ॥'

तप के बाणों से युक्त धनुष से कर्म-रूपी कवच को भेदकर अन्तर्युद्ध का विजेता मुनि संसार से मुक्त होता है।"

२३. एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारण—चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमब्बवी—॥

इस अर्थ को सुनकर, हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमिराजर्षि को इस प्रकार कहा—

२४. 'पासाए कारइत्ताणं
वद्धमाणगिहाणि य।
बालग्गपोइयाओ य
तओ गच्छसि खत्तिया ॥'

"हे क्षत्रिय ! पहले तुम प्रासाद, वर्धमान गृह, बालग्गपोइया-अर्थात् चन्द्र-शालाएँ बनाकर फिर जाना, प्रव्रजित होना।"

२५. एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारण - चोइओ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्दं इणमब्बवी—॥

इस अर्थ को सुनकर, हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को इस प्रकार कहा—

२६. 'संसयं खलु सो कुणई
जो मग्गे कुणई घरं।
जत्थेव गन्तुमिच्छेज्जा
तत्थ कुव्वेज्ज सासयं ॥'

"जो मार्ग मे घर बनाता है, वह अपने को संशय—संदिग्ध स्थिति मे डालता है, अतः जहाँ जाने की इच्छा हो वहीं अपना स्थायी घर बनाना चाहिए।"

२७. एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारण - चोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमब्बवी—॥

इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमि राजर्षि को इस प्रकार कहा—

२८. 'आमोसे लोमहारे य
गंठिभेए य तक्करे।
नगरस्स खेमं काऊणं
तओ गच्छसि खत्तिया ॥'

"हे क्षत्रिय ! पहले तुम बटमारों, प्राणघातक डाकुओं, गांठ काटने वालों और चोरों से नगर की रक्षा करके फिर जाना, प्रव्रजित होना।"

२९. एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारण - चोइओ
तओ नमी रायरिसी
देविन्दं इणमब्बवी—॥

इस अर्थ को सुनकर, हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को इस प्रकार कहा—

३०. 'असइं तु मणुस्सेहिं
मिच्छादण्डो पजुंजई ।
अकारिणोऽत्थ बज्झन्ति
मुच्चई कारगो जणो ॥'

"इस लोक में मनुष्यों के द्वारा अनेक बार मिथ्या दण्ड का प्रयोग किया जाता है। अपराध न करने वाले निर्दोष पकड़े जाते हैं और सही अपराधी छूट जाते है।"

३१. एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारण---चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमब्बवी---।

इस अर्थ को सुनकर, हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमि राजर्षि को इस प्रकार कहा—

३२. 'जे केइ पत्थिवा तुब्भं
नाऽऽनमन्ति नराहिवा !
वसे ते ठावइत्ताणं
तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥'

"हे क्षत्रिय ! जो राजा अभी तुम्हे नमते नहीं हैं, अर्थात् तुम्हारा शासन नहीं स्वीकारते हैं, पहले उन्हें अपने वश में करके फिर जाना, प्रव्रज्या ग्रहण करना।"

३३. एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारण---चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्दं इणमब्बवी---॥

इस अर्थ को सुनकर, हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को इस प्रकार कहा—

३४. 'जो सहस्सं सहस्साणं
संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं
एस से परमो जओ---॥

"जो दुर्जय संग्राम मे दस लाख योद्धाओं को जीतता है, उसकी अपेक्षा जो एक अपने को जीतता है, उसकी विजय ही परम विजय है—

३५. अप्पाणमेव जुज्झाहि
किं ते जुज्झेण बज्झओ ?
अप्पाणमेव अप्पाणं
जइत्ता सुहमेहए---॥

बाहर के युद्धों से क्या ? स्वयं अपने से ही युद्ध करो। अपने से अपने को जीतकर ही सच्चा सुख प्राप्त होता है—

३६. पंचिन्दियाणि कोहं माणं मायं तहेव लोहं च। दुज्जयं चेव अप्पाणं सव्वं अप्पे जिए जियं॥'	पाँच इन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया, लोभ और मन—ये ही वास्तव में दुर्जेय हैं। एक अपने आप को जीत लेने पर सभी जीत लिए जाते हैं।"
३७. एयमट्ठं निसामित्ता हेऊ कारण-चोइओ। तओ नमिं रायरिसिं देविन्दो इणमब्बवी—॥	इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमि राजर्षि को इस प्रकार कहा—
३८ 'जइत्ता विउले जन्ने भोइत्ता समणमाहणे। दच्चा भोच्चा य जिट्ठाय तओ गच्छसि खत्तिया! ॥'	"हे क्षत्रिय! तुम विपुल यज्ञ कराकर, श्रमण और ब्राह्मणों को भोजन कराकर, दान देकर, भोग भोगकर और स्वयं यज्ञ कर के फिर जाना, मुनि बनना।"
३९. एयमट्ठं निसामित्ता हेऊकारण—चोइओ। तओ नमी रायरिसी देविन्दं इणमब्बवी—॥	इस अर्थ को सुनकर, हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को इस प्रकार कहा—
४०. 'जो सहस्सं सहस्साणं मासे मासे गवं दए। तस्सावि संजमो सेओ अदिन्तस्स वि किंचण ॥'	"जो मनुष्य प्रतिमास दस लाख गायों का दान करता है, उसको भी संयम ही श्रेय है—कल्याणकारक है। फिर भले ही वह किसी को कुछ भी दान न करे।"
४१. एयमट्ठं निसामित्ता हेऊकारण—चोइओ। तओ नमिं रायरिसिं देविन्दो इणमब्बवी—॥	इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमि राजर्षि को इस प्रकार कहा—

४२. 'घोरासमं चइत्ताणं
अन्नं पत्थेसि आसमं ।
इहेव पोसहरओ
भवाहि मणआहिवा ! ॥'

"हे मनुजाधिप ! तुम घोराश्रम अर्थात् गृहस्थ आश्रम को छोड़कर जो दूसरे संन्यास आश्रम की इच्छा करते हो, यह उचित नही है। गृहस्थ आश्रम में ही रहते हुए पौषधव्रत मे अनुरत रहो।"

४३. एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारण—चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्दं इणमब्बवी—॥

इस अर्थ को सुनकर, हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को इस प्रकार कहा—

४४. 'मासे मासे तु जो बालो
कुसग्गेणं तु भुंजए ।
न सो सुयक्खायधम्मस्स
कलं अग्घइ सोलसिं ॥'

"जो बाल (अज्ञानी) साधक महीने-महीने के तप करता है और पारणा मे कुश के अग्र भाग पर आए उतना ही आहार ग्रहण करता है, वह सुआख्यात धर्म (सम्यक् चारित्ररूप मुनिधर्म) की सोलहवी कला को भी पा नही सकता है।"

४५. एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारण—चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमब्बवी—॥

इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमि राजर्षि को इस प्रकार कहा—

४६. 'हिरण्णं सुवण्णं मणिमुत्तं
कंसं दूसं च वाहणं ।
कोसं वड्ढावइत्ताणं
तओ गच्छसि खत्तिया ॥'

"हे क्षत्रिय ! तुम चादी, सोना, मणि, मोती, कांसे के पात्र, वस्त्र, वाहन और कोश अर्थात् भण्डार की वृद्धि करके फिर जाना, मुनि बनना।"

४७. एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारण — चोइओ
तओ नमी रायरिसी
देविन्दं इणमब्बवी—॥

इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को इस प्रकार कहा—

४८. 'सुवण्ण-रुप्पस्स उ पव्वया भवे
सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि
इच्छा उ आगाससमा अणन्तिया ॥

"सोने और चांदी के कैलाश के समान असंख्य पर्वत हों, फिर भी लोभी मनुष्य की उनसे कुछ भी तृप्ति नहीं होती। क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है।"

४९. पुढवी साली जवा चेव
हिरण्णं पसुभिस्सह।
पडिपुण्णं नालमेगस्स
इइ विज्जा तवं चरे ॥'

"पृथ्वी, चावल, जौ, सोना और पशु—ये सब एक की इच्छापूर्ति के लिए भी पर्याप्त नहीं हैं—" यह जान कर साधक तप का आचरण करे।"

५० एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारण—चोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमब्बवी—॥

इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमि राजर्षि को इस प्रकार कहा—

५१. 'अच्छेरगमब्भुदए
भोए चयसि पत्थिवा!
असन्ते कामे पत्थेसि
संकप्पेण विहन्नसि ॥'

"हे पार्थिव! आश्चर्य है, तुम प्रत्यक्ष में प्राप्त भोगो को तो त्याग रहे हो और अप्राप्त भोगो की इच्छा कर रहे हो। मालूम होता है, तुम व्यर्थ के संकल्पों से ठगे जा रहे हो।"

५२. एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊ—कारणचोइओ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्दं इणमब्बवी—॥

इस अर्थ को सुनकर, हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को इस प्रकार कहा—

५३. 'सल्लं कामा विसं कामा
कामा आसीविसोवमा।
कामे पत्थेमाणा
अकामा जन्ति दोग्गइं ॥

"संसार के काम भोग शल्य हैं, विष हैं और आशीविष सर्प के तुल्य हैं। जो काम-भोगों को चाहते तो हैं, किन्तु परिस्थितिविशेष से उनका सेवन नहीं कर पाते हैं, वे भी दुर्गति में जाते हैं।

५४. अहे वयइ कोहेणं
माणेणं अहमा गई ।
माया गईपडिग्घाओ
लोभाओ दुहओ भयं ॥'

क्रोध से अधोगति में जाना होता है। मान से अधम गति होती है। माया से सुगति में बाधाएँ आती है। लोभ से ऐहिक और पारलौकिक—दोनों तरह का भय होता है।"

५५. अवउज्झिऊण माहणरूवं
विउव्विऊण इन्दत्तं ।
वन्दइ अभित्थुणन्तो
इमाहि महुराहिं वग्गूहिं—॥

देवेन्द्र ब्राह्मण का रूप छोड़कर, अपने वास्तविक इन्द्रस्वरूप को प्रकट करके इस प्रकार मधुर वाणी से स्तुति करता हुआ नमि राजर्षि को वन्दना करता है :

५६. 'अहो ! ते निज्जिओ कोहो
अहो ! ते माणो पराजिओ ।
अहो ! ते निरक्किया माया
अहो ! ते लोभो वसीकओ ॥

"अहो, आश्चर्य है—तुमने क्रोध को जीता। अहो ! तुमने मान को पराजित किया। अहो ! तुमने माया को निराकृत—दूर किया। अहो ! तुमने लोभ को वश में किया।

५७. अहो ! ते अज्जवं साहु
अहो ! ते साहु मद्दवं ।
अहो ! ते उत्तमा खन्ती
अहो ! ते मुत्ति उत्तमा ॥

अहो ! उत्तम है तुम्हारी सरलता। अहो ! उत्तम है तुम्हारी मृदुता। अहो ! उत्तम है तुम्हारी क्षमा। अहो ! उत्तम है तुम्हारी निर्लोभता।

५८. इहं सि उत्तमो भन्ते !
पेच्चा होहिसि उत्तमो ।
लोगुत्तमुत्तमं ठाणं
सिद्धिं गच्छसि नीरओ ॥'

भगवन् ! आप इस लोक मे भी उत्तम हैं और परलोक में भी उत्तम होंगे। कर्म-मल से रहित होकर आप लोक में सर्वोत्तम स्थान सिद्धि को प्राप्त करेंगे।"

५९. एवं अभित्थुणन्तो
रायरिसिं उत्तमाए सद्धाए ।
पयाहिणं करेन्तो
पुणो पुणो वन्दई सक्को ॥

इस प्रकार स्तुति करते हुए इन्द्र ने, उत्तम श्रद्धा से, राजर्षि को प्रदक्षिणा करते हुए, अनेक बार वन्दना की।

६०. तो वन्दिऊण पाए
चक्कंकुसलक्खणे मुणिवरस्स।
आगासेणुप्पइओ
ललियचवलकुंडलतिरीडी॥

इसके पश्चात् नमि मुनिवर के चक्र और अंकुश के लक्षणों से युक्त चरणों की वन्दना करके ललित एवं चपल कुण्डल और मुकुट को धारण करने वाला इन्द्र ऊपर आकाश मार्ग से चला गया।

६१. नमी नमेइ अप्पाणं
सक्खं सक्केण चोइओ।
चइऊण गेहं वइदेही
सामण्णे पज्जुवट्ठिओ॥

नमिराजर्षि ने आत्मभावना से अपने को विनत किया। साक्षात् देवेन्द्र के द्वारा प्रेरित होने पर भी गृह और वैदेही-विदेह देश की राज्यलक्ष्मी को त्याग कर श्रामण्य भाव में सुस्थिर रहे।

६२. एवं करेन्ति संबुद्धा
पंडिया पवियक्खणा।
विणियट्टन्ति भोगेसु
जहा से नमी रायरिसी॥

संबुद्ध, पण्डित और विचक्षण पुरुष इसी प्रकार भोगों से निवृत्त होते हैं, जैसे कि नमि राजर्षि।

—त्ति बेमि।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

१०

द्रुमपत्रक

वृक्ष से सूखा पत्ता गिर जाता है।

क्या मनुष्य के साथ भी ऐसा ही नहीं होता है?

भगवान् महावीर की वाणी को अच्छी तरह जांच कर, परख कर ही गौतम ने महावीर पर विश्वास किया था। गौतम का महावीर के प्रति परम अनुराग था। उनका ज्ञान अनुपम था। उनका संयम श्रेष्ठ था। दीप्तिमान सहज तपस्वी जीवन था उनका। सरल और सरस अन्तःकरण के धनी थे वे। श्रेष्ठता के किसी भी स्तर पर गौतम कम नहीं थे। फिर भी प्रस्तुत अध्ययन के अनुसार भगवान् महावीर ने ३६ बार 'क्षण मात्र का भी प्रमाद' न करने के लिए कहा है उन्हें। ऐसा क्यों?

इसके दो कारण हो सकते है। प्रथम है, संघ में सैकड़ों व्यक्ति सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो रहे है। अभी-अभी आए हैं, और आने के साथ ही अनन्त ज्ञान दर्शन को भी प्राप्त हो गये। संघ में आये दिन ऐसी घटनाएं हो रही हैं। गौतम इसे देख रहे है। हो सकता है, गौतम के मन को इन घटनाओं ने विचलित किया हो, और इस पर भगवान् महावीर ने कहा हो कि—"गौतम! शंका मत करो। तुम भी एक दिन अवश्य ही मेरी तरह बनोगे। अभी मेरी उपस्थिति है, मैं तुम्हें मार्ग दर्शक के रूप में प्राप्त हूं। अतः किसी भी प्रकार से अधीर हुए बिना जिस राजमार्ग पर तुम आ गए हो, उस पर पूर्ण दृढ़ता के साथ चलो। तुमने संसार-सागर पार कर लिया है, अब तो केवल किनारे का छिछला जल ही शेष है। तट पर आते-आते क्यों रुक गये हो? इसे भी पार कर जाओ। जीवन क्षणिक है। शरीर और इन्द्रियों की शक्ति प्रति-

क्षण क्षीण हो रही है। अगर अभी अवसर चूक गए, तो इस जीव को संख्यात, असंख्यात और अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करना पड़ेगा। अतः एक क्षण का भी प्रमाद न करो।"

दूसरा कारण है—जैन आगम अधिकतर गौतम की जिज्ञासाओं और महावीर के समाधानों से व्याप्त हैं। हो सकता है, गौतम ने दूसरों के लिए भी कुछ प्रश्न किए हों और महावीर ने सभी साधकों को लक्ष्य में रखकर कहा हो। चूंकि गौतम ने कुछ पूछा है, इसलिए गौतम को ही सम्बोधित करते रहे हों। इसका अर्थ है—सम्बोधन केवल गौतम को है, और प्रतिबोध सभी के लिए है।

प्रस्तुत द्रुमपत्रक अध्ययन में भगवान् महावीर द्वारा गौतम को किया गया उद्बोधन संकलित है। उद्बोधन क्या है, अन्तर्मन के जागरण का महान् उद्घोष है।

दसमं अज्झयणं : दशम अध्ययन

दुमपत्तयं : द्रुमपत्रक

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. दुमपत्तए पंडुयए जहा निवडइ राइगणाण अच्चए । एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम ! मा पमायए ॥	गौतम ! जैसे समय बीतने पर वृक्ष का सूखा हुआ सफेद पत्ता गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन है। अतः गौतम ! समय (क्षण) मात्र का भी प्रमाद मत कर।
२. कुसग्गे जह ओसबिन्दुए थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए । एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम ! मा पमायए ॥	कुश—डाभ के अग्र भाग पर टिके हुए ओस के बिन्दु की तरह मनुष्य का जीवन क्षणिक है। इसलिए गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।
३. इइ इत्तरियम्मि आउए जीवियए बहुपच्चवायए । विहुणाहि रयं पुरे कडं समयं गोयम ! मा पमायए ॥	इस अल्पकालीन आयुष्य में, अत्यधिक विघ्नों से प्रतिहत जीवन में ही पूर्वसंचित कर्मरज को दूर करना है, इसलिए गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।
४. दुल्लहे खलु माणुसे भवे चिरकालेण वि सव्वपाणिणं । गाढा य विवाग कम्मुणो समयं गोयम ! मा पमायए ॥	विश्व के सब प्राणियों को चिरकाल में भी मनुष्य भव की प्राप्ति दुर्लभ है। कर्मों का विपाक अतीव तीव्र है। इसलिए हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

५. पुढविक्कायमइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

पृथ्वीकाय में गया हुआ—अर्थात् उत्पन्न हुआ जीव (पुनः पुनः जन्म मरणकर) उत्कर्षतः—अधिक से अधिक असंख्य काल तक रहता है। अतः गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

६. आउक्कायमइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

अप्काय (जल) मे गया हुआ जीव उत्कर्षतः असंख्यात काल तक रहता है। अतः गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

७. तेउक्कायमइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

तेजस् काय (अग्नि) मे गया हुआ जीव उत्कर्षतः असंख्यात काल तक रहता है। अतः गौतम ! क्षणभर का भी प्रमाद मत कर।

८. वाउक्कायमइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

वायुकाय मे गया हुआ जीव उत्कर्षतः असंख्यात काल तक रहता है। अतः गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

९. वणस्सइकायमइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे
कालमणन्तदुरन्तं
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

वनस्पति काय मे गया हुआ जीव उत्कर्षतः दुःख से समाप्त होने वाले अनन्त काल तक रहता है। अतः गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

१०. बेइन्दियकायमइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखिज्जसन्नियं
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

द्वीन्द्रिय काय मे गया हुआ जीव उत्कर्षतः संख्यात काल तक रहता है। अतः गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद मत। कर।

११. तेइन्दियकायमइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखिज्जसन्नियं
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

त्रीन्द्रिय काय मे गया हुआ जीव उत्कर्षतः संख्यात काल तक रहता है। अतः गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

१२. चउरिन्दियकायमइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखिज्जसन्नियं
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

चतुरिन्द्रिय काय में गया हुआ जीव उत्कर्षतः संख्यात काल तक रहता है। इसलिए गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

१३. पंचिन्दियकायमइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
सत्तट्ठ—भवग्गहणे
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

पंचेन्द्रिय काय में गया हुआ जीव उत्कर्षतः सात आठ भव तक रहता है। इसलिए गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

१४. देवे नेरइए य अइगओ
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
इक्किक्क-भवग्गहणे
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

देव और नरक योनि में गया हुआ जीव उत्कर्षतः एक-एक भव (जन्म) ग्रहण करता है। अतः गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

१५. एवं भव-संसारे
संसरइ सुहासुहेहि कम्मेहिं।
जीवो पमाय-बहुलो
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

प्रमादबहुल जीव शुभाशुभ कर्मों के कारण संसार में परिभ्रमण करता है। इसलिए गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

१६. लद्धूण वि माणुसत्तणं
आरिअत्तं पुणरावि दुल्लहं।
बहवे दसुया मिलेक्खुया
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

दुर्लभ मनुष्य जीवन पाकर भी आर्यत्व पाना दुर्लभ है। क्योंकि मनुष्य होकर भी बहुत से लोग दस्यु और म्लेच्छ होते हैं। अतः गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

१७. लद्धूण वि आरियत्तणं
अहीणपंचिन्दियया हु दुल्लहा
विगलिन्दियया हु दीसई
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

आर्यत्व की प्राप्ति होने पर भी अविकल पंचेन्द्रियत्व की प्राप्ति होना दुर्लभ है। क्योंकि बहुत से जीवों को विकलेन्द्रियत्व भी देखा जाता है। अतः गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

१८. अहीणपंचिन्दियत्तं पि से लहे
उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा।
कुतित्थिनिसेवए जणे
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

अविकल अर्थात् पूर्ण पंचेन्द्रियत्व की प्राप्ति होने पर भी श्रेष्ठ धर्म का श्रवण पुनः दुर्लभ है। क्योंकि कुतीर्थिकों की उपासना करने वाले भी देखे जाते है। इसलिए गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

१९. लद्धूण वि उत्तमं सुइं
सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा।
मिच्छत्तनिसेवए जणे
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

उत्तम धर्म की श्रवणरूप श्रुति मिलने पर भी उस पर श्रद्धा होना दुर्लभ है। क्योंकि बहुत से लोग मिथ्यात्व का सेवन करते है। अतः गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

२०. धम्मं पि हु सद्दहन्तया
दुल्लहया काएण फासया।
इह कामगुणेहि मुच्छिया
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

धर्म की श्रद्धा होने पर भी तदनुरूप काय से स्पर्श अर्थात् आचरण होना दुर्लभ है। बहुत से धर्मश्रद्धालु भी काम भोगो मे आसक्त हैं। अतः गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

२१. परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से सोयबले य हायई
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

तुम्हारा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश (सिर के बाल) सफेद हो रहे है। तथा श्रवणशक्ति कमजोर हो रही है। अतः गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

२२. परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से चक्खुबले य हायई
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

तुम्हारा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं, आँखो की शक्ति क्षीण हो रही है। अतः गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

२३. परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से घाणबले य हायई
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

तुम्हारा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे है। घ्राण शक्ति हीन हो रही है। अतः गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

२४. परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पण्डुरया हवन्ति ते ।
से जिब्भ-बले य हायई
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

तुम्हारा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं। रसग्राहक जिह्वा की शक्ति नष्ट हो रही है। अतः गौतम क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

२५. परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पण्डुरया हवन्ति ते ।
से फास-बले य हायई
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

तुम्हारा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं। स्पर्शन-इन्द्रिय की स्पर्शशक्ति क्षीण हो रही है। अतः गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

२६. परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पण्डुरया हवन्ति ते ।
से सव्वबले य हायई
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

तुम्हारा शरीर कृश हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं। एक तरह से सारी शक्ति ही क्षीण हो रही है। इस स्थिति मे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

२७. अरई गण्डं विसूइया
आयंका विविहा फुसन्ति ते ।
विवडइ विद्धंसइ ते सरीरयं
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

वात-विकार आदि से जन्य चित्तोद्वेग, फोड़ा-फुन्सी, विसूचिका—हैजा-वमन तथा अन्य भी शीघ्र-घाती विविध रोग शरीर मे पैदा होने पर शरीर गिर जाता है, विध्वस्त हो जाता है। अतः गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

२८. वोछिन्द सिणेहमप्पणो
कुमुयं सारइयं व पाणियं ।
से सव्वसिणेहवज्जिए
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

जैसे शरद-कालीन कुमुद (चन्द्र विकासी कमल) पानी से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार तू भी अपना सभी प्रकार का स्नेह (लिप्तता) का त्याग कर निर्लिप्त बन। गौतम ! इसमें तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

२९. चिच्चाण धणं च भारियं
पव्वइओ हि सि अणगारियं।
मा वन्तं पुणो वि आइए
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

धन और पत्नी का परित्याग कर तू अनगार वृत्ति मे दीक्षित हुआ है। अतः एक बार वमन किए गए भोगों को पुनः मत पी, स्वीकार मत कर। गौतम ! अनगार धर्म के सम्यक् अनुष्ठान में समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

३०. अवउज्झिय मित्तबन्धवं
विउलं चेव धणोहसंचयं।
मा तं बिइयं गवेसए
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

मित्र, बान्धव और विपुल धनराशि को छोड़कर पुनः उनकी गवेषणा (तलाश) मत कर। हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

३१. न हु जिणे अज्ज दिस्सई
बहुमए दिस्सई मग्गदेसिए।
संपइ नेयाउए पहे
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

भविष्य में लोग कहेंगे—'आज जिन नहीं दीख रहे है, और जो मार्गदर्शक है भी, वे एक मत के नही है।' किन्तु आज तुझे न्यायपूर्ण मार्ग उपलब्ध है। अतः गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

३२. अवसोहिय कण्टगापहं
ओइण्णो सि पहं महालयं।
गच्छसि मग्गं विसोहिया
समयं गोयम ! मा पमायए

कंटकाकीर्ण पथ छोड़कर तू साफ राज-मार्ग पर आ गया है। अतः दृढ़ श्रद्धा के साथ इस मार्ग पर चल। गौतम ! समय मात्र का प्रमाद मत कर।

३३. अबले जह भारवाहए
मा मग्गे विसमेऽवगाहिया।
पच्छा पच्छाणुतावए
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

कमजोर भारवाहक विषम मार्ग पर जाता है, तो पश्चात्ताप करता है, गौतम ! तुम उसकी तरह विषम मार्ग पर मत जाओ। अन्यथा बाद में पछताना होगा। गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

३४. तिण्णो हु सि अण्णवं महं किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ। अभितुर पारं गमित्तए। समयं गोयम ! मा पमायए॥	हे गौतम ! तू महासागर को तो पार कर गया है, अब तीर–तट के निकट पहुँच कर क्यों खड़ा है ? उसको पार करने मे जल्दी कर। गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।
३५. अकलेवरसेणिमुस्सिया सिद्धिं गोयम लोयं गच्छसि। खेमं च सिवं अणुत्तरं समयं गोयम ! मा पमायए॥	तू देहमुक्त सिद्धत्व को प्राप्त कराने वाली क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो कर क्षेम, शिव और अनुत्तर सिद्धि लोक को प्राप्त करेगा। अतः गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।
३६. बुद्धे परिनिव्वुडे चरे गामगए नगरे व संजए। सन्तिमग्गं च बूहए समयं गोयम ! मा पमायए॥	बुद्ध–तत्त्वज्ञ और उपशान्त होकर पूर्ण संयतभाव से तू गांव एवं नगर मे विचरण कर। शान्ति मार्ग को बढ़ा। गौतम ! इसमे समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।
३७. बुद्धस्स निसम्म भासियं सुकहियमट्ठपओवसोहियं॥ रागं दोसं च छिन्दिया सिद्धिगइं गए गोयमे॥	अर्थ और पद से सुशोभित एवं सुकथित बुद्ध (पूर्णज्ञ) की—अर्थात् भगवान महावीर की वाणी को सुनकर, राग द्वेष का छेदन कर गौतम सिद्धि गति को प्राप्त हुए।
—त्ति बेमि।	—ऐसा मैं कहता हूं।

११

बहुश्रुत-पूजा

जो स्वयं को और दूसरों को बन्धनों से मुक्ति का मार्ग दिखा दे, वह शिक्षा है।

शिक्षाशील विद्यार्थी अगर क्रोध करता है, आलस्य करता है, यदि वह अहंकारी है, रोगी है, दूसरों के दोषों को देखता है, दूसरों का तिरस्कार करता है, मित्रों की बुराई करता है, प्राप्त साधनों का साथियों में समान विभाजन नहीं करता है, वह ठीक ज्ञानार्जन नही कर सकता है, विद्याध्ययन नहीं कर पाता है। किन्तु जो व्यर्थ की बातों को छोड़ देता है, जो नम्र और सुशील है, जो विद्वान् होकर भी अहंकार नहीं करता है, दूसरों की कमजोरियों का मजाक नहीं उड़ाता है, जो गाली गलौज और हाथापाई जैसे अभद्र व्यवहारों से परे है, वह शिक्षार्थी बहुश्रुत होता है। बहुश्रुत का अर्थ है—'श्रुत ज्ञानी।'

यद्यपि बहुश्रुत विषय-भेद से अनेक प्रकार के होते हैं, तथापि वे सभी पूजा के योग्य होते हैं। वे सूर्य और चांद की तरह तेजस्वी होते हैं। वे सागर की भांति गम्भीर होते हैं। वे साहसी और दृढ़ होते हैं। वे किसी से जीते नहीं जाते। उनकी ज्ञानसम्पदा किसी से कम नहीं होती है। उनकी शिक्षा का उद्देश्य स्वयं को मुक्त करना और दूसरों को भी मुक्त कराना होता है। इस अध्ययन में १५ उपमाएँ बहुश्रुत के लिए दी हैं।

विद्या का उद्देश्य, विद्यार्थी की आचारसंहिता और विद्वान् की योग्यता के सम्बन्ध में—यह एक महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक विश्लेषण है।

आज के तथाकथित विद्वान् और विद्यार्थी अगर थोड़ा सा भी इस ओर लक्ष्य दे सकें, तो आज शिक्षा-जगत् की बहुत कुछ समस्याओं का समाधान निकल सकता है।

●

इक्कारसमं अज्झयणं : ग्यारहवां अध्ययन

बहुस्सुयपुज्जा : बहुश्रुत-पूजा

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. संजोगा विप्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो । आयारं पाउकरिस्सामि आणुपुव्विं सुणेह मे ॥	सांसारिक बन्धनों से रहित अनासक्त गृहत्यागी भिक्षु के आचार का मैं यथाक्रम कथन करूंगा, उसे तुम मुझसे सुनो।
२. जे यावि होइ निव्विज्जे थद्धे लुद्धे अणिग्गहे । अभिक्खणं उल्लवई अविणीए अबहुस्सुए ॥	जो विद्याहीन है, और जो विद्यावान् होकर भी अहंकारी है, जो अजितेन्द्रिय है, जो अविनीत है, जो बार-बार असंबद्ध बोलता है—बकवास करता है, वह अबहुश्रुत है।
३. अह पंचहिं ठाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्भई । थम्भा कोहा पमाएणं रोगेणाऽलस्सएण य ॥	इन पांच कारणों से शिक्षा प्राप्त नहीं होती है—अभिमान, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य।
४. अह अट्ठहिं ठाणेहिं सिक्खासीले त्ति वुच्चई । अहस्सिरे सया दन्ते न य मम्ममुदाहरे ॥	(१) जो हँसी-मजाक नहीं करता है, (२) जो सदा दान्त—शान्त रहता है, (३) जो किसी का मर्म प्रकाशित नहीं करता है,

५. नासीले न विसीले
न सिया अइलोलुए ।
अकोहणे सच्चरए
सिक्खासीले त्ति वुच्चई ॥

(४) जो अशील, सर्वथा आचारहीन न हो,
(५) जो विशील, दोषों से कलंकित न हो,
(६) जो रसलोलुप–चटोरा न हो,
(७) जो क्रोध न करता हो,
(८) जो सत्य में अनुरक्त हो,
इन आठ स्थितियों में व्यक्ति शिक्षा-शील होता है ।

६. अह चउदसहिं ठाणेहिं
वट्टमाणे उ संजए ।
अविणीए वुच्चई सो उ
निव्वाणं च न गच्छइ ॥

चौदह प्रकार से व्यवहार करने वाला संयत-मुनि अविनीत कहलाता है और वह निर्वाण प्राप्त नहीं करता है ।

७. अभिक्खणं कोही हवइ
पबन्धं च पकुव्वई ।
मेत्तिज्जमाणो वमइ
सुयं लद्धूण मज्जई ॥

(१) जो बार बार क्रोध करता है,
(२) जो क्रोध को लम्बे समय तक बनाये रखता है,
(३) जो मित्रता को ठुकराता है,
(४) जो श्रुत प्राप्त कर अहंकार करता है—

८. अवि पावपरिक्खेवी
अवि मित्तेसु कुप्पई ।
सुप्पियस्सावि मित्तस्स
रहे भासइ पावगं ॥

(५) जो स्खलना होने पर दूसरों का तिरस्कार करता है,
(६) जो मित्रों पर क्रोध करता है,
(७) जो प्रिय मित्रों की भी एकान्त में बुराई करता है—

९. पइण्णवाई दुहिले
थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ।
असंविभागी अचियत्ते
अविणीए त्ति वुच्चई ।

(८) जो असंबद्ध प्रलाप करता है,
(९) द्रोही है,
(१०) अभिमानी है,
(११) रसलोलुप है,

(१२) अजितेन्द्रिय है,
(१३) असंविभागी है,–साथियों मे बांटता नहीं है,
(१४) अप्रीतिकर है ।

१०. अह पन्नरसहिं ठाणेहिं
सुविणीए त्ति वुच्चई ।
नीयावत्ती अचवले
अमाई अकुऊहले ॥

पन्दरह कारणों से सुविनीत कहलाता है–
(१) जो नम्र है,
(२) अचपल है–अस्थिर नहीं है,
(३) दम्भी नहीं है,
(४) अकुतूहली है–तमाशबीन नहीं है–

११. अप्पं चाऽहिक्खिवई
पबन्धं च न कुव्वई
मेत्तिज्जमाणो भयई
सुयं लद्धुं न मज्जई ॥

(५) किसी की निन्दा नहीं करता है,
(६) जो क्रोध को लम्बे समय तक पकड़ कर नहीं रखता है,
(७) जो मित्रों के प्रति कृतज्ञ है,
(८) श्रुत को प्राप्त करने पर अहंकार नहीं करता है—

१२. न य पावपरिक्खेवी
न य मित्तेसु कुप्पई ।
अप्पियस्सावि मित्तस्स
रहे कल्लाण भासई ॥

(९) स्खलना होने पर दूसरों का तिरस्कार नहीं करता है ।
(१०) मित्रों पर क्रोध नही करता है ।
(११) जो अप्रिय मित्र के लिए भी एकान्त में भलाई की ही बात करता है–

१३. कलह–डमरवज्जए
बुद्धे अभिजाइए ।
हिरिमं पडिसंलीणे
सुविणीए त्ति वुच्चई ।

(१२) जो वाक्-कलह और डमर–मारपीट, हाथापाई नहीं करता है,
(१३) अभिजात (कुलीन) होता है,
(१४) लज्जाशील होता है,
(१५) प्रति संलीन (इधर उधर की व्यर्थ चेष्टाएं न करने वाला आत्मलीन) होता है,
वह बुद्धिमान् साधु विनीत होता है ।

१४. वसे गुरुकुले निच्चं
जोगवं उवहाणवं ।
पियंकरे पियवाई
से सिक्खं लद्धुमरिहई ॥

जो सदा गुरुकुल मे अर्थात् गुरुजनों की सेवा मे रहता है, जो योग और उपधान (शास्त्राध्ययन से सम्बन्धित विशेष तप) मे निरत है, जो प्रिय करने वाला है और प्रियभाषी है, वह शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

१५. जहा संखम्मि पयं
निहियं दुहओ वि विरायइ ।
एवं बहुस्सुए भिक्खू
धम्मो कित्ती तहा सुयं ॥

जैसे शंख में रखा हुआ दूध स्वयं अपने और अपने आधार के गुणों के कारण दोनो ओर से सुशोभित अर्थात् निर्मल एवं निर्विकार रहता है, उसी तरह बहुश्रुत भिक्षु में धर्म, कीर्ति और श्रुत भी दोनों ओर से (अपने और अपने आधार के गुणों से) सुशोभित होते हैं, निर्मल रहते हैं।

१६. जहा से कम्बोयाणं
आइण्णे कन्थए सिया ।
आसे जवेण पवरे
एवं हवइ बहुस्सुए ॥

जिस प्रकार कम्बोज देश के अश्वों में कन्थक घोड़ा जातिमान् और वेग मे श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत श्रेष्ठ होता है।

१७. जहाऽऽइण्णसमारूढे
सूरे दढपरक्कमे ।
उभओ नन्दिघोसेणं
एवं हवइ बहुस्सुए ॥

जैसे जातिमान् अश्व पर आरूढ दृढ पराक्रमी शूरवीर योद्धा दोनों तरफ (अगल-बगल मे या आगे-पीछे) होने वाले नान्दी घोषों से—विजय के बाद्यों से या जय जयकारों से सुशोभित होता है, वैसे बहुश्रुत भी सुशोभित होता है।

१८. जहा करेणुपरिकिण्णे
कुंजरे सट्ठिहायणे ।
बलवन्ते अप्पडिहए
एवं हवइ बहुस्सुए ॥

जिस प्रकार हथिनियों से घिरा हुआ साठ वर्ष का बलवान हाथी किसी से पराजित नहीं होता है, वैसे ही बहुश्रुत भी किसी से पराजित नहीं होता है।

१९. जहा से तिक्खसिंगे
जायखन्धे विरायई ।
वसहे जूहाहिवई
एवं हवइ बहुस्सुए ॥

जैसे तीक्ष्ण सींगोंवाला, बलिष्ठ कंधो वाला वृषभ–सांड यूथ के अधिपति के रूप मे सुशोभित होता है, वैसे ही बहुश्रुत मुनि भी गण के अधिपति के रूप में सुशोभित होता है।

२०. जहा से तिक्खदाढे
उदग्गे दुप्पहंसए ।
सीहे मियाण पवरे
एवं हवइ बहुस्सुए ॥

जैसे तीक्ष्ण दाढ़ों वाला पूर्ण युवा एवं दुष्पराजेय सिंह पशुओं मे श्रेष्ठ होता है, वैसे ही बहुश्रुत भी अन्य तीर्थिको मे श्रेष्ठ होता है।

२१. जहा से वासुदेवे
संख–चक्क–गयाधरे ।
अप्पडिहयबले जोहे
एवं हवइ बहुस्सुए ॥

जैसे शख, चक्र और गदा को धारण करने वाला वासुदेव अपराजित बल वाला योद्धा होता है, वैसे ही बहुश्रुत भी अपराजित बलशाली होता है।

२२. जहा से चाउरन्ते
चक्कवट्टी महिड्ढिए ।
चउद्दसरयणाहिवई
एवं हवइ बहुस्सुए ॥

जैसे महान ऋद्धिशाली चातुरन्त चक्रवर्ती चौदह रत्नो का स्वामी होता है, वैसे ही बहुश्रुत भी चौदह पूर्वो की विद्या का स्वामी होता है।

२३. जहा से सहस्सक्खे
वज्जपाणी पुरन्दरे ।
सक्के देवाहिवई
एवं हवइ बहुस्सुए ॥

जैसे सहस्रचक्षु, वज्रपाणि, पुरन्दर शक्र देवों का अधिपति होता है, वैसे बहुश्रुत भी होता है।

२४. जहा से तिमिरविद्धंसे
उत्तिट्ठन्ते दिवायरे ।
जलन्ते इव तेएण
एवं हवइ बहुस्सुए ॥

जैसे अन्धकार का नाशक उदीयमान सूर्य तेज से जलता हुआ–सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी तेजस्वी होता है।

२५. जहा से उडुवई चन्दे
नक्खत्त—परिवारिए ।
पडिपुण्णे पुण्णमासीए
एवं हवइ बहुस्सुए ॥

जैसे नक्षत्रों के परिवार से परिवृत, नक्षत्रों का अधिपति चन्द्रमा पूर्णिमा को परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी जिज्ञासु साधकों के परिवार से परिवृत एवं ज्ञानादि की कलाओं से परिपूर्ण होता है।

२६. जहा से सामाइयाणं
कोट्ठागारे सुरक्खिए ।
नाणाधन्नपडिपुण्णे
एवं हवइ बहुस्सुए ॥

जिस प्रकार सामाजिक अर्थात् किसान या व्यापारी आदि का कोष्ठागार (भण्डार) सुरक्षित और अनेक प्रकार के धान्यों से परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी नाना प्रकार के श्रुत से परिपूर्ण होता है।

२७. जहा सा दुमाण पवरा
जम्बू नाम सुदंसणा ।
अणाढियस्स देवस्स
एवं हवइ बहुस्सुए ॥

'अनादृत' देवका 'सुदर्शन' नामक जम्बू वृक्ष जिस प्रकार सब वृक्षों में श्रेष्ठ होता है, वैसे ही बहुश्रुत सब साधुओं में श्रेष्ठ होता है।

२८. जहा सा नईण पवरा
सलिला सागरंगमा ।
सीया नीलवन्तपवहा
एवं हवइ बहुस्सुए ॥

जिस प्रकार नीलवंत वर्षधर पर्वत से निकली हुई जलप्रवाह से परिपूर्ण, समुद्रगामिनी सीता नदी सब नदियों में श्रेष्ठ है, इसी प्रकार बहुश्रुत भी सर्वश्रेष्ठ होता है।

२९. जहा से नगाण पवरे
सुमहं मन्दरे गिरी ।
नाणोसहिपज्जलिए
एवं हवइ बहुस्सुए ॥

जैसे कि नाना प्रकार की औषधियों से दीप्त महान् मंदर-मेरु पर्वत सब पर्वतों में श्रेष्ठ है, ऐसे ही बहुश्रुत सब साधुओं में श्रेष्ठ होता है।

३०. जहा से सयंभूरमणे
उदही अक्खओदए ।
नाणारयणपडिपुण्णे
एवं हवइ बहुस्सुए ॥

जिस प्रकार सदैव अक्षय जल से परिपूर्ण स्वयंभूरमण समुद्र नानाविध रत्नों से परिपूर्ण रहता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी अक्षय ज्ञान से परिपूर्ण होता है।

३१. समुद्दगम्भीरसमा दुरासया
अचक्किया केणइ दुप्पहंसया ।
सुयस्स पुण्णा विउलस्स ताइणो
खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गया ॥

समुद्र के समान गम्भीर, दुरासद (कष्टों से अबाधित), अविचलित, अपराजेय, विपुल श्रुतज्ञान से परिपूर्ण, त्राता—ऐसे बहुश्रुत मुनि कर्मों को क्षय करके उत्तम गति को प्राप्त हुए हैं।

३२. तम्हा सुयमहिट्ठिज्जा
उत्तमट्ठगवेसए ।
जेणऽप्पाणं परं चेव
सिद्धिं संपाउणेज्जासि ॥

—त्ति बेमि ।

मोक्ष की खोज करने वाला मुनि श्रुत का आश्रय ग्रहण करे, जिससे वह स्वयं को और दूसरों को भी सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त करा सके।

—ऐसा मैं कहता हूं।

१२

हरिकेशीय

ज्योति मिट्टी के दिए में भी प्रकट हो सकती है।
आध्यात्मिक विकास चाण्डाल जाति के व्यक्ति में भी हो सकता है।

पूर्वजन्म के जातीय अहंकार के कारण हरिकेशबल चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुआ था। वह स्वभाव से कठोर और शरीर से भी कुरूप था। परिवार, पड़ोसी और गाँव के लोग सभी उससे परेशान थे। न उसका अपना कोई मित्र था और न उसे कोई चाहता था। सभी उससे घृणा करते थे। और सभी की घृणा एवं उपेक्षा ने उसे और अधिक कठोर बना दिया था।

गांव के बाहर सभी लोग मिलकर एक बार उत्सव मना रहे थे। वह भी उत्सव में गया था, लेकिन उसका कोई साथी तो था नहीं, अतः उत्सव की भीड़ में भी अकेला। कितनी दयनीय स्थिति थी उसकी। एक ओर कुछ लड़के खेल रहे थे। अच्छा मनोरंजन था। पर, वह उन लड़कों के साथ खेलना चाह कर भी खेल नहीं सकता था। अपमानित सा अकेला दूर खड़ा-खडा केवल देख रहा था और मन-ही-मन कुछ सोच रहा था। इतने में एक भयंकर सर्प वहां आ निकला। लोगों ने तत्काल उसे मार दिया। थोड़ी देर में एक अलसिया निकला, लोगों ने उसे मारा नहीं, उठाकर दूर कर दिया। हरिकेश बल के लिए यह केवल घटना न थी। इस घटना ने हरिकेश बल के विचारों को कुरेद दिया। वह सोचने लगा—"क्या मैं अपनी क्रूरता और कठोरता के कारण ही विषधर सांप की तरह मारा नहीं जाता हूँ। और यह बिचारा अलसिया! कितना सीधा निर्विष प्राणी है। उसे कोई तकलीफ नहीं दे रहा है। बात ठीक है, व्यक्ति अपने ही गुणों से पूजा जाता है और अपने

ही अवगुणों से अपमानित होता है।" जीवन के किसी गहरे तल को यह बात स्पर्श कर गई। इन्हीं चिन्तन के क्षणों में उसे जातिस्मरण हो गया और उसने आत्मभाव में लीनता का पथ पकड़ा। वह मुनि हो गया। सही मार्ग खोज लिया। उसके विकास में जाति अवरोध नहीं डाल सकी। वस्तुतः कुल की उच्चता से गुणों की प्राप्ति नहीं होती है। गुणों का सम्बन्ध व्यक्ति के जागरण के साथ है। इसका स्पष्ट अर्थ है—उच्च कुल, उच्च वर्ण अथवा उच्च जाति गुणों को जन्म नहीं देती है। और न ये किसी को दुर्गति से बचा ही सकते हैं। उत्थान हो या पतन, विकास हो या ह्रास, सबके लिए व्यक्ति ही स्वयं उत्तरदायी है।

हरिकेशमुनि साधना में संलग्न थे। तप से उनका शरीर कृश हो गया था। एक बार वे वाराणसी के एक उद्यान में ठहरे थे। वहां तिन्दुक वृक्ष-निवासी एक यक्ष था। मुनि के तप से प्रभावित होकर वह अपने साथी यक्षों के साथ मुनि की सेवा में रहने लगा।

एक दिन वाराणसी के राजा कौशलिक की पुत्री भद्रा यक्ष की पूजा करने के लिए मंदिर में आई थी। वहां उसने हरिकेश मुनि को देखा। उनकी कुरूपता को देखकर उसका मन घृणा से भर गया। और उसने उनपर थूक दिया।

राजकुमारी के द्वारा किये गए मुनि के इस अपमान को यक्ष सहन नहीं कर सका। अतः वह उसके शरीर में प्रविष्ट हो गया और उसे अस्वस्थ कर दिया। चिकित्सकों के उपचार के बाद भी वह स्वस्थ नही हो सकी। आखिर एक दिन यक्ष ने राजकुमारी के मुंह से कहा—"कुछ भी करो। मैं इसे ठीक नही होने दूंगा। इसने घोर तपस्वी हरिकेशबल मुनि का अपमान किया है। इसका इसे प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। और वह प्रायश्चित्त होगा, मुनि के साथ इसका विवाह। अगर राजा ने यह विवाह स्वीकार नहीं किया तो मैं राजकुमारी को जीवित नहीं रहने दूंगा।"

राजा ने यह बात स्वीकार की। मुनि की सेवा में जाकर अपने अपराध की क्षमा मांगी और भद्रा के साथ विवाह के लिए प्रार्थना की।

मुनि ने कहा— 'मेरा कोई अपमान नही हुआ है। मैं विरक्त हूं। मैं किसी भी तरह विवाह की प्रार्थना स्वीकार नहीं कर सकता।"

राजा निराश लौट आया। 'ब्राह्मण भी ऋषि का ही रूप है'--इस विचार के आधार पर भद्रा का विवाह राजपुरोहित रुद्रदेव ब्राह्मण के साथ कर दिया गया।

हरिकेशबल मुनि मासोपवास (एक महीने का लम्बा अनशन तप) की समाप्ति पर, भिक्षा की खोज में, एक दिन यज्ञमण्डप में पहुँचे। वहां रुद्रदेव पुरोहित यज्ञ करवा रहे थे। यज्ञशाला में राजकुमारी के विवाह के निमित्त से ही भोजन बना था। मुनि ने भिक्षा की याचना की। लेकिन ब्राह्मणों ने भोजन देने से इन्कार कर दिया और उनको अपमानित करके निकालने का प्रयत्न किया। मुनि की सेवा में जो यक्ष था, वह ब्राह्मणों के व्यवहार से क्रुद्ध हो गया, अतः उसने उन्हें बुरी तरह प्रताड़ित किया।

राजकुमारी भद्रा, मुनि के प्रभाव को जानती थी। वह उनके घोर तप और विशुद्ध अनासक्ति को पहचानती थी। अतएव उसने ब्राह्मणों को समझाया कि "मुनि जितेन्द्रिय हैं। महान् साधक हैं। इनका अपमान मत करो। शीघ्र ही अपने अपराधों की क्षमा मांगो।"

सभी ब्राह्मणों ने विनम्र भाव से क्षमा मांगी और वे सब यक्षपीड़ा से मुक्त हो गए, स्वस्थ हो गए। मुनि ने अति आग्रह करने पर भिक्षा स्वीकार की। अनन्तर यज्ञ आदि क्या है? इस विषय की विशद विवेचना करते हुए ब्राह्मणों को प्रतिबोध दिया।

प्रस्तुत अध्ययन में यज्ञशाला में मुनि के प्रवेश के बाद का प्रसंग है। पूर्व कथा मूल प्रकरण में संकेत रूप से है, जिसे वृत्तिकारों ने परम्परा से लिखा है।

●

बारसमं अज्झयणं : बारहवां अध्ययन

हरिएसिज्जं : हरिकेशीय

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. सोवागकुलसंभूओ गुणुत्तरधरो मुणी । हरिएसबलो नाम आसि भिक्खू जिइन्दिओ ॥	हरिकेशबल श्वपाक—चाण्डालकुल में उत्पन्न हुए थे, फिर भी ज्ञानादि उत्तम गुणों के धारक और जितेन्द्रिय भिक्षु थे ।
२. इरि-एसण-भासाए उच्चार-समिईसु य । जओ आयाणनिक्खेवे संजओ सुसमाहिओ ॥	वे ईर्या, एषणा, भाषा, उच्चार, आदान-निक्षेप-इन पाँच समितियों मे यत्नशील समाधिस्थ संयमी थे ।
३. मणगुत्तो वयगुत्तो कायगुत्तो जिइन्दिओ भिक्खट्ठा बम्भ–इज्जंमि जन्नवाडं उवट्ठिओ ॥	मन, वाणी और काय से गुप्त जितेन्द्रिय मुनि, भिक्षा के लिए यज्ञ मण्डप मे गये, जहाँ ब्राह्मण यज्ञ कर रहे थे ।
४. तं पासिऊणमेज्जन्तं तवेण परिसोसियं । पन्तोवहिउवगरणं उवहसन्ति अणारिया ॥	तप से उनका शरीर सूख गया था और उनके उपधि एवं उपकरण भी प्रान्त (जीर्ण एवं मलिन) थे । उक्त स्थिति में मुनि को आते देखकर अनार्य उनका उपहास करने लगे ।

५. जाईमयपडिथद्धा
हिंसगा अजिइन्दिया ।
अबम्भचारिणो बाला
इमं वयणमब्बवी–॥

जातिमद से प्रतिस्तब्ध-मत्त, हिंसक, अजितेन्द्रिय, अब्रह्मचारी और अज्ञानी लोगों ने इस प्रकार कहा–

६. कयरे आगच्छइ दित्तरूवे
काले विगराले फोक्कनासे ।
ओमचेलए पंसुपिसायभूए
संकरदूसं परिहरिय कण्ठे ॥

"बीभत्स रूप वाला, काला, विकराल, बेडोल मोटी नाक वाला, अल्प एवं मलिन वस्त्र वाला, धूलि-धूसरित होने से भूत की तरह दिखाई देने वाला (पांशुपिशाच), गले में सकरदूष्य (कूडे के ढेर पर से उठा लाये जैसा निकृष्ट वस्त्र) धारण करने वाला यह कौन आ रहा है ?"

७. कयरे तुमं इय अदंसणिज्जे
काए व आसा इहमागओ सि
ओमचेलगा पंसुपिसायभूया
गच्छ क्खलाहि किमिहं ठिओसि? ॥

"अरे अदर्शनीय ! तू कौन है ? यहाँ किस आशा से आया है तू ? गंदे और धूलि-धूसरित वस्त्र से तू अधनंगा पिशाच की तरह दीख रहा है । जा, भाग यहाँ से । यहाँ क्यो खड़ा है ?"

८. जक्खो तहिं तिन्दुयरुक्खवासी
अणुकम्पओ तस्स महामुणिस्स ।
पच्छायइत्ता नियगं सरीरं
इमाइं वयणाइमुदाहरित्था–॥

उस समय महामुनि के प्रति अनुकम्पा का भाव रखने वाले तिन्दुक वृक्षवासी यक्ष ने अपने शरीर को छुपाकर (महामुनि के शरीर मे प्रवेश कर) ऐसे वचन कहे–

९. समणो अहं संजओ बम्भयारी
विरओ धणपयणपरिग्गहाओ ।
परप्पवित्तस्स उ भिक्खकाले
अन्नस्स अट्ठा इहमागओ मि ॥

'मैं श्रमण हूँ । मैं संयत हूं । मैं ब्रह्मचारी हूं । मैं धन, पचन (भोजन पकाना) और परिग्रह का त्यागी हूँ । भिक्षा के समय दूसरों के लिए निष्पन्न आहार के लिए यहाँ आया हूँ ।'

१०. वियरिज्जइ खज्जइ भुज्जई य
अन्नं पभूयं भवयाणमेयं ।
जाणाहि मे जायणजीविणु त्ति
सेसावसेसं लभऊ तवस्सी ॥

"यहां प्रचुर अन्न दिया जा रहा है, खाया जा रहा है, उपभोग में लाया जा रहा है । आपको मालूम होना चाहिए, मैं भिक्षाजीवी हूं। अतः बचे हुए अन्न में से कुछ इस तपस्वी को भी मिल जाए ।"

रुद्रदेव—

११. उवक्खडं भोयण माहणाणं
अत्तट्ठियं सिद्धमिहेगपक्खं ।
न ऊ वयं एरिसमन्न-पाणं
दाहामु तुज्झं किमिहं ठिओ सि ?

"यह भोजन केवल ब्राह्मणों के लिए तैयार किया गया है। यह एक-पक्षीय है, अतः दूसरों के लिए अदेय है। हम तुझे यह यज्ञार्थनिष्पन्न अन्न जल नहीं देंगे । फिर तू यहां क्यों खड़ा है ?"

यक्ष—

१२. थलेसु बीयाइ ववन्ति कासगा
तहेव निन्नेसु य आससाए ।
एयाए सद्धाए दलाह मज्झं
आराहए पुण्णमिणं खु खेत्तं ॥

"अच्छी फसल की आशा से किसान जैसे ऊंची भूमि में बीज बोते हैं, वैसे ही नीची भूमि में भी बोते हैं। इस कृषक-दृष्टि से ही मुझे दान दो। मैं भी पुण्य-क्षेत्र हूं, अतः मेरी भी आराधना करो ।"

रुद्रदेव—

१३. खेत्ताणि अम्हं विइयाणि लोए
जहिं पकिण्णा विरुहन्ति पुण्णा ।
जे माहणा जाइ-विज्जोववेया
ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं ॥

"संसार में ऐसे क्षेत्र हमें मालूम हैं, जहां बोये गए बीज पूर्ण रूप से उग आते हैं। जो ब्राह्मण जाति और विद्या से सम्पन्न हैं, वे ही पुण्यक्षेत्र हैं।

यक्ष—

१४. कोहो य माणो य वहो य जेसिं
मोसं अदत्तं च परिग्गहं च ।
ते माहणा जाइविज्जाविहूणा
ताइं तु खेत्ताइं सुपावयाइं ॥

"जिनमें क्रोध, मान, हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रह है, वे ब्राह्मण जाति और विद्या से विहीन पापक्षेत्र हैं।"

१५. तुब्भेत्थ भो ! भारधरा गिराणं
अट्ठं न जाणाह अहिज्ज वेए ।
उच्चावयाइं मुणिणो चरन्ति
ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं ॥

"हे ब्राह्मणो ! इस संसार में आप केवल वाणी का भार ही वहन कर रहे हो । वेदों को पढ़कर भी उनके अर्थ को नहीं जानते हो । जो मुनि भिक्षा के लिए समभावपूर्वक ऊंच नीच घरों में जाते हैं, वे ही पुण्य-क्षेत्र है ।"

१६. अज्झावयाणं पडिकूलभासी
पभाससे किंनु सगासि अम्हं ।
अवि एयं विणस्सउ अन्नपाणं
न य णं दहामु तुमं नियण्ठा ॥

रुद्रदेव—

"हमारे सामने अध्यापकों के प्रति प्रतिकूल बोलने वाले निर्ग्रन्थ ! क्या बकवास कर रहा है ? यह अन्न जल भले ही सड़ कर नष्ट हो जाय, पर, हम तुझे नहीं देंगे ।"

१७. समिईहि मज्झं सुसमाहियस्स
गुत्तीहि गुत्तस्स जिइन्दियस्स ।
जइ मे न दाहित्थ अहेसणिज्जं
किमज्ज जन्नाण लहित्थ लाहं ?

यक्ष—

"मैं समितियों से सुसमाहित हूँ, गुप्तियों से गुप्त हूं, और जितेन्द्रिय हूँ । यह एषणीय आहार यदि तुम मुझे नहीं देते हो, तो आज इन यज्ञों का तुम क्या लाभ लोगे ?"

१८. के एत्थ खत्ता उवजोइया वा
अज्झावया वा सह खण्डिएहिं ।
एयं खु दण्डेण फलेण हन्ता
कण्ठम्मि घेत्तूण खलेज्ज जो णं ? ॥

रुद्रदेव—

"यहां कोई हैं क्षत्रिय, उपज्योतिष-रसोइये, अध्यापक और छात्र, जो इस निग्रन्थ को डण्डे से, फलक से पीट कर और कण्ठ पकड़ कर यहाँ से निकाल दें ।"

१९. अज्झावयाणं वयणं सुणेत्ता
उद्धाइया तत्थ बहू कुमारा ।
दण्डेहि वित्तेहि कसेहि चेव
समागया तं इसि तालयन्ति ॥

अध्यापकों के वचन सुनकर बहुत से कुमार दौड़ते हुए वहाँ आए और डण्डों से, बेतों से, चाबुकों से उस ऋषि को पीटने लगे ।

२०. एसो तहिं कोसलियस्स धूया
भद्द त्ति नामेण अणिन्दियंगी।
तं पासिया संजय हम्ममाणं
कुद्धे कुमारे परिनिव्ववेइ ॥

राजा कौशलिक की अनिन्द्य सुंदरी कन्या भद्रा ने मुनि को पिटते देखकर क्रुद्ध कुमारों को रोका।

२१. देवाभिओगेण निओइएणं
दिन्ना मु रन्ना मणसा न झाया।
नरिन्द-देविन्दऽभिवन्दिएणं
जेणऽम्हि वन्ता इसिणा स एसो ॥

भद्रा—

"देवता की बलवती प्रेरणा से राजा ने मुझे इस मुनि को दिया था, किन्तु मुनि ने मुझे मन से भी नही चाहा। मेरा परित्याग करने वाले यह ऋषि नरेन्द्रो और देवेन्द्रो से भी पूजित हैं।"

२२. एसो हु सो उग्गतवो महप्पा
जिइन्दिओ संजओ बम्भयारी।
जो मे तया नेच्छइ दिज्जमाणिं
पिउणा सयं कोसलिएण रन्ना ॥

—"ये वही उग्र तपस्वी, महात्मा, जितेन्द्रिय, संयमी और ब्रह्मचारी हैं, जिन्होंने स्वयं मेरे पिता राजा कौशलिक के द्वारा मुझे दिये जाने पर भी नही चाहा।"

२३. महाजसो एस महाणुभागो
घोरव्वओ घोरपरक्कमो य।
मा एयं हीलह अहीलणिज्जं
मा सव्वे तेएण भे निद्दहेज्जा ॥

—"ये ऋषि महान् यशस्वी हैं, महानुभाग हैं, घोर व्रती हैं, घोर पराक्रमी है। ये अवहेलना के योग्य नही हैं। अतः इनकी अवहेलना मत करो। ऐसा न हो कि, अपने तेज से कहीं यह तुम सबको भस्म करदें।"

२४. एयाइं तीसे वयणाइ सोच्चा
पत्तीइ भद्दाइ सुहासियाइं।
इसिस्स वेयावडियट्ठयाए
जक्खा कुमारे विणिवारयन्ति ॥

पुरोहित की पत्नी भद्रा के इन सुभाषित वचनों को सुनकर ऋषि की सेवा के लिए यक्ष कुमारों को रोकने लगे।

२५. ते घोररूवा ठिय अन्तलिक्खे
असुरा तहिं तं जणं तालयन्ति ।
ते भिन्नदेहे रुहिरं वमन्ते
पासित्तु भद्दा इणमाहु भुज्जो ॥

आकाश में स्थित भयंकर रूप वाले असुरभावापन्न क्रुद्ध यक्ष उन को प्रताड़ित करने लगे । कुमारों को क्षत-विक्षत और खून की उल्टी करते देखकर भद्रा ने पुनः कहा—

२६. गिरिं नहेहिं खणह
अयं दन्तेहिं खायह ।
जायतेयं पाएहिं हणह
जे भिक्खुं अवमन्नह ॥

"जो भिक्षु का अपमान करते हैं, वे नखों से पर्वत खोदते हैं, दांतों से लोहा चबाते है और पैरों से अग्नि को कुचलते हैं ।"

२७. आसीविसो उग्गतवो महेसी
घोरव्वओ घोरपरक्कमो य ।
अगणिं व पक्खन्द पयंगसेणा
जे भिक्खुयं भत्तकाले वहेह ॥

—"महर्षि आशीविष हैं, घोर तपस्वी हैं, घोर व्रती हैं, घोर पराक्रमी है । जो लोग भिक्षाकाल में मुनि को व्यथित करते हैं, वे पतंगों की भाँति अग्नि में गिरते हैं ।"

२८. सीसेण एयं सरणं उवेह
समागया सव्वजणेण तुब्भे ।
जइ इच्छह जीवियं वा धणं वा
लोगं पि एसो कुविओ डहेज्जा ॥

—"यदि तुम अपना जीवन और धन चाहते हो, तो सब मिलकर, नत-मस्तक होकर, इनकी शरण लो । तुम्हें मालूम होना चाहिए—यह ऋषि कुपित होने पर समूचे विश्व को भी भस्म कर सकता है ।"

२९. अवहेडिय पिट्ठसउत्तमंगे
पसारियाबाहु अकम्मचेट्ठे ।
निब्भेरियच्छे रुहिरं वमन्ते
उड्ढं मुहे निग्गयजीह-नेत्ते ॥

मुनि को प्रताड़ित करने वाले छात्रों के सिर पीठ की ओर झुक गये थे । उनकी भुजाएँ फैल गई थीं । वे निश्चेष्ट हो गये थे । उनकी आँखें खुली की खुली रह गई थीं । उनके मुँह से रुधिर निकलने लगा था । उनके मुँह ऊपर को हो गये थे । उनकी जीभें और आँखें बाहर निकल आयी थीं ।

३०. ते पासिया खण्डिय कट्ठभूए
विमणो विसण्णो अह माहणो सो
इसिं पसाएइ सभारियाओ
हीलं च निन्दं च खमाह भन्ते ॥

इस प्रकार छात्रों को काठ की तरह निश्चेष्ट देख कर वह उदास और भयभीत ब्राह्मण अपनी पत्नी को साथ लेकर मुनि को प्रसन्न करने लगा—"भन्ते ! हमने जो आप की अवहेलना और निन्दा की है, उसे क्षमा करें।"

३१. बालेहिं मूढेहिं अयाणएहिं
जं हीलिया तस्स खमाह भन्ते !
महप्पसाया इसिणो हवन्ति ।
न हु मुणी कोवपरा हवन्ति ॥

—"भन्ते ! मूढ़ अज्ञानी बालकों ने आपकी जो अवहेलना की है, आप उन्हें क्षमा करें। ऋषिजन महान् प्रसन्नचित्त होते हैं, अतः वे किसी पर क्रोध नहीं करते हैं।

मुनि—

३२. पुव्विं च इण्हिं च अणागयं च
मणप्पदोसो न मे अत्थि कोइ ।
जक्खा हु वेयावडियं करेन्ति
तम्हा हु एए निहया कुमारा ॥

—"मेरे मन में न कोई द्वेष पहले था, न अब है, और न आगे भविष्य मे ही होगा। यक्ष सेवा करते है, उन्होंने ही कुमारों को प्रताडित किया है।"

रुद्रदेव—

३३. अत्थं च धम्मं च वियाणमाणा
तुब्भे न वि कुप्पह भूइपन्ना ।
तुब्भं तु पाए सरणं उवेमो
समागया सव्वजणेण अम्हे ॥

—"धर्म और अर्थ को यथार्थ रूप से जानने वाले भूतिप्रज्ञ (रक्षाप्रधान मंगल बुद्धि से युक्त) आप क्रोध नही करते है। हम सब मिलकर आपके चरणों में आए हैं, शरण ले रहे हैं।

३४. अच्चेमु ते महाभाग !
न ते किंचि न अच्चिमो ।
भुंजाहि सालिमं कूरं
नाणावंजण-संजुयं ॥

—"महाभाग ! हम आपकी अर्चना करते हैं। आपका ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसकी हम अर्चना न करे। अब आप दधि आदि नाना व्यंजनों से मिश्रित शालि-चावलों से निष्पन्न भोजन खाइए।"

३५. इमं च मे अत्थि पभूयमन्नं
तं भुंजसू अम्ह अणुग्गहट्ठा ।
'बाढं' ति पडिच्छइ भत्तपाणं
मासस्स उ पारणए महप्पा ॥

—"यह हमारा प्रचुर अन्न है। हमारे अनुग्रहार्थ इसे स्वीकार करें।"—पुरोहित के इस आग्रह पर महान् आत्मा मुनि ने स्वीकृति दी और एक मास की तपश्चर्या के पारणे के लिए आहार-पानी ग्रहण किया।

३६. तहियं गन्धोदय - पुप्फवासं
दिव्वा तहिं वसुहारा य वुट्ठा ।
पहयाओ दुन्दुहीओ सुरेहिं
आगासे अहो दाणं च घुट्ठं ॥

देवों ने वहाँ सुगन्धित जल, पुष्प एवं दिव्य धन की वर्षा की और दुन्दुभियाँ बजाईं, आकाश में 'अहो दानम्' का घोष किया।

३७. सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो
न दीसई जाइविसेस कोई ।
सोवागपुत्ते हरिएस साहू
जस्सेरिस्सा इड्ढि महाणुभागा ॥

प्रत्यक्ष में तप की ही विशेषता—महिमा देखी जारही है, जाति की कोई विशेषता नहीं दीखती है। जिसकी ऐसी महान् चमत्कारी ऋद्धि है, वह हरिकेश मुनि श्वपाकपुत्र है—चाण्डाल का बेटा है।

मुनि—

३८. किं माहणा ! जोइसमारभन्ता
उदएण सोहिं बहिया विमग्गहा ?
जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं
न तं सुदिट्ठं कुसला वयन्ति ॥

—"ब्राह्मणो ! अग्नि का समारम्भ (यज्ञ) करते हुए क्या तुम बाहर से—जल से शुद्धि करना चाहते हो ? जो बाहर से शुद्धि को खोजते हैं उन्हें कुशल पुरुष सुदृष्ट—सम्यग् द्रष्टा नहीं कहते हैं।"

३९. कुसं च जूवं तणकट्ठमग्गिं
सायं च पायं उदगं फुसन्ता ।
पाणाइ भूयाइ विहेडयन्ता
भुज्जो वि मन्दा ! पगरेह पावं ॥

—"कुश (डाभ), यूप (यज्ञस्तंभ), तृण, काष्ठ और अग्नि का प्रयोग तथा प्रातः और संध्या में जल का स्पर्श—इस प्रकार तुम मन्द-बुद्धि लोग, प्राणियों और भूत (वृक्षादि) जीवों का विनाश करते हुए पापकर्म कर रहे हो।"

रुद्रदेव—

४० कहं चरे? भिक्खु! वयं जयामो ?
पावाइ कम्माइ पणुल्लयामो ?
अक्खाहि णे संजय! जक्खपूइया!
कहं सुइट्ठं कुसला वयन्ति ?

"हे भिक्षु ! हम कैसे प्रवृत्ति करें ? कैसे यज्ञ करें ? कैसे पाप कर्मों को दूर करें ? हे यक्षपूजित संयत ! हमें बताएँ कि तत्त्वज्ञ पुरुष श्रेष्ठ यज्ञ कौन-सा बताते हैं ?"

मुनि—

४१. छज्जीवकाए असमारभन्ता
मोसं अदत्तं च असेवमाणा ।
परिग्गहं इत्थिओ माण-मायं
एयं परिन्नाय चरन्ति दन्ता ॥

—"मन और इन्द्रियों को संयमित रखने वाले मुनि पृथ्वी आदि छह जीव-निकाय की हिंसा नहीं करते हैं, असत्य नहीं बोलते हैं, चोरी नहीं करते हैं; परिग्रह, स्त्री, मान और माया को स्वरूपतः जानकर एवं छोड़कर विचरण करते हैं।"

४२. सुसंवुडो पंचहिं संवरेहिं
इह जीवियं अणवकंखमाणो ।
वोसट्ठकाओ सुइचत्तदेहो
महाजयं जयई जन्नसिट्ठं ॥

—"जो पांच संवरों से पूर्णतया संवृत होते हैं, जो जीवन की आकांक्षा नही करते है, जो शरीर का—अर्थात् शरीर की आसक्ति का परित्याग करते हैं, जो पवित्र है, जो विदेह हैं—देह भाव में नहीं हैं, वे वासनाओं पर विजय पाने वाला महाजयी श्रेष्ठ यज्ञ करते हैं।"

रुद्रदेव—

४३. के ते जोई ? के व ते जोइठाणे ?
का ते सुया ? किं व ते कारिसंगं?
एहा य ते कयरा सन्ति ? भिक्खू !
कयरेण होमेण हुणासि जोइं ?

—"हे भिक्षु ! तुम्हारी ज्योति (अग्नि) कौनसी है ? ज्योति का स्थान कौनसा है ? घृतादिप्रक्षेपक कड़छी क्या है ? अग्नि को प्रदीप्त करने वाले करीषांग (कण्डे) कौनसे है ? तुम्हारा ईंधन और शांतिपाठ कौन-सा है ? और किस होम से—हवन की प्रक्रिया से आप ज्योति को प्रज्वलित करते हैं ?"

	मुनि—
४४. तवो जोई जीवो जोइठाणं जोगा सुया सरीरं कारिसंगं । कम्म एहा संजमजोग सन्ती होमं हुणामी इसिणं पसत्थं ॥	—"तप ज्योति है । जीव-आत्मा ज्योति का स्थान है । मन, वचन और काया का योग कड़छी है । शरीर कण्डे हैं । कर्म ईन्धन है । संयम की प्रवृत्ति शांति-पाठ है । ऐसा मैं प्रशस्त यज्ञ करता हूँ ।"
	रुद्रदेव—
४५. के ते हरए? के य ते सन्तितित्थे? कहिंसि ण्हाओ व रयं जहासि ? आइक्ख णे संजय ! जक्खपूइया ! इच्छामो नाउं भवओ सगासे ॥	—"हे यक्षपूजित संयत ! हमें बताइए कि तुम्हारा ह्रद-द्रह कौनसा है ? शांति-तीर्थ कौनसे हैं ? तुम कहाँ स्नान कर रज-मलिनता दूर करते हो ? हम आपसे जानना चाहते हैं ?"
	मुनि—
४६. धम्मे हरए बंभे सन्तितित्थे अणाविले अत्तपसन्नलेसे । जहिंसि ण्हाओ विमलो विसुद्धो सुसीइभूओ पजहामि दोसं ॥	—"आत्मभाव की प्रसन्नतारूप अकलुष लेश्यावाला धर्म मेरा ह्रद है, जहाँ स्नानकर मैं विमल, विशुद्ध एवं शान्त होकर कर्मरज को दूर करता हूँ ।"
४७. एयं सिणाणं कुसलेहि दिट्ठं महासिणाणं इसिणं पसत्थं । जहिंसि ण्हाया विमल विसुद्धा महारिसी उत्तम ठाण पत्ते ॥	—"कुशल पुरुषों ने इसे ही स्नान कहा है । ऋषियों के लिए यह महान् स्नान ही प्रशस्त है । इस धर्मह्रद में स्नान करके महर्षि विमल और विशुद्ध होकर उत्तम स्थान को प्राप्त हुए हैं ।"
—त्ति बेमि ।	—ऐसा मैं कहता हूँ ।

१३

चित्र-सम्भूतीय

विशुद्ध अध्यात्मचेतना के बल पर ही कर्म-बंधन से मुक्ति हो सकती है।

साकेत के राजा मुनिचन्द्र, सागरचन्द्र मुनि के पास दीक्षित हुए। विहार करते हुए एक बार वे जंगल में भटक गए। वहाँ उन्हें चार गोपाल-पुत्र (ग्वाले के लड़के) मिले। मुनि के उपदेश से चारों दीक्षित हो गए। उनमें से दो मुनियों के मन में साधुओं के मलिन वस्त्रों से घृणा थी। वे इसी जुगुप्सा वत्ति को लिए देवगति में गए और वहां से शांडिल्य ब्राह्मण की दासी यशोमती के यहां जन्मे। एक बार वे अपने खेत में वृक्ष के नीचे सो रहे थे कि सांप ने उन्हें काट खाया। दोनों ही मरकर जंगल में हरिण बने। शिकारी के बाण से फिर दोनों मारे गये। अनन्तर राजहंस बने और एक मछुए ने दोनों की गर्दन मरोड़ कर मार डाला।

उस समय वाराणसी में एक वैभवसम्पन्न 'भूतदत्त' नामक चाण्डाल रहता था। दोनों हंस मरकर उसके पुत्र हुए। दोनों ही बहुत सुन्दर थे—एक का नाम चित्र था और दूसरे का नाम सम्भूत।

वाराणसी के तत्कालीन राजा शंख का मन्त्री नमुचि था। किसी भयंकर अपराध पर राजा ने उसे मृत्युदण्ड दिया था। वध का काम भूतदत्त को सौंपा गया। भूतदत्त ने अपने दोनों पुत्रों को अध्ययन कराने की शर्त पर उसे अपने घर में चोरी से छुपा लिया। नमुचि ने उन्हें अच्छी तरह अध्ययन कराया, दोनों अनेक विद्याओं में निष्णात बन गये।

अपनी पत्नी के साथ नमुचि का गलत व्यवहार देखकर क्रुद्ध भूतदत्त ने उसे मारने का निश्चय किया। दोनों लड़कों ने नमुचि को इसकी सूचना दे दी। अतः वह वहां से प्राण बचाकर भागा। और हस्तिनापुर आकर चक्रवर्ती सनत्कुमार के यहां मन्त्री बन गया।

एक बार वाराणसी के किसी उत्सव में चित्र और सम्भूत दोनों गए थे। उनके नृत्य और गीत उत्सव में विशेष आकर्षणकेन्द्र रहे। इतना आकर्षण बढ़ा कि स्पृश्यास्पृश्य का भेद ही समाप्त हो गया। यह बात उस समय के लोगों को काफी अखरी। उन्होंने राजा के पास शिकायत की कि हमारा धर्म भ्रष्ट हो रहा है। इस पर राजा ने दोनों लड़कों को उत्सव में से बाहर निकाल दिया।

एक बार वे रूप बदल कर पुनः किसी उत्सव में आए। उनके मुंह से संगीत के विलक्षण स्वर सुनकर लोगों ने उन्हें पहचान लिया। जातिमदान्ध लोगों ने उन्हें बुरी तरह मार पीट कर नगर से ही निकाल दिया। इस प्रकार अपमानित एवं तिरस्कृत होने पर उन्हें अपने जीवन के प्रति घृणा हुई। उन्होंने आत्म हत्या का निर्णय किया और मरने के लिए पहाड़ पर चले गये। पहाड़ पर से छलांग लगाकर मरने की तैयारी में ही थे कि एक मुनि ने उन्हें देख लिया, समझाया, और उन्हें प्रतिबोध दिया। वे समझ गये और साधु बन गये।

एक बार दोनों मुनि हस्तिनापुर आए। सम्भूत भिक्षा के लिए घूमते हुए नमुचि के यहां पहुँच गये। नमुचि ने देखा तो पहचान गया। उसे सन्देह हुआ कि कहीं मुनि मेरा वह रहस्य प्रकट न करदें। उसने उन्हें मार पीट कर नगर से निकालना चाहा। नमुचि के कहने पर लोगों ने उन्हें बहुत मारा पीटा। मार सहते-सहते आखिर मुनि शान्ति खो बैठे। क्रोध में तेजोलेश्या फूट पड़ी, सारा नगर धुएं से आच्छन्न हो गया। भयभीत लोगों ने अपने अपराध के लिए क्षमा मांगी। सूचना मिली तो चक्रवर्ती सनत्कुमार भी पहुँचे। इधर चित्रमुनि को भी ज्यों ही यह सूचना मिली, तो वे भी घटना-स्थल पर पहुँचे और सम्भूत को बहुत प्रिय वचनों से समझाया। मुनि शान्त हुए।

सनत्कुमार के वैभव को देखकर सम्भूत मुनि ने निदान किया कि 'मैं भी अपने तप के प्रभाव से चक्रवर्ती बनूं।' दोनों मुनि अन्यत्र विहार कर

गए। तपः साधना करते रहे। अन्तिम समय में अनशन व्रत लेकर दोनों ने साथ ही शरीर छोड़ा, और वहां से देवलोक में उत्पन्न हुए। छह जन्म साथ-साथ रहने के बाद देवलोक से आकर उन्होंने अलग-अलग जन्म लिया। सम्भूत निदानानुसार कांपिल्य नगर में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती बना।

ब्रह्मदत्त एक बार नाटक देख रहा था। नाटक देखते-देखते उसे जातिस्मरण हुआ और वह अपने छह जन्म के साथी चित्र की स्मृति में शोकविह्वल हो गया। पूर्व जन्मो की स्मृति के अनुसार चक्रवर्ती ने श्लोक का पूर्वार्ध तैयार कर लिया—

"आस्व दासौ मृगौ हंसौ, मातंगावमरौ तथा।"

श्लोक के उत्तरार्ध की पूर्ति के लिए राजा ने घोषणा की कि जो भी कोई इस श्लोक का उत्तरार्ध पूरा करेगा उसे आधा राज्य दूंगा। पर कौन पूरा करता ? किसे पता था इस रहस्य का ? श्लोक का पूर्वार्ध प्रायः हर किसी जबान पर था, किन्तु किसी से कुछ बन नही पा रहा था। चित्र का जन्म पुरिमताल नगर के एक सम्पन्न परिवार में हुआ था। उन्हें भी जातिस्मरण हुआ और वे मुनि बन गए। एक बार वे विहार करते हुए कांपिल्यनगर के एक उद्यान में आकर ध्यानस्थ खड़े हो गए। वहा उक्त श्लोक का पूर्वार्ध कोई अरघट्टचालक जोर-जोर से बोल रहा था। मुनि ने सुना और उसे पूरा कर दिया—

"एषा नौ षष्ठिका जातिः अन्योन्याभ्यां वियुक्तयोः।"

अब क्या था, रेंहट चालक ने ज्यों ही यह पूर्ति सुनी तो वह तत्क्षण चक्रवर्ती के पास पहुँचा, निवेदन किया। पूर्ति का भेद खुलने पर ब्रह्मदत्त स्वयं चल कर चित्र मुनि के पास गया और दोनो ने एक दूसरे से बातें की। ब्रह्मदत्त ने बार-बार चित्रमुनि को सांसारिक सुखो के लिए आमन्त्रण दिया और मुनि ने ब्रह्मदत्त को भोगासक्ति से विरक्त होने के लिए समझाने का प्रयत्न किया। मुनि ने कहा कि—"पूर्व जन्म के शुभ कर्मों से हम यहां तक आए हैं। अब हमें अपनी जीवनयात्रा को सही दिशा देनी है। संसार के घोर जंगल में अब न भटक जायं, इसके लिए प्रयत्न करना है। मोह के सब रिश्ते झूठे हैं। जो कहते है—मैं तुम्हारा हूं, वे न दुःख के समय साथ देते हैं, न मृत्यु के समय। उनके मिथ्या विश्वास पर हमें शुभ कार्यों को नहीं छोड़ना चाहिए।"

अन्त में ब्रह्मदत्त कहते हैं—"मैं आपकी बात को अच्छी तरह समझता हूँ, किन्तु क्या करूं, निदान के कारण मैं इसे छोड़ नहीं सकता हूँ। मैं तो दल-दल में फँसा हुआ वह हाथी हूँ, जो तट को देखकर भी तट तक जा नहीं सकता।"

मुनि चले जाते हैं। और धर्म साधना करते हुए अन्त में सर्वोत्तम सिद्धि गति को प्राप्त करते हैं। और ब्रह्मदत्त अशुभ कर्मों के कारण सर्वाधिक अशुभ सप्तम नरक में जाते हैं।

प्रस्तुत अध्ययन में चित्रमुनि और ब्रह्मदत्त का महत्त्वपूर्ण वार्तालाप है। जिसमें दोनों ही एक दूसरे को अपनी अपनी दिशा में ले जाने के लिए प्रयत्नशील हैं।

तेरसमं अज्झयणं : तेरहवां अध्ययन

चित्तसम्भूइज्जं : चित्र-सम्भूतीय

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. जाईपराजिओ खलु कासि नियाणं तु हत्थिणपुरम्मि। चुलणीए बम्भदत्तो उववन्नो पउमगुम्माओ ॥	जाति से पराजित संभूत मुनि ने हस्तिनापुर में चक्रवर्ती होने का निदान किया था। वहाँ से मरकर वह पद्मगुल्म विमान में देव बना। और फिर ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के रूप में चुलनी की कुक्षि से जन्म लिया।
२. कम्पिल्ले सम्भूओ चित्तो पुण जाओ पुरिमतालम्मि। सेट्ठिकुलम्मि विसाले धम्मं सोऊण पव्वइओ ॥	सम्भूत काम्पिल्य नगर में और चित्र पुरिमताल नगर में, विशाल श्रेष्ठिकुल में, उत्पन्न हुआ। और वह धर्म सुनकर प्रव्रजित हो गया।
३. कम्पिल्लम्मि य नयरे समागया दो वि चित्तसम्भूया। सुहदुक्खफलविवागं कहेन्ति ते एक्कमेक्कस्स ॥	काम्पिल्य नगर में चित्र और सम्भूत दोनों मिले। उन्होंने परस्पर सुख और दुःख रूप कर्मफल के विपाक के सम्बन्ध में बातचीत की।
४. चक्कवट्टी महिड्ढीओ बम्भदत्तो महायसो । भायरं बहुमाणेणं इमं वयणमब्बवी—॥	महान् ऋद्धिसंपन्न एवं महान् यशस्वी चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने अतीव आदर के साथ अपने भाई को इस प्रकार कहा—

चक्रवर्ती—

५. आसिमो भायरा दो वि
अन्नमन्नवसाणुगा ।
अन्नमन्नमणूरत्ता
अन्नमन्नहिएसिणो ॥

—"इसके पूर्व हम दोनों परस्पर वशवर्ती, परस्पर अनुरक्त और परस्पर हितैषी भाई-भाई थे।"

६. दासा दसण्णे आसी
मिया कालिंजरे नगे ।
हंसा मयंगतीरे य
सोवागा कासिभूमिए ॥

—"हम दोनों दशार्ण देश में दास, कालिंजर पर्वत पर हरिण, मृत-गंगा के किनारे हंस और काशी देश में चाण्डाल थे।"

७. देवा य देवलोगम्मि
आसि अम्हे महिड्ढिया ।
इमा नो छट्ठिया जाई
अन्नमन्नेण जा विणा ॥

—"हम दोनों देवलोक में महान् ऋद्धि से सम्पन्न देव थे। यह हमारा छठवां भव है, जिसमे हम एक दूसरे को छोड़कर पृथक्-पृथक् पैदा हुए हैं।"

मुनि—

८. कम्मा नियाणप्पगडा
तुमे राय ! विचिन्तिया ।
तेसि फलविवागेण
विप्पओगमुवागया ॥

—"राजन् ! तूने निदानकृत (भोगाभिलाषारूप) कर्मों का विशेष रूप से चिन्तन किया। उसी कर्मफल के विपाक से हम अलग-अलग पैदा हुए हैं।"

चक्रवर्ती—

९. सच्चसोयप्पगडा
कम्मा मए पुरा कडा ।
ते अज्ज परिभुंजामो
किं नु चित्ते वि से तहा ?

—"चित्र ! पूर्व जन्म में मेरे द्वारा किए गए सत्य और शुद्ध कर्मों के फल को आज मैं भोग रहा हूँ, क्या तुम भी वैसे ही भोग रहे हो ?"

मुनि—

१०. सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं
कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ।
अत्थेहि कामेहि य उत्तमेहि
आया ममं पुण्णफलोववेए ॥

—"मनुष्यों के द्वारा समाचरित सब सत्कर्म सफल होते हैं। किए हुए कर्मों के फल को भोगे बिना मुक्ति नहीं है। मेरी आत्मा भी उत्तम अर्थ और कामों के द्वारा पुण्यफल से युक्त रही है।"

११. जाणासि संभूय ! महाणुभागं
महिड्ढियं पुण्णफलोववेयं ।
चित्तं पि जाणाहि तहेव रायं !
इड्ढी जुई तस्स वि य प्पभूया ।।

—"सम्भूत ! जैसे तुम अपने आपको भाग्यवान्, महान् ऋद्धि से संपन्न और पुण्यफल से युक्त समझते हो, वैसे चित्र को भी समझो । राजन् ! उसके पास भी प्रचुर ऋद्धि और द्युति रही है ।

१२. महत्थरूवा वयणऽप्पभूया
गाहाणुगीया नरसंघमज्झे ।
जं भिक्खुणो सीलगुणोववेया
इहऽज्जयन्ते समणो म्हि जाओ ।।

—"स्थविरों ने जनसमुदाय में अल्पाक्षर, किन्तु महार्थ—सारगर्भित गाथा कही थी, जिसे शील और गुणों से युक्त भिक्षु यत्न से अर्जित—प्राप्त करते हैं । उसे सुनकर मै श्रमण हो गया ।"

चक्रवर्ती—

१३. उच्चोदए महु कक्के य बम्भे
पवेइया आवसहा य रम्मा ।
इमं गिहं चित्तधणप्पभूयं
पसाहि पंचालगुणोववेयं ।।

—उच्चोदय, मधु, कर्क, मध्य और ब्रह्मा-ये मुख्य प्रासाद तथा और भी अनेक रमणीय प्रासाद हैं । पांचाल देश के अनेक विशिष्ट पदार्थों से युक्त तथा प्रचुर एवं विविध धन से परि-पूर्ण इन गृहों को स्वीकार करो ।"

१४. नट्टेहि गीएहि य वाइएहिं
नारीजणाइं परिवारयन्तो ।
भुंजाहि भोगाइ इमाइ भिक्खू !
मम रोयई पव्वज्जा हु दुक्खं ।।

—"भिक्षु ! तुम नाट्य, गीत और वाद्यों के साथ स्त्रियों से घिरे हुए इन भोगों को भोगो । मुझे यही प्रिय है । प्रव्रज्या निश्चय से दुःखप्रद है ।"

१५. तं पुव्वनेहेण कयाणुरागं
नराहिवं कामगुणेसु गिद्धं ।
धम्मस्सिओ तस्स हियाणुपेही
चित्तो इमं वयणमुदाहरित्था ।।

उस राजा के हितैषी धर्म में स्थित चित्र मुनि ने पूर्व भव के स्नेह से अनुरक्त एवं कामभोगों में आसक्त राजा को इस प्रकार कहा—

मुनि–

१६. सव्वं विलवियं गीयं
सव्वं नट्टं विडम्बियं ।
सव्वे आभरणा भारा
सव्वे कामा दुहावहा ॥

—"सब गीत-गान विलाप हैं। समस्त नाट्य विडम्बना हैं। सब आभरण भार हैं। और समग्र काम-भोग दुःखप्रद हैं।"

१७. बालाभिरामेसु दुहावहेसु
न तं सुहं कामगुणेसु रायं !
विरत्तकामाण तवोधणाणं
जं भिक्खुणं शीलगुणे रयाणं ॥

—"अज्ञानियों को सुन्दर दिखनेवाले, किन्तु वस्तुतः दुःखकर कामभोगों मे वह सुख नहीं है, जो सुख शीलगुणों मे रत, कामनाओं से निवृत्त तपोधन भिक्षुओं को है।"

१८. नरिंद ! जाई अहमा नराणं
सोवागजाई दुहओ गयाणं ।
जहिं वयं सव्वजणस्स वेस्सा
वसीय सोवाग-निवेसणेसु ॥

—"हे नरेन्द्र ! मनुष्यों में जो चाण्डाल जाति अधम जाति मानी जाती है, उसमें हम दोनों उत्पन्न हो चुके हैं, चाण्डालों की बस्ती मे हम दोनों रहते थे, जहाँ सभी लोग हमसे द्वेष (घृणा) करते थे।"

१९. तीसे य जाईइ उ पावियाए
वुच्छामु सोवागनिवेसणेसु ॥
सव्वस्स लोगस्स दुगंछणिज्जा
इहं तु कम्माइं पुरेकडाइं ॥

—"निन्दनीय चाण्डाल जाति मे हमने जन्म लिया था और उन्हीं के बस्ती में हम दोनों रहे थे। तब सभी लोग हमसे घृणा करते थे। अतः यहाँ जो श्रेष्ठता प्राप्त है, वह पूर्व जन्म के शुभ कर्मों का फल है।"

२०. सो दाणिसिं राय ! महाणुभागो
महिड्ढिओ पुण्णफलोववेओ ।
चइत्तु भोगाइं असासयाइं
आयाणहेउं अभिणिक्खमाहिं ॥

—"पूर्व शुभ कर्मों के फलस्वरूप इस समय वह (पूर्व जन्म में निन्दित) तू अब महानुभाग, महान् ऋद्धिवाला राजा बना है। अतः तू क्षणिक भोगों को छोड़कर आदान-अर्थात् चारित्र धर्म की आराधना के हेतु अभिनिष्क्रमण कर।"

२१. इह जीविए राय ! असासयम्मि
धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो ।
से सोयई मच्चुमुहोवणीए
धम्मं अकाऊण परंसि लोए ॥

—"राजन् ! इस अशाश्वत मानव-जीवन में जो विपुल पुण्यकर्म नहीं करता है, वह मृत्यु के आने पर पश्चात्ताप करता है और धर्म न करने के कारण परलोक में भी पश्चात्ताप करता है।"

२२. जहेह सीहो व मियं गहाय
मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले ॥
न तस्स माया व पिया व भाया
कालम्मि तम्मिंऽसहरा भवंति ॥

—"जैसे कि यहाँ सिंह हरिण को पकड़कर ले जाता है, वैसे ही अन्तकाल में मृत्यु मनुष्य को ले जाता है। मृत्यु के समय में उसके माता-पिता और भाई—बन्धु कोई भी मृत्युदुःख में अंशधर—हिस्सेदार नहीं होते हैं।"

२३. न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ
न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा ।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं
कत्तारमेवं अणुजाइ कम्मं ॥

—"उसके दुःख को न जाति के लोग बँटा सकते हैं, और न मित्र, पुत्र तथा बन्धु ही। वह स्वयं अकेला ही प्राप्त दुःखों को भोगता है, क्योंकि कर्म कर्ता के ही पीछे चलता है।"

२४. चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च
खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं ।
कम्मप्पबीओ अवसो पयाइ
परं भवं सुन्दर पावगं वा ॥

—"द्विपद—सेवक, चतुष्पद—पशु, खेत, घर, धन-धान्य आदि सब कुछ छोड़कर यह पराधीन जीव अपने कृत कर्मों को साथ लिए सुन्दर अथवा असुन्दर परभव को जाता है।"

२५. तं इक्कगं तुच्छसरीरगं से
चिईगयं डहिय उ पावगेणं ।
भज्जा य पुत्ता वि य नायओ य
दायारमन्नं अणुसंकमन्ति ॥

—"जीवरहित उस एकाकी तुच्छ शरीर को चिता में अग्नि से जलाकर स्त्री, पुत्र और जाति-जन किसी अन्य आश्रयदाता का अनुसरण करते हैं।"

२६. उवणिज्जई जीवियमप्पमायं
वण्णं जरा हरइ नरस्स रायं !
पंचालराया ! वयणं सुणाहि
मा कासि कम्माइं महालयाइं ।।

—"राजन् ! कर्म किसी प्रकार का प्रमाद—भूल किए बिना जीवन को हरक्षण मृत्यु के समीप ले जा रहा है, और यह जरा-वृद्धावस्था मनुष्य की कान्ति का हरण कर रही है। पांचालराज ! मेरी बात सुनो। प्रचुर अपकर्म मत करो।"

चक्रवर्ती—

२७. अहं पि जाणामि जहेह साहू !
जं मे तुमं साहसि वक्कमेयं ।
भोगा इमे संगकरा हवन्ति
जे दुज्जया अज्जो ! अम्हारिसेहिं।।

—"हे साधो ! जैसे कि तुम मुझे बता रहे हो, मैं भी जानता हूँ कि ये कामभोग बन्धनरूप हैं, किन्तु आर्य ! हमारे-जैसे लोगों के लिए तो ये बहुत दुर्जय हैं।"

२८. हत्थिणपुरम्मि चित्ता !
दट्ठूणं नरवइं महिड्ढियं ।
कामभोगेसु गिद्धेणं
नियाणमसुहं कडं ।।

—"चित्र ! हस्तिनापुर में महान् ऋद्धि वाले चक्रवर्ती राजा को देखकर भोगों में आसक्त होकर मैंने अशुभ निदान किया था।"

२९. तस्स मे अपडिकन्तस्स
इमं एयारिसं फलं ।
जाणमाणो वि जं धम्मं
कामभोगेसु मुच्छिओ ।।

—"मैंने उस निदान का प्रतिक्रमण नहीं किया। उसी कर्म का यह फल है कि धर्म को जानता हुआ भी मैं काम-भोगों में आसक्त हूँ, उन्हें छोड़ नहीं सकता हूँ।"

३०. नागो जहा पंकजलावसन्नो
दट्ठुं थलं नाभिसमेइ तीरं ।
एवं वयं कामगुणेसु गिद्धा
न भिक्खुणो मग्गमणुव्वयामो ।।

"जैसे पंकजल—दलदल में धंसा हाथी स्थल को देखकर भी किनारे पर नहीं पहुँच पाता है, वैसे ही हम कामभोगों में आसक्त जन जानते हुए भी भिक्षुमार्ग का अनुसरण नहीं कर पाते हैं।"

मुनि—

३१. अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ
न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।
उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी॥

—"राजन्! समय व्यतीत हो रहा है, रातें दौड़ती जा रही हैं। मनुष्य के भोग नित्य नहीं हैं। काम-भोग क्षीणपुण्य-वाले व्यक्ति को वैसे ही छोड़ देते हैं, जैसे कि क्षीण फल वाले वृक्ष को पक्षी।"

३२. जइ तं सि भोगे चइउं असत्तो
अज्जाइं कम्माइं करेहि रायं!
धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकम्पी
तो होहिसि देवो इओ विउव्वी॥

—"राजन्! यदि तू काम-भोगों को छोड़ने में असमर्थ है, तो आर्य कर्म ही कर। धर्म में स्थित होकर सब जीवों के प्रति दया करने वाला बन, जिससे कि तू भविष्य में वैक्रियशरीरधारी देव हो सके।"

३३. न तुज्झ भोगे चइऊण बुद्धी
गिद्धो सि आरम्भ-परिग्गहेसु।
मोहं कओ एत्तिउ विप्पलावो
गच्छामि रायं! आमन्तिओऽसि॥

—"भोगों को छोड़ने की तेरी बुद्धि नहीं है। तू आरम्भ और परिग्रह में आसक्त है। मैंने व्यर्थ ही तुझ से इतनी बातें कीं, तुझे सम्बोधित किया। राजन्! मैं जा रहा हूँ।"

३४. पंचालराया वि य बम्भदत्तो
साहुस्स तस्स वयणं अकाउं।
अणुत्तरे भुंजिय कामभोगे
अणुत्तरे सो नरए पविट्ठो॥

पांचाल देश का राजा ब्रह्मदत्त मुनि के वचनों का पालन न कर सका, अतः अनुत्तर भोगों को भोगकर अनुत्तर (सप्तम) नरक में गया।

३५. चित्तो वि कामेहि विरत्तकामो
उदग्गचारित्त-तवो महेसी।
अणुत्तरं संजमं पालइत्ता
अणुत्तरं सिद्धिगइं गओ॥
—त्ति बेमि।

कामभोगों से निवृत्त, उग्र चारित्री एवं तपस्वी महर्षि चित्र अनुत्तर संयम का पालन करके अनुत्तर सिद्धिगति को प्राप्त हुए।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

१४

इषुकारीय

पूर्व जीवन के संस्कार वर्तमान के आवरणों को तोड़ देते हैं। उन्हें कोई रोक नहीं सकता।

कुरुक्षेत्र प्रदेश में बहुत पहले कभी एक 'इषुकार' नगर था। नगर के राजा का नाम भी 'इषुकार' था। उसकी पत्नी कमलावती थी।

इषुकार नगर में भृगु नामक राज-पुरोहित रहते थे। उनकी पत्नी यशा थी। उसका वशिष्ठ कुल में जन्म हुआ था, अतः उसे वाशिष्ठी कहते थे। इन्हे कोई सन्तान नही थी। वंश किस प्रकार चलेगा, बस, इसी एक चिन्ता में उनका समय निकल रहा था। एक बार दो देव, जिनका जन्म यशा और भृगु पुरोहित के यहाँ होना था, उन्होंने श्रमणवेश में आकर यशा को बताया कि—"तुम चिन्ता मत करो। तुम्हें दो पुत्र होंगे, किन्तु वे बचपन मे ही दीक्षा ग्रहण कर लेंगे।"

अपनी भविष्य-वाणी के अनुसार दोनों देवों ने भृगु पुरोहित के यहाँ पुत्रों के रूप में जन्म लिया। वे बहुत सुन्दर थे। यशा उन्हें देखकर प्रसन्न थी, किन्तु मन में यह भय भी समाया था कि भविष्यवाणी के अनुसार कही दोनों दीक्षा न ले लें? अतः वह अपने अल्पवयस्क, पुत्रों के मन में समय-समय पर साधुओं के प्रति भय की भावना पैदा करती रहती थी। उन्हें समझाती रहती कि—"साधुओं के पास मत जाना। वे छोटे बच्चों को उठाकर ले जाते हैं, उन्हें मार देते हैं। और तो क्या, उनसे बात भी मत करना।" मां की इस शिक्षा के फलस्वरूप दोनों बालक साधुओं से डरते रहते, उनके पास तक न जाते।

एक बार गाँव के बाहर कहीं दूर जगह पर वे खेल रहे थे। अचानक उसी रास्ते से कुछ साधु आए। उन्हें देखकर वे घबरा गये। अब क्या करें, बचने का कोई उपाय नहीं था। अतः वे पास के एक सघन वट-वृक्ष पर चढ़ गये। और छुपे हुए चुपचाप देखने लगे कि साधु क्या करते हैं? साधुओं ने पेड़ के नीचे आकर इधर उधर देखा-भाला, रजोहरण से चीटों को एक ओर सुरक्षित किया, और बड़ी यतना के साथ वट की छाया में बैठ कर भोजन करने लगे। बच्चों ने उनके दयाशील व्यवहार को देखा, उनकी करुणाद्रवित बातचीत सुनी। दोनो बच्चो का भय दूर हुआ। "इसके पहले भी कभी हमने इन्हें देखा है? ये अपरिचित नहीं हैं?"—धुंधली-सी स्मृति धीरे-धीरे अवचेतन मन पर रूपाकार होने लगी। वह कुछ और गहरी होकर स्पष्ट होने लगी। और कुछ ही क्षणों में उन्हें पूर्व जन्म का स्मरण हो आया। अब क्या था, भय दूर हुआ, अन्तर्मन प्रसन्नता से भर गया। वे वृक्ष से नीचे उतर कर साधुओं के पास आए। साधुओं ने उन्हें प्रतिबोध दिया। उन्होंने संयम लेने का निर्णय किया और माता पिता को अपने इस निर्णय की सूचना दी। माता पिता ने बहुत कुछ समझाया, किन्तु जब देखा कि वे नही मान रहे हैं, तो उन्होंने भी उनके साथ संयम लेने का निर्णय किया।

भृगु पुरोहित सम्पन्न था। उसके पास विपुल मात्रा में धन-संपत्ति थी। उत्तराधिकारी के न रहने का प्रश्न खड़ा हुआ कि उसका अब कौन मालिक हो। तत्कालीन परम्परा के अनुसार उसका एक ही समाधान था कि जिसका कोई नही, उसका मालिक राजा है। पुरोहित का त्यक्त धन राज्य-भंडार में जमा किये जाने लगा।

यह सूचना इषुकार की पत्नी कमलावती को मिली। भावनाशील रानी ने राजा को समझाया कि—"जीवन क्षणिक है। इस क्षणिक जीवन के लिए तुम यह क्यों संग्रह कर रहे हो। पुरोहित छोड़ रहा है, और तुम उसको स्वीकार कर रहे हो। यह तो दूसरों के वमन को चाटने के समान है, राजन्! धन मांस के टुकड़े के समान है। जिस प्रकार मांसखण्ड पर चील, कौवे और गीध झपटते हैं, उसी प्रकार धनलोलुप व्यक्ति धन पर झपटते हैं। अच्छा है कि हम इस क्षणनश्वर धन को छोड़कर, जो शाश्वत धन है, उसकी खोज करें। यहाँ के सभी सुख यही छोड़ जाने हैं। यहाँ से जाते समय परभव में एक धर्म ही साथ होगा।"

रानी की बात सुनकर राजा की भावना का परिवर्तन होता है। राजा रानी दोनों ही भोगों से विरक्त हो जाते है और संयम स्वीकार करने का संकल्प करते हैं।

इस प्रकार राजा और रानी, पुरोहित और उसकी पत्नी, पुरोहित के दोनों पुत्र—छहों व्यक्ति दीक्षा लेते हैं।

चउद्दसमं अज्झयणं : चौदहवां अध्ययन

उसुयारिज्जं : इषुकारीय

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. देवा भवित्ताण पुरे भवम्मी केइ चुया एगविमाणवासी । पुरे पुराणे उसुयारनामे खाए समिद्धे सुरलोगरम्मे ॥	देवलोक के समान सुरम्य, प्राचीन, प्रसिद्ध और समृद्धिशाली इषुकार नामक नगर था । उसमें पूर्वजन्म मे एक ही विमान के वासी कुछ जीव देवताका आयुष्य पूर्ण कर अवतरित हुए ।
२. सकम्मसेसेण पुराकएणं कुलेसु दग्गेसु य ते पसूया । निव्विणसंसारभया जहाय जिणिन्दमग्गं सरणं पवन्ना ॥	पूर्वभव मे कृत अपने अवशिष्ट कर्मों के कारण वे जीव उच्चकुलों मे उत्पन्न हुए और संसारभय से उद्विग्न होकर कामभोगों का परित्याग कर जिनेन्द्र-मार्ग की शरण ली ।
३. पुमत्तमागम्म कुमार दो वी पुरोहिओ तस्स जसा य पत्ती । विसालकित्ती य तहोसुयारो रायत्थ देवी कमलावई य ॥	पुरुषत्व को प्राप्त दोनों पुरोहित-कुमार, पुरोहित, उसकी पत्नी यशा, विशालकीर्ति वाला इषुकार राजा और उसकी रानी कमलावती—ये छह व्यक्ति थे ।

४. जाई-जरा-मच्चुभयाभिभूया
बहिं विहाराभिनिविट्ठचित्ता।
संसारचक्कस्स विमोक्खणट्ठा
दट्ठूण ते कामगुणे विरत्ता॥

जन्म, जरा और मरण के भय से अभिभूत कुमारों का चित्त मुनिदर्शन से बहिर्विहार अर्थात् मोक्ष की ओर आकृष्ट हुआ, फलतः संसारचक्र से मुक्ति पाने के लिए वे कामगुणों से विरक्त हुए।

५. पियपुत्तगा दोन्नि वि माहणस्स
सकम्मसीलस्स पुरोहियस्स
सरित्तु पोराणिय तत्थ जाइं
तहा सुचिण्णं तव-संजमं च॥

यज्ञ-यागादि कर्म में संलग्न ब्राह्मण (पुरोहित) के ये दोनों प्रिय पुत्र अपने पूर्वजन्म तथा तत्कालीन सुचीर्ण (भली-भाँति आराधित) तप-संयम को स्मरण कर विरक्त हुए।

६. ते कामभोगेसु असज्जमाणा
माणुस्सएसुं जे यावि दिव्वा।
मोक्खाभिकंखी अभिजायसड्ढा
तायं उवागम्म इमं उदाहु॥

मनुष्य तथा देवता-सम्बन्धी काम भोगो मे अनासक्त, मोक्षाभिलाषी, श्रद्धा-संपन्न उन दोनो पुत्रो ने पिता के समीप आकर उन्हे इस प्रकार कहा—

७. असासयं दट्ठु इमं विहारं
बहुअन्तरायं न य दीहमाउं।
तम्हा गिहंसि न रइं लहामो
आमन्तयामो चरिस्सामु मोणं॥

—"जीवन की क्षणिकता को हमने जाना है, वह विघ्न बाधाओं से पूर्ण है, अल्पायु है। इसलिए घर मे हमें कोई आनन्द नहीं मिल रहा है। अतः आपकी अनुमति चाहते हैं कि हम मुनिधर्म का आचरण करें।"

८. अह तायगो तत्थ मुणीण तेसिं
तवस्स वाघायकरं वयासी।
इमं वयं वेयविओ वयन्ति
जहा न होई असुयाण लोगो॥

यह सुनकर पिता ने कुमार-मुनियों की तपस्या में बाधा उत्पन्न करने वाली यह बात की कि—'पुत्रो! वेदों के ज्ञाता इस प्रकार कहते हैं—जिनको पुत्र नहीं होता है, उनकी गति नहीं होती है।"

९. अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे
पुत्ते परिट्ठप्प गिहंसि जाया !
भोच्चाण भोए सह इत्थियाहिं
आरण्णगा होह मुणी पसत्था ॥

—"इसलिए हे पुत्रो, पहले वेदों का अध्ययन करो, ब्राह्मणों को भोजन दो और विवाह कर स्त्रियों के साथ भोग भोगो। अनन्तर पुत्रों को घर का भार सौंप कर अरण्यवासी प्रशस्त-श्रेष्ठ मुनि बनना।"

१०. सोयग्गिणा आयगुणिन्धणेणं
मोहाणिला पज्जलणाहिएणं ।
संतत्तभावं परितप्पमाणं
लालप्पमाणं बहुहा बहुं च ॥

अपने रागादि-गुणरूप इन्धन (जलावन) से प्रदीप्त एवं मोहरूप पवन से प्रज्वलित शोकाग्नि के कारण जिसका अन्तःकरण संतप्त तथा परितप्त हो गया है, और जो मोहग्रस्त होकर अनेक प्रकार के बहुत अधिक दीनहीन वचन बोल रहा है—

११. पुरोहियं तं कमसोऽणुणन्तं
निमंतयन्तं च सुए धणेणं ।
जहक्कमं कामगुणेहि चेव
कुमारगा ते पसमिक्ख वक्कं ॥

—जो एक के बाद एक बार-बार अनुनय कर रहा है, धन का और क्रमप्राप्त काम भोगों का निमन्त्रण दे रहा है, उस अपने पिता पुरोहित को कुमारों ने अच्छी तरह विचार कर यह वचन कहा—

पुत्र—

१२. वेया अहीया न भवन्ति ताणं
भुत्ता दिया निन्ति तमं तमेणं ।
जाया य पुत्ता न हवन्ति ताणं
को णाम ते अणुमन्नेज्ज एयं ॥

—"पढ़े हुए वेद भी त्राण नहीं होते हैं। यज्ञ-यागादि के रूप में पशुहिंसा के उपदेशक ब्राह्मण भी भोजन कराने पर तमस्तम (अन्धकाराच्छन्न) स्थिति में ले जाते हैं। औरस पुत्र भी रक्षा करने वाले नहीं हैं। अतः आपके उक्त कथन का कौन अनुमोदन करेगा ?"

१३. खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा
पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥

—"ये काम-भोग क्षण भर के लिए सुख देते हैं, तो चिरकाल तक दुःख देते हैं, अधिक दुःख और थोड़ा सुख देते हैं। संसार से मुक्त होने में बाधक हैं, अनर्थों की खान हैं।"

१४. परिव्वयन्ते अणियत्तकामे
अहो य राओ परितप्पमाणे ।
अन्नप्पमत्ते धणमेसमाणे
पप्पोत्ति मच्चुं पुरिसे जरं च ॥

—"जो कामनाओं से मुक्त नहीं है, वह अतृप्ति के ताप से जलता हुआ पुरुष रात दिन भटकता फिरता है और दूसरों के लिए प्रमादाचरण करने वाला वह धन की खोज में लगा हुआ एक दिन जरा और मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।"

१५. इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि
इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं ।
तं एवमेवं लालप्पमाणं
हरा हरंति त्ति कहं पमाए ?

—"यह मेरे पास है, यह मेरे पास नहीं है। यह मुझे करना है, यह नहीं करना है—इस प्रकार व्यर्थ की बकवास करने वाले व्यक्ति को अपहरण करने वाली मृत्यु उठा लेती है। उक्त स्थिति होने पर भी प्रमाद कैसा ?"

पिता—

१६. धणं पभूयं सह इत्थियाहिं
सयणा तहा कामगुणा पगामा ।
तवं कए तप्पइ जस्स लोगो
तं सव्व साहीणमिहेव तुब्भं ॥

—"जिसकी प्राप्ति के लिए लोग तप करते हैं, वह विपुल धन, स्त्रियाँ, स्वजन और इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयभोग—तुम्हें यहां पर ही स्वाधीन रूप से प्राप्त हैं। फिर परलोक के इन सुखों के लिए क्यों भिक्षु बनते हो ?"

१७. धणेण किं धम्मधुराहिगारे
सयणेण वा कामगुणेहि चेव ।
समणा भविस्सामु गुणोहधारी
बहिंविहारा अभिगम्म भिक्खं ॥

पुत्र—

—"जिसे धर्म की धुरा को वहन करने का अधिकार प्राप्त है, उसे धन, स्वजन तथा ऐन्द्रियिक विषयों का क्या प्रयोजन है ? हम तो गुणसमूह के धारक, अप्रतिबद्धविहारी, शुद्ध भिक्षा ग्रहण करने वाले श्रमण बनेंगे ।"

१८. जहा य अग्गी अरणीउऽसन्तो
खीरे घयं तेल्ल महातिलेसु ।
एमेव आया ! सरीरंसि सत्ता
संमुच्छई नासइ नावचिट्ठे ॥

पिता—

—"पुत्रो ! जैसे अरणि में अग्नि, दूध मे घी, तिलो मे तेल असत्-अविद्यमान पैदा होता है, उसी प्रकार शरीर मे जीव भी असत् ही पैदा होता है और नष्ट हो जाता है। शरीर का नाश होने पर जीव का कुछ भी अस्तित्व नहीं रहता ।"

१९. नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा
अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो ।
अज्झत्थहेउं निययऽस्स बन्धो
संसारहेउं च वयन्ति बन्धं ॥

पुत्र—

—"आत्मा अमूर्त है, अतः वह इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं है—जाना नहीं जा सकता है। जो अमूर्त भाव होता है, वह नित्य होता। आत्मा के आन्तरिक रागादि हेतु ही निश्चित रूप से बन्ध के कारण हैं। और बन्ध को ही संसार का हेतु कहा है।"

२०. जहा वयं धम्ममजाणमाणा
पावं पुरा कम्ममकासि मोहा ।
ओरुज्झमाणा परिरक्खयन्ता
तं नेव भुज्जो वि समायरामो ॥

—"जब तक हम धर्म से अनभिज्ञ थे, तब तक मोहवश पाप कर्म करते रहे, आपके द्वारा हम रोके गए और हमारा संरक्षण होता रहा। किन्तु अब हम पुनः पाप कर्म का आचरण नहीं करेंगे।"

२१. अब्भाहयंमि लोगंमि
सव्वओ परिवारिए।
अमोहाहिं पडन्तीहिं
गिहंसि न रइं लभे ॥

—"लोक आहत (पीड़ित) है। चारों तरफ से घिरा है। अमोघा आ रही हैं। इस स्थिति में हम घर में सुख नहीं पा रहे हैं।"

पिता—

२२. केण अब्भाहओ लोगो ?
केण वा परिवारिओ ?
का वा अमोहा वुत्ता ?
जाया ! चिंतावरो हुमि ॥

—"पुत्रो ! यह लोक किससे आहत है ? किससे घिरा हुआ है ? अमोघा किसे कहते हैं ? यह जानने के लिए मैं चिन्तित हूं।"

पुत्र—

२३. मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो
जराए परिवारिओ।
अमोहा रयणी वुत्ता
एवं ताय ! वियाणह ॥

—"पिता ! आप अच्छी तरह जान लें कि यह लोक मृत्यु से आहत है, जरा से घिरा हुआ है। और रात्रि (समयचक्र की गति) को अमोघा (कभी न रुकने वाली) कहते हैं।"

२४. जा जा वच्चइ रयणी
न सा पडिनियत्तई।
अहम्मं कुणमाणस्स
अफला जन्ति राइओ ॥

—"जो जो रात्रि जा रही है, वह फिर लौट कर नहीं आती है। अधर्म करने वाले की रात्रियां निष्फल जाती हैं।"

२५. जा जा वच्चइ रयणी
न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स
सफला जन्ति राइओ ॥

—"जो जो रात्रि जा रही है, वह फिर लौट कर नहीं आती है। धर्म करने वाले की रात्रियां सफल होती हैं।"

२६. एगओ संवसित्ताणं
दुहओ सम्मत्तसंजुया ।
पच्छा जाया ! गमिस्सामो
भिक्खमाणा कुले कुले ॥

पिता—

—"पुत्रो, पहले हम सब कुछ समय एक साथ रह कर सम्यक्त्व और व्रतों से युक्त हों अर्थात् उनका पालन करें। पश्चात् ढलती आयु में दीक्षित होकर घर-घर से भिक्षा ग्रहण करते हुए विचरेंगे।"

२७. जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं
जस्स वऽत्थि पलायणं ।
जो जाणे न मरिस्सामि
सो हु कंखे सुए सिया ॥

पुत्र—

—"जिसकी मृत्यु के साथ मैत्री है, जो मृत्यु के आने पर दूर भाग सकता है, अथवा जो यह जानता है कि मैं कभी मरूंगा ही नही, वही आने वाले कल की आकांक्षा (भरोसा) कर सकता है।"

२८. अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो
जहिं पवन्ना न पुणब्भवामो ।
अणागयं नेव य अत्थि किंचि
सद्धाखमं णे विणइत्तु रागं ॥

—"हम आज ही राग को दूर करके श्रद्धा से युक्त मुनिधर्म को स्वीकार करेंगे, जिसे पाकर पुनः इस संसार में जन्म नही लेना होता है। हमारे लिए कोई भी भोग अनागत—अभुक्त नहीं है, क्योंकि वे अनन्त बार भोगे जा चुके हैं।

प्रबुद्ध पुरोहित—

२९. पहीणपुत्तस्स हु नत्थि वासो
वासिट्ठि! भिक्खायरियाइ कालो।
साहाहि रुक्खो लहए समाहिं
छिन्नाहि साहाहि तमेव खाणुं ॥

—"वाशिष्ठि ! पुत्रों के बिना इस घर में मेरा निवास नही हो सकता है। भिक्षाचर्या का काल आ गया है। वृक्ष शाखाओं से ही सुन्दर लगता है। शाखाओं के कट जाने पर वह केवल ठूंठ कहलाता है।"

३०. पंखाविहूणो व्व जहेह पक्खी
भिच्चविहूणो व्व रणे नरिन्दो।
विवन्नसारो वणिओ व्व पोए
पहीणपुत्तो मि तहा अहं पि ॥

—"पंखों से रहित पक्षी, युद्ध में सेना से रहित राजा, जलपोत (जहाज) पर धन-रहित व्यापारी जैसे असहाय होता है वैसे ही पुत्रों के बिना मैं भी असहाय हूं।"

३१. सुसंभिया कामगुणा इमे ते
संपिण्डिया अग्गरसप्पभूया ।
भुंजामु ता कामगुणे पगामं
पच्छा गमिस्सामु पहाणमग्गं ।।

पुरोहित पत्नी—

—"सुसंस्कृत एवं सुसंगृहीत काम-भोग रूप प्रचुर विषयरस जो हमें प्राप्त हैं, उन्हे पहले इच्छानुरूप भोग लें। उसके बाद हम मुनिधर्म के प्रधान मार्ग पर चलेंगे।"

३२. भुत्ता रसा भोइ ! जहाइ णे वओ
न जीवियट्ठा पजहामि भोए ।।
लाभं अलाभं च सुहं च दुक्खं
संचिक्खमाणो चरिस्सामि मोणं।।

पुरोहित—

—"भवति ! हम विषयरसों को भोग चुके है। युवावस्था हमें छोड़ रही है। मैं किसी स्वर्गीय जीवन के प्रलोभन मे भोगो को नही छोड़ रहा हूं। लाभ-अलाभ, सुख-दुख को समदृष्टि से देखता हुआ मैं मुनिधर्म का पालन करूंगा।"

३३. मा हू तुमं सोयरियाण सभरे
जुण्णो व हंसो पडिसोत्तगामी ।
भुंजाहि भोगाइ मए समाणं
दुक्खं खु भिक्खायरियाविहारो ।।

पुरोहित-पत्नी—

—"प्रतिस्रोत मे तैरने वाले बूढ़े हंस की तरह कही तुम्हे फिर अपने बन्धुओं को याद न करना पड़े ? अतः मेरे साथ भोगो को भोगो। यह भिक्षाचर्या और यह ग्रामानुग्राम विहार काफी दुःख-रूप है।"

३४. जहा य भोई ! तणुयं भुयंगो
निम्मोयणिं हिच्च पलेइ मुत्तो ।
एमेए जाया पयहन्ति भोए
ते हं कहं नाणुगमिस्समेक्को ?

पुरोहित—

—"भवति ! जैसे सांप अपने शरीर की कॅचुली को छोड़कर मुक्तमन से चलता है, वैसे ही दोनों पुत्र भोगों को छोड़ कर जा रहे हैं। अतः मैं अकेला रहकर क्या करूंगा ? क्यों न उनका अनुगमन करूं ?"

३५. छिन्दित्तु जालं अबलं व रोहिया
मच्छा जहा कामगुणे पहाय ।
धोरेयसीला तवसा उदारा
धीरा हु भिक्खायरियं चरन्ति ॥

—"रोहित मत्स्य जैसे कमजोर जाल को काटकर बाहर निकल जाते हैं, वैसे ही धारण किए हुए गुरुतर संयम-भार को वहन करने वाले प्रधान तपस्वी धीर साधक कामगुणों को छोड़कर भिक्षाचर्या को स्वीकार करते हैं।"

३६. जहेव कुंचा समइक्कमन्ता
तयाणि जालाणि दलित्तु हंसा ।
पलेन्ति पुत्ता य पई य मज्झं
ते हं कहं नाणुगमिस्समेक्का ?

पुरोहित-पत्नी—

—"जैसे क्रौंच पक्षी और हंस बहेलियों द्वारा प्रसारित जालों को काटकर आकाश में स्वतन्त्र उड जाते हैं, वैसे ही मेरे पुत्र और पति भी छोडकर जा रहे हैं। पीछे मै अकेली रह कर क्या करूंगी ? मै भी क्यों न उनका अनुगमन करूं ?"

३७. पुरोहियं तं ससुयं सदारं
सोच्चाऽभिनिक्खम्म पहाय भोए।
कुडुंबसारं विउलुत्तमं तं
रायं अभिक्खं समुवाय देवी ॥

—"पुत्र और पत्नी के साथ पुरोहित ने भोगों को त्याग कर अभिनिष्क्रण किया है"—यह सुनकर उस कुटुम्ब की प्रचुर और श्रेष्ठ धनसंपत्ति की चाह रखने वाले राजा को रानी कमलावती ने कहा—

रानी कमलावती—

३८. वन्तासी पुरिसो रायं !
न सो होइ पसंसिओ ।
माहणेण परिच्चत्तं
धणं आदाउमिच्छसि ॥

—"तुम ब्राह्मण के द्वारा परित्यक्त धन को ग्रहण करने की इच्छा रखते हो। राजन् ! वमन को खाने वाला पुरुष प्रशंसनीय नहीं होता है।"

३९. सव्वं जगं जइ तुहं
सव्वं वावि धणं भवे ।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं
नेव ताणाय तं तव ॥

—"सारा जगत् और जगत् का समस्त धन भी यदि तुम्हारा हो जाय, तो भी वह तुम्हारे लिए अपर्याप्त ही होगा। और वह धन तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकेगा।"

४०. मरिहिसि राय ! जया तया वा
मणोरमे कामगुणे पहाय ।
एक्को हु धम्मो नरदेव ! ताणं
न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ॥

—"राजन् ! एक दिन इन मनोज्ञ काम गुणो को छोडकर जब मरोगे, तब एक धर्म ही संरक्षक होगा। हे नरदेव ! यहा धर्म के अतिरिक्त और कोई रक्षा करने वाला नही है।"

४१. नाहं रमे पक्खिणी पंजरे वा
संताणछिन्ना चरिस्सामि मोणं
अकिंचणा उज्जुकडा निरामिसा
परिग्गहारंभनियत्तदोसा ॥

—"पक्षिणी जैसे पिंजरे में सुख का अनुभव नही करती है, वैसे ही मुझे भी यहाँ आनन्द नही है। मैं स्नेह के बंधनो को तोडकर अकिंचन, सरल, निरासक्त, परिग्रह और हिंसा से निवृत्त होकर मुनि धर्म का आचरण करूंगी।"

४२. दवग्गिणा जहा रण्णे
डज्झमाणेसु जन्तुसु ।
अन्ने सत्ता पमोयन्ति
रागद्दोसवसं गया ॥

—"जैसे कि वन में लगे दावानल में जन्तुओं को जलते देख रागद्वेष के कारण अन्य जीव प्रमुदित होते हैं।"

४३. एवमेव वयं मूढा
कामभोगेसु मुच्छिया ।
डज्झमाणं न बुज्झामो
रागद्दोसऽग्गिणा जगं ॥

—"उसी प्रकार कामभोगों में मूर्च्छित हम मूढ लोग भी राग द्वेष की अग्नि में जलते हुए जगत् को नहीं समझ रहे हैं।"

४४. भोगे भोच्चा वमित्ता य
लहुभूयविहारिणो ।
आमोयमाणा गच्छन्ति
दिया कामकमा इव ॥

—"आत्मवान् साधक भोगों को भोगकर और यथावसर उन्हें त्यागकर वायु की तरह अप्रतिबद्ध लघुभूत होकर विचरण करते हैं। अपनी इच्छानुसार विचरण करने वाले पक्षियों की तरह प्रसन्नतापूर्वक स्वतन्त्र विहार करते हैं।"

४५. इमे य बद्धा फन्दन्ति
मम हत्थऽज्जमागया ।
वयं च सत्ता कामेसु
भविस्सामो जहा इमे ॥

—"आर्य ! हमारे हस्तगत हुए ये कामभोग, जिन्हें हमने नियन्त्रित समझ रखा है, वस्तुतः क्षणिक हैं। अभी हम कामनाओं मे आसक्त हैं, किन्तु जैसे कि पुरोहित—परिवार बन्धनमुक्त हुआ है, वैसे ही हम भी होंगे।"

४६. सामिसं कुललं दिस्स
बज्झमाणं निरामिसं ।
आमिसं सव्वमुज्झित्ता
विहरिस्सामि निरामिसा ॥

—"जिस गीध पक्षी के पास मांस होता है, उसी पर दूसरे मांसभक्षी पक्षी झपटते हैं। जिसके पास मांस नहीं होता है, उस पर नहीं झपटते हैं। अतः मैं भी आमिष अर्थात् मांसोपम सब कामभोगों को छोड़कर निरामिष भाव से विचरण करूंगी।"

४७. गिद्धोवमे उ नच्चाणं
कामे संसारवड्ढणे ।
उरगो सुवण्णपासे व
संकमाणो तणुं चरे ॥

—"संसार को बढ़ाने वाले कामभोगों को गीध के समान जानकर, उनसे वैसे ही शंकित होकर चलना चाहिए, जैसे कि गरुड़ के समीप सांप शंकित होकर चलता है।"

४८. नागो व्व बन्धणं छित्ता
अप्पणो वसहिं वए।
एयं पत्थं महारायं!
उसुयारि त्ति मे सुयं॥

—"बन्धन को तोड़कर जैसे हाथी अपने निवास स्थान (वन) में चला जाता है, वैसे ही हमें भी अपने वास्तविक स्थान (मोक्ष) में चलना चाहिए। हे महाराज इषुकार! यही एक मात्र श्रेयस्कर है, ऐसा मैंने ज्ञानियों से सुना है।"

उपसंहार—

४९. चइत्ता विउलं रज्जं
कामभोगे य दुच्चए।
निव्विसया निरामिसा
निन्नेहा निप्परिग्गहा॥

विशाल राज्य को छोड़कर, दुस्त्यज कामभोगों का परित्याग कर, वे राजा और रानी भी निर्विषय, निरामिष, निःस्नेह और निष्परिग्रह हो गए।

५०. सम्मं धम्मं वियाणित्ता
चेच्चा कामगुणे वरे।
तवं पगिज्झऽहक्खायं
घोरं घोरपरक्कमा॥

धर्म को सम्यक् रूप से जानकर, फलतः उपलब्ध श्रेष्ठ कामगुणों को छोड़कर, दोनों ही यथोपदिष्ट घोर तप को स्वीकार कर संयम में घोर पराक्रमी बने।

५१. एवं ते कमसो बुद्धा
सव्वे धम्मपरायणा।
जम्म-मच्चुभउव्विग्गा
दुक्खस्सन्तगवेसिणो॥

इस प्रकार वे सब क्रमशः बुद्ध बने, धर्मपरायण बने, जन्म एवं मृत्यु के भय से उद्विग्न हुए, अतएव दुःख के अन्त की खोज में लग गए।

५२. सासणे विगयमोहाणं
पुव्विं भावणभाविया।
अचिरेणेव कालेण
दुक्खस्सन्तमुवागया॥

५३. राया सह देवीए
माहणो य पुरोहिओ।
माहणी दारगा चेव
सव्वे ते परिनिव्वुडे॥
—त्ति बेमि।

जिन्होंने पूर्व जन्म में अनित्य एवं अशरण आदि भावनाओं से अपनी आत्मा को भावित किया था, वे सब राजा, रानी, ब्राह्मण पुरोहित, उसकी पत्नी और उनके दोनों पुत्र वीतराग अर्हत्-शासन में मोह को दूर कर थोड़े समय में ही दुःख का अन्त करके मुक्त हो गए।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

१५

सभिक्षुक

कौन भिक्षु है ? भिक्षु क्या करता है ?

भिक्षु क्या मानता है ?

जो व्यक्ति विषयों से निरासक्त होकर एक मात्र मुक्तिलाभ के लिए भिक्षु बना है, उसका जीवन सामाजिक सुख-सुविधाओं से, मान्यताओं एवं धारणाओं से एकदम भिन्न होता है ।

सबसे प्रथम वह निर्भय होता है । वह किसी से कभी डरता नहीं है । न सम्मान और प्रतिष्ठा से इतराता है । वह अपने जीवन के निर्वाह के लिए मन्त्र-तन्त्र आदि विद्याओं का भी उपयोग नहीं करता है । उसके मन में अमीर और गरीब का भेद भी नही होता है । वह मुक्त मन से सभी घरों में समान भाव मे भिक्षा के लिए जाता है । साधारण निर्धन घरों से नीरस भिक्षा प्राप्त होने पर निन्दा नही करता है, और सम्पन्न घरों से सरस आहार मिलने पर प्रशंसा भी नही करता है । भिक्षा लेने के बाद गृहस्थ को धन्यवाद नही देता है । न कृतज्ञता ज्ञापन के लिए ही कुछ कहता है । वह निरन्तर एकरस अपनी साधना की मस्ती में और स्व की खोज में लगा रहता है ।

वह उन लोगो से दूर रहता है, जिनसे उसके लक्ष्य की पूर्ति में बाधा आती हो । वह व्यर्थ के लोक-व्यवहार और सम्पर्क से सर्वथा अलग रहकर सीमित, संयमित और जागृति-पूर्ण जीवन जीता है । इस प्रकार का जीवन जीने वाला 'भिक्षु' होता है । निन्दा और स्तुति से मुक्त, राग और द्वेष से उपरत विशिष्ट सर्वोत्तम स्वलक्ष्य की दिशा में ही उसकी जीवन की मंगल-यात्रा होती है । भिक्षु के संयमी जीवन की यह वास्तविक संहिता है ।

पनरसमं अज्झयणं : पंदरहवाँ अध्ययन

सभिक्खुयं : सभिक्षुक

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. मोणं चरिस्सामि समिच्च धम्मं सहिए उज्जुकडे नियाणछिन्ने । संथवं जहिज्ज अकामकामे अन्नायएसी परिव्वए जे स भिक्खू ॥	"धर्म को स्वीकार कर मुनिभाव का आचरण करूंगा"—उक्त संकल्प से जो ज्ञान दर्शनादि गुणों से युक्त रहता है, जिसका आचरण सरल है, जिसने निदानों को छेद दिया है, जो पूर्व परिचय का त्याग करता है, जो कामनाओं से मुक्त है, अपनी जाति आदि का परिचय दिए बिना ही जो भिक्षा की गवेषणा करता है और जो अप्रतिबद्ध भाव से विहार करता है, वह भिक्षु है ।
२. राओवरयं चरेज्ज लाढे विरए वेयवियाऽऽयरक्खिए । पन्ने अभिभूय सव्वदंसी जे कम्हिवि न मुच्छिए स भिक्खू ॥	जो राग से उपरत है, संयम में तत्पर है, जो आश्रव से विरत है, जो शास्त्रों का ज्ञाता है, जो आत्मरक्षक एवं प्राज्ञ है, जो रागद्वेष को पराजित कर सभी को अपने समान देखता है, जो किसी भी वस्तु में आसक्त नहीं होता है, वह भिक्षु है ।

३. अक्कोसवहं विइत्तु धीरे
मुणी चरे लाढे निच्चमायगुत्ते ।
अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे
जे कसिणं अहियासए स भिक्खू ॥

कठोर वचन एवं वध—मारपीट को अपने पूर्व-कृत कर्मों का फल जानकर जो धीर मुनि शान्त रहता है, जो संयम से प्रशस्त है, जिसने आश्रव से अपनी आत्मा को गुप्त—रक्षित किया है, आकुलता और हर्षातिरेक से जो रहित है, जो समभाव से सब कुछ सहन करता है, वह भिक्षु है।

४. पन्तं सयणासणं भइत्ता
सीउण्हं विविहं च दंसमसगं ।
अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे
जे कसिणं अहियासए स भिक्खू ॥

जो साधारण से साधारण आसन और शयन को समभाव से स्वीकार करता है, जो सर्दी-गर्मी तथा डांस-मच्छर आदि के अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों में हर्षित और व्यथित नहीं होता है, जो सब कुछ सह लेता है, वह भिक्षु है।

५. नो सक्कियमिच्छई न पूयं
नो वि य वन्दणगं, कुओ पसंसं ?
से संजए सुव्वए तवस्सी
सहिए आयगवेसए स भिक्खू ॥

जो भिक्षु सत्कार, पूजा और वन्दना तक नहीं चाहता है, वह किसी से प्रशंसा की अपेक्षा कैसे करेगा ? जो संयत है, सुव्रती है, और तपस्वी है, जो निर्मल आचार से युक्त है, जो आत्मा की खोज में लगा है, वह भिक्षु है।

६. जेण पुण जहाइ जीवियं
मोहं वा कसिणं नियच्छई ।
नरनारिं पजहे सया तवस्सी
न य कोऊहलं उवेइ स भिक्खू ॥

स्त्री हो या पुरुष, जिसकी संगति से संयमी जीवन छूट जाये, और सब ओर से पूर्ण मोह में बंध जाए, तपस्वी उस संगति से दूर रहता है, जो कुतूहल नहीं करता, वह भिक्षु है।

७. छिन्नं सरं भोममन्तलिक्खं
सुमिणं लक्खणदण्डवत्थुविज्जं ।
अंगवियारं सरस्स विजयं
जो विज्जाहिं न जीवइ स भिक्खू ॥

जो छिन्न (वस्त्रादि की छिद्र-विद्या) स्वर-विद्या, भौम, अन्तरिक्ष, स्वप्न, लक्षण, दण्ड, वास्तु-विद्या, अंगविकार और स्वर-विज्ञान (पशु-पक्षी आदि की बोली का ज्ञान)—इन विद्याओं से जो नहीं जीता है, वह भिक्षु है ।

८. मन्तं मूलं विविहं वेज्जचिन्तं
वमणविरेयणधूमणेत्त-सिणाणं ।
आउरे सरणं तिगिच्छियं च
तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥

जो रोगादि से पीड़ित होने पर भी मंत्र, मूल—जड़ी-बूटी आदि, आयुर्वेद संबंधी विचारणा, वमन, विरेचन, धूम्र पान की नली, स्नान, स्वजनों की शरण और चिकित्सा का त्याग कर अप्रतिबद्ध भाव से विचरण करता है, वह भिक्षु है ।

९. खत्तियगणउग्गरायपुत्ता
माहणभोइयविविहा य सिप्पिणो ।
नो तेसिं वयइ सिलोगपूयं
तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥

क्षत्रिय, गण, उग्र, राजपुत्र, ब्राह्मण, भोगिक (सामन्त आदि) और सभी प्रकार के शिल्पियों की पूजा तथा प्रशंसा में जो कभी कुछ भी नहीं कहता है, किन्तु इसे हेय जानकर विचरता है, वह भिक्षु है ।

१०. गिहिणो जे पव्वइएण दिट्ठा
अप्पव्वइएण व संथुया हविज्जा ।
तेसिं इहलोइयफलट्ठा
जो संथवं न करेइ स भिक्खू ॥

जो व्यक्ति प्रव्रजित होने के बाद परिचित हुए हों, अथवा जो प्रव्रजित होने से पहले के परिचित हों उनके साथ इस लोक के फल की प्राप्ति हेतु जो संस्तव (मेल-जोल) नहीं करता है, वह भिक्षु है ।

११. सयणासण-पाण-भोयणं
विविहं खाइमं साइमं परेसिं ।
अदए पडिसेहिए नियण्ठे
जे तत्थ न पउस्सई स भिक्खू ॥

शयन, आसन, पान, भोजन और विविध प्रकार के खाद्य एवं स्वाद्य कोई स्वयं न दे, अथवा माँगने पर भी इन्कार कर दे तो जो निर्ग्रन्थ उनके प्रति द्वेष नहीं रखता है, वह भिक्षु है ।

१२. जं किंचि आहारपाणं विविहं
खाइम-साइमं परेसिं लद्धुं ।
जो तं तिविहेण नाणुकंपे
मण-वय-कायसुसंवुडे स भिक्खू ।।

गृहस्थों से विविध प्रकार के अशन-पान एवं खाद्य-स्वाद्य प्राप्त कर जो मन-वचन-काया से त्रिविध अनुकंपा नहीं करता है, आशीर्वाद आदि नहीं देता है, अपितु मन, वचन और काया से पूर्ण संवृत रहता है, वह भिक्षु है।

१३. आयामगं चेव जवोदणं च
सीयं च सोवीर-जवोदगं च ।
नो हीलए पिण्डं नीरसं तु
पन्तकुलाइं परिव्वए स भिक्खू ।।

ओसामन, जौ से बना भोजन, ठंडा भोजन, कांजी का पानी, जौ का पानी-जैसे नीरस पिण्ड-भिक्षा की जो निंदा नहीं करता है, अपितु भिक्षा के लिए साधारण घरों में जाता है, वह भिक्षु है।

१४. सद्दा विविहा भवन्ति लोए
दिव्वा माणुस्सगा तहा तिरिच्छा।
भीमा भयभेरवा उराला
जो सोच्चा न वहिज्जई स भिक्खू।।

संसार में देवता, मनुष्य और तिर्यंचो के जो अनेकविध रौद्र, अति भयंकर और अद्भुत शब्द होते हैं, उन्हें सुनकर जो डरता नहीं है, वह भिक्षु है।

१५. वादं विविहं समिच्च लोए
सहिए खेयाणुगए य कोवियप्पा।
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी
उवसन्ते अविहेडए स भिक्खू ।।

लोकप्रचलित विविध धर्मविषयक वादों को जानकर भी जो ज्ञान दर्शनादि स्वधर्म में स्थित रहता है, जो कर्मों को क्षीण करने में लगा है, जिसे शास्त्रों का परमार्थ प्राप्त है, जो प्राज्ञ है, जो परीषहों को जीतता है, जो सब जीवों के प्रति समदर्शी है और उपशान्त है, जो किसी को अपमानित नहीं करता है, वह भिक्षु है।

१६. असिप्पजीवी अगिहे अमित्ते
जिइन्दिए सव्वओ विप्पमुक्के।
अणुक्कसाई लहुअप्पभक्खी
चेच्चा गिहं एगचरे स भिक्खू ॥

जो शिल्पजीवी नहीं है, जिसका कोई गृह नहीं है, जिसके अभिष्वंग के हेतु मित्र नहीं, हैं, जो जितेन्द्रिय है, जो सब प्रकार के परिग्रह से मुक्त है, जो अणुकषायी है अर्थात् जिसके क्रोधादि कषाय मन्द हैं, जो नीरस और परिमित आहार लेता है, जो गृहवास छोड़कर एकाकी विचरण करता है, वह भिक्षु है।

—त्ति बेमि।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

१६

ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान

ब्रह्मचर्य का अर्थ है—स्वरूपबोध और आत्मरमणता।

व्रत, नियम एवं प्रतिज्ञाएँ उसके लिए वातावरण है।

अनन्त, अप्रतिम, अद्वितीय सहज आनन्द आत्मा का स्वरूप है, स्वभाव है। किन्तु अनादि की गलत समझ और उपेक्षा के कारण जीव ने शरीर, इन्द्रिय और मन में आनन्द को खोजा। इस खोज ने कुछ भ्रम पैदा किए, जिसके फलस्वरूप आत्मा ने आसक्ति और वासना का जाल अपने चारों तरफ बुन लिया, उसे आत्मा का स्वभाव मान लिया और उसी में उलझ गया। इस जाल को तोड़ना ही ब्रह्मचर्य है। भ्रम से मुक्त हो जाना ही ब्रह्मचर्य है। वह भ्रम स्वरूपबोध से टूट सकता है। आत्मरमणता से पररमणता का जाल नष्ट हो सकता है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मचर्य तक पहुंचने का और कोई मार्ग नहीं है। व्रत, नियम, बाह्य मर्यादाएँ ब्रह्मचर्य नहीं हैं। किन्तु ब्रह्मचर्य तक पहुँचने के लिए यह केवल एक वातावरण है। प्राथमिक स्थिति में साधक के लिए उसकी अवश्य आवश्यकता है। किन्तु व्रत एवं नियमों का पालन करने के बाद भी ब्रह्मचर्य की साधना शेष रहती है, चूंकि विकारों के बीज भीतर हैं, और नियम ऊपर हैं। बाहर के नियमों से भीतर के विकार नही मिटाये जा सकते हैं। फिर भी नियमों की उपयोगिता है। जिनसे स्वयं का बोध प्रकट हो सके, स्वयं को जानने का अवसर मिल सके, वे नियम साधना-क्षेत्र में अतीव उपयोगी हैं, चूंकि इन्द्रिय और मन के कोलाहलपूर्ण वातावरण में ब्रह्मचर्य की साधना कठिन है। उस कोलाहल को नियम रोकते हैं, जिससे साधक आसानी से 'स्व' की खोज कर सकता है।

●

सोलसमं अज्झयणं : सोलहवाँ अध्ययन

बम्भचेरसमाहिठाणं : ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान

मूल

**सूत्र १—सुयं मे आउसं ! तेणं
भगवया एवमक्खायं—
इह खलु थेरेहिं
भगवन्तेहिं दस बम्भचेर-
समाहिठाणा पन्नत्ता,
जे भिक्खू सोच्चा, निसम्म,
संजमबहुले, संवरबहुले, समाहिबहुले,
गुत्ते, गुत्तिन्दिए, गुत्तबम्भयारी
सया अप्पमत्ते विहरेज्जा।**

हिन्दी अनुवाद

आयुष्मन् ! मैंने सुना है कि उस भगवान् ने ऐसा कहा है। स्थविर भगवन्तो ने निर्ग्रन्थ प्रवचन में दस ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान बतलाए है—जिन्हें सुन कर, जिनके अर्थ का निर्णय कर भिक्षु संयम, संवर, (आश्रवनिरोध) तथा समाधि (चित्तविशुद्धि) से अधिकाधिक सम्पन्न हो—मन, वचन, काया का गोपन करे—इन्द्रियों को वश में रखे——ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रखे—और सदा अप्रमत्त होकर विहार करे।

**सूत्र २—कयरे खलु ते थेरेहिं
भगवन्तेहिं
दस बम्भचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता
जे भिक्खू सोच्चा, निसम्म,
संजमबहुले, संवर-
बहुले, समाहिबहुले,
गुत्ते, गुत्तिन्दिए, गुत्तबंभयारी
सया अप्पमत्ते विहरेज्जा !**

स्थविर भगवन्तों ने ब्रह्मचर्य-समाधि के वे कौनसे स्थान बतलाए हैं—जिन्हें सुनकर, जिनके अर्थ का निर्णय कर—भिक्षु संयम, संवर और समाधि से अधिकाधिक सम्पन्न हो—मन, वचन और काया का गोपन करे—इन्द्रियों को वश में रखे—ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रखे—और सदा अप्रमत्त होकर विहार करे।

सूत्र ३—इमे खलु ते थेरेहिं भगवन्तेहिं
दस बंभचेर समाहिठाणा पन्नता,
जे भिक्खू सोच्चा, निसम्म,
संजम बहुले, संवर बहुले,
समाहिबहुले,
गुत्ते, गुत्तिन्दिए, गुत्त बंभयारी
सया अप्पमत्ते विहरेज्जा।

तं जहा—

विवित्ताइं सयणासणाइं
सेविज्जा, से निग्गन्थे।
नो-इत्थी-पसुपण्डगसंसत्ताइं
सयणासणाइं सेविता हवइ,
से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे ?

आयरियाह-निग्गन्थस्स
खलु इत्थीपसुपण्डगसंसत्ताइं
सयणासणाइं सेवमाणस्स
बम्भयारिस्स बंभचेरे संका वा,
कंखा वा, वितिगिच्छा वा
समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा,
उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं
वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नताओ
वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा नो
इत्थि-पसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं
सेविता हवइ, से निग्गन्थे।

स्थविर भगवन्तों ने ब्रह्मचर्य-समाधि के ये दस स्थान बतलाए हैं—जिन्हें सुन कर, जिनके अर्थ का निर्णय कर भिक्षु संयम, संवर और समाधि से अधिकाधिक सम्पन्न हो—मन, वचन और काया का गोपन करे—इन्द्रियों को वश में रखे—ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रखे—सदा अप्रमत्त होकर विहार करे।

वे इस प्रकार हैं—

जो विविक्त-अर्थात् एकान्त शयन और आसन का सेवन करता है, वह निर्ग्रन्थ है। जो स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त (आकीर्ण) शयन और आसन का सेवन नहीं करता है, वह निर्ग्रन्थ है।

ऐसा क्यों ?

आचार्य कहते हैं—जो स्त्री, पशु और नपुंसक से आकीर्ण शयन और आसन सेवन करता है, उस ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा (भोगेच्छा) या विचिकित्सा (फल के प्रति सन्देह) उत्पन्न होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है, अथवा उन्माद पैदा होता है, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक (आशुघाती शूलादि) होता है, अथवा वह केवली-प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट होता है। अतः स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त (आकीर्ण) शयन और आसन का जो सेवन नहीं करता है, वह निर्ग्रन्थ है।

सूत्र ४— नो इत्थीणं कहं कहित्ता हवइ, से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे ?

आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु
इत्थीणं कहं कहेमाणस्स,
बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा
कंखा वा वितिगिच्छा वा
समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा
उम्मायं वा पाउणिज्जा,
दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा,
केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ
भंसेज्जा !
तम्हा नो इत्थीणं कहं कहेज्जा।

जो स्त्रियों की (रूप, लावण्य आदि से सम्बन्धित) कथा नहीं करता है, वह निर्ग्रन्थ है।

ऐसा क्यों ?

आचार्य कहते हैं—जो स्त्रियों की कथा करता है, उस ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है, अथवा उन्माद पैदा होता है, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है, अथवा वह केवलीप्ररूपित धर्म से भ्रष्ट होता है। अतः निर्ग्रन्थ स्त्रियों की कथा न करे।

सूत्र ५—नो इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरित्ता हवइ से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे ?

आयरियाह-निग्गन्थस्स खलु
इत्थीहिं सद्धिं
सन्निसेज्जागयस्स,
बम्भयारिस्स बम्भचेरे
संका वा, कंखा वा,
वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा,
भेयं वा लभेज्जा,
उम्मायं वा पाउणिज्जा,
दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा,
केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा।
तम्हा खलु नो निग्गन्थे
इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरेज्जा।

जो स्त्रियों के साथ एक आसन पर नही बैठता है, वह निर्ग्रन्थ है।

ऐसा क्यों ?

आचार्य कहते हैं—जो स्त्रियों के साथ एक आसन पर बैठता है, उस ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है, अथवा उन्माद पैदा होता है, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है, अथवा वह केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट होता है। अतः निर्ग्रन्थ स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे।

सूत्र ६—नो इत्थीणं इन्दियाइं
मणोहराइं, मणोरमाइं
आलोइत्ता, निज्झाइत्ता
हवइ, से निग्गन्थे।
तं कहमिति चे ?
आयरियाह-निग्गन्थस्स खलु
इत्थीणं इन्दियाइं
मणोहराइं, मणोरमाइं
आलोएमाणस्स,
निज्झायमाणस्स
बम्भयारिस्स बम्भचेरे
संका वा, कंखा वा,
वितिगिच्छा वा
समुप्पज्जिज्जा,
भेयं वा लभेज्जा,
उम्मायं वा पाउणिज्जा,
दीहकालियं वा
रोगायंकं हवेज्जा,
केवलिपन्नत्ताओ वा
धम्माओ भंसेज्जा।
तम्हा खलु निग्गन्थे नो
इत्थीणं इन्दियाइं
मणोहराइं, मणोरमाइं
आलोएज्जा, निज्झाएज्जा।

जो स्त्रियों की मनोहर एवं मनोरम इन्द्रियों को नहीं देखता है और उनके विषय में चिन्तन नहीं करता है, वह निर्ग्रन्थ है।

ऐसा क्यों ?

आचार्य कहते हैं—जो स्त्रियों की मनोहर एवं मनोरम इन्द्रियों को देखता है और उनके विषय में चिन्तन करता है, उस ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है, अथवा उन्माद पैदा होता है, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है, अथवा वह केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। इसलिए निर्ग्रन्थ स्त्रियों की मनोहर एवं मनोरम इन्द्रियों को न देखे और न उनके विषय में चिन्तन करे।

सूत्र ७—नो इत्थीणं कुड्डन्तरंसि
वा, दूसन्तरंसि वा,
भित्तन्तरंसि वा, कुइयसद्दं वा,
रुइयसद्दं वा, गीयसद्दं वा,
हसियसद्दं वा, थणियसद्दं वा,
कन्दियसद्दं वा, विलवियसद्दं वा,
सुणेत्ता हवइ, से निग्गन्थे।

जो मिट्टी की दीवार के अन्तर से, परदे के अन्तर से अथवा पक्की दीवार के अन्तर से स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, स्तनित—गर्जन, आक्रन्दन या विलाप के शब्दों को नहीं सुनता है, वह निर्ग्रन्थ है।

तं कहमिति चे ?

आयरियाह-निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा, दूसन्तरंसि वा, भित्तन्तरंसि वा, कुइयसद्दं वा, रुइयसद्दं वा, गीयसद्दं वा, हसियसद्दं वा, थणियसद्दं वा, कन्दियसद्दं वा, विलवियसद्दं वा, सुणेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा ! तम्हा खलु निग्गन्थे नो इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा, दूसन्तरंसि वा, भित्तन्तरंसि वा, कुइयसद्दं वा, रुइयसद्दं वा, गीयसद्दं वा, हसियसद्दं वा थणियसद्दं वा, कन्दियसद्दं वा, विलवियसद्दं वा सुणेमाणे विहरेज्जा ।

ऐसा क्यों ?

आचार्य कहते हैं—मिट्टी की दीवार के अन्तर से, परदे के अन्तर से, अथवा पक्की दीवार के अन्तर से, स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, गर्जन आक्रन्दन या विलाप के शब्दों को सुनता है, उस ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय मे शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है, अथवा उन्माद पैदा होता है, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है, अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अत. निर्ग्रन्थ मिट्टी की दीवार के अन्तर से, परदे के अन्तर से स्त्रियो के कूजन, रोदन, गीत हास्य, गर्जन, आक्रन्दन या विलाप के शब्दो को न सुने।

सूत्र ८—नो निग्गन्थे पुव्वरयं, पुव्वकीलियं अणुसरित्ता हवइ, से निग्गन्थे ।

तं कहमिति चे ?

आयरियाह-निग्गन्थस्स खलु पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरमाणस्स बम्भयारिस्स बंभचेरे संका वा,

जो संयमग्रहण से पूर्व की रति और क्रीडा का अनुस्मरण नहीं करता है, वह निर्ग्रन्थ है।

ऐसा क्यो ?

आचार्य कहते हैं—जो संयम ग्रहण से पूर्व की रति का, क्रीडा का अनुस्मरण करता है, उस ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को

कंखा वा, वितिगिच्छा वा
समुप्पज्जिज्जा,
भेयं वा लभेज्जा,
उम्मायं वा पाउणिज्जा,
दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा,
केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ
भंसेज्जा ! तम्हा खलु नो
निग्गन्थे पुव्वरयं, पुव्वकीलियं
अणुसरेज्जा ।

ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है, अथवा उन्माद पैदा होता है, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है, अथवा वह केवली-प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अतः निर्ग्रन्थ संयम ग्रहण से पूर्व की रति और क्रीडा का अनुस्मरण न करे।

सूत्र ९—नो पणीयं आहारं
आहारित्ता हवइ, से निग्गन्थे ।
तं कहमिति चे ?
आयरियाह निग्गन्थस्स
खलु पणीयं पाणभोयणं
आहारेमाणस्स बम्भयारिस्स
बम्भचेरे संका वा, कंखा वा,
वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा,
भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा
पाउणिज्जा, दीहकालियं वा
रोगायंकं हवेज्जा,
केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ
भंसेज्जा !
तम्हा खलु नो निग्गन्थे
पणीयं आहारं आहारेज्जा ।

जो प्रणीत अर्थात् रसयुक्त पौष्टिक आहार नहीं करता है, वह निर्ग्रन्थ है।

ऐसा क्यों ?

आचार्य कहते हैं—जो रसयुक्त पौष्टिक भोजन-पान करता है, उस ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय मे शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है, अथवा उन्माद पैदा होता है, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है, अथवा वह केवली-प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अतः निर्ग्रन्थ प्रणीत आहार न करे।

सूत्र १०—नो अइमायाए पाणभोयणं
आहारेत्ता हवइ, से निग्गन्थे ।
तं कहमिति चे ?
आयरियाह निग्गन्थस्स खलु

जो परिमाण से अधिक नहीं खाता-पीता है, वह निर्ग्रन्थ है।

ऐसा क्यों ?

आचार्य कहते हैं—जो परिमाण से

अइमायाए पाणभोयणं
आहारेमाणस्स, बम्भयारिस्स
बंभचेरे संका वा, कंखा वा,
वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा,
भेयं वा लभेज्जा,
उम्मायं वा पाउणिज्जा,
दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा,
केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ
भंसेज्जा ! तम्हा खलु नो
निग्गन्थे अइमायाए
पाणभोयणं भुंजिज्जा ।

अधिक खाता-पीता है, उस ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है, अथवा उन्माद पैदा होता है, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है, अथवा वह केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अतः निर्ग्रन्थ परिमाण से अधिक न खाए, न पीए।

सूत्र ११—नो विभूसाणुवाई
हवइ, से निग्गन्थे ।

जो विभूषानुपाती नहीं होता है, अर्थात् शरीर की विभूषा नहीं करता है, वह निर्ग्रन्थ है।

तं कहमिति चे ?
आयरियाह—
विभूसावत्तिए, विभूसियसरीरे
इत्थिजणस्स अभिलसणिज्जे
हवइ । तओ णं तस्स
इत्थिजणेणं अभिलसिज्जमाणस्स
बम्भचेरे संका वा, कंखा वा,
वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा,
भेयं वा लभेज्जा,
उम्मायं वा पाउणिज्जा,
दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा,
केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा ।
तम्हा खलु नो निग्गन्थे
विभूसाणुवाई सिया ।

ऐसा क्यों ?

आचार्य कहते हैं—जिसकी मनोवृत्ति विभूषा करने की होती है, वह शरीर को सजाता है, फलतः उसे स्त्रियाँ चाहती हैं। अतः स्त्रियों द्वारा चाहे जाने वाले ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य मे शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है, अथवा उन्माद पैदा होता है, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है, अथवा वह केवलीप्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अतः निर्ग्रन्थ विभूषानुपाती न बने।

सूत्र १२—नो सद्द-रूव-रस-गन्ध-
फासाणुवाई हवइ,
से निग्गन्थे।
तं कहमिति चे ?
आयरियाह निग्गन्थस्स खलु
सद्दरूवरसगन्धफासाणुवाइस्स
बम्भयारिस्स बम्भचेरे
संका वा, कंखा वा,
वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा,
भेयं वा लभेज्जा,
उम्मायं वा पाउणिज्जा।
दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा,
केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ
भंसेज्जा!
तम्हा खलु नो निग्गन्थे
सद्दरूवरसगन्धफासाणुवाई हविज्जा।
दसमे बम्भचेरसमाहिठाणे हवइ।

जो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त नहीं होता है, वह निर्ग्रन्थ है।

ऐसा क्यों ?

आचार्य कहते हैं—जो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त रहता है, उस ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है, अथवा उन्माद पैदा होता है, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है अथवा वह केवली-प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अतः निर्ग्रन्थ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त न बने।

यह ब्रह्मचर्य समाधि का दसवाँ स्थान है।

भवन्ति इत्थ सिलोगा, तंजहा—

यहाँ कुछ श्लोक हैं, जैसे—

१. जं विवित्तमणाइण्णं
रहियं थीजणेण य।
बम्भचेरस्स रक्खट्ठा
आलयं तु निसेवए॥

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए संयमी एकान्त, अनाकीर्ण और स्त्रियों से रहित स्थान में रहे।

२. मणपल्हायजणणिं
कामरागविवड्ढणिं।
बंभचेररओ भिक्खू
थीकहं तु विवज्जए॥

ब्रह्मचर्य में रत भिक्षु मन में आह्लाद पैदा करने वाली तथा कामराग को बढ़ाने वाली स्त्री-कथा का त्याग करे।

३. समं च संथवं थीहिं
संकहं च अभिक्खणं ।
बंभचेररओ भिक्खू
निच्चसो परिवज्जए ॥

ब्रह्मचर्य में रत भिक्षु स्त्रियों के साथ परिचय तथा बार-बार वार्तालाप का सदा परित्याग करे ।

४. अंगपच्चंग-संठाणं
चारुल्लविय-पेहियं ।
बंभचेररओ थीणं
चक्खुगिज्झं विवज्जए ॥

ब्रह्मचर्य मे रत भिक्षु चक्षु-इन्द्रिय से ग्राह्य स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग, संस्थान—आकार, बोलने की सुन्दर मुद्रा, तथा कटाक्ष को देखने का परित्याग करे ।

५. कुइयं रुइयं गीयं
हसियं थणिय-कन्दियं ।
बंभचेररओ थीणं
सोयगिज्झं विवज्जए ॥

ब्रह्मचर्य मे रत भिक्षु श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, गर्जन और क्रन्दन न सुने ।

६. हासं किड्डं रइं दप्पं
सहसाऽवत्तासियाणि य ।
बम्भचेररओ थीणं
नाणुचिन्ते कयाइ वि ॥

ब्रह्मचर्य मे रत भिक्षु, दीक्षा से पूर्व जीवन में स्त्रियों के साथ अनुभूत हास्य, क्रीड़ा, रति, अभिमान और आकस्मिक त्रास का कभी भी अनुचिन्तन न करे ।

७. पणीयं भत्तपाणं तु
खिप्पं मयविवड्ढणं ।
बम्भचेररओ भिक्खू
निच्चसो परिवज्जए ॥

ब्रह्मचर्य मे रत भिक्षु, शीघ्र ही कामवासना को बढ़ाने वाले प्रणीत आहार का सदा-सदा परित्याग करे ।

८. धम्मलद्धं मियं काले
जत्तत्थं पणिहाणवं ।
नाइमत्तं तु भुंजेज्जा
बम्भचेररओ सया ॥

ब्रह्मचर्य में रत भिक्षु चित्त की स्थिरता के लिए, जीवन-यात्रा के लिए उचित समय मे धर्म-मर्यादानुसार प्राप्त परिमित भोजन करे, किन्तु मात्रा से अधिक ग्रहण न करे ।

९. विभूसं परिवज्जेज्जा सरीरपरिमण्डणं । बम्भचेररओ भिक्खू सिंगारत्थं न धारए ॥	ब्रह्मचर्य में रत भिक्षु विभूषा का त्याग करे। शृंगार के लिए शरीर का मण्डन न करे।
१०. सद्दे रूवे य गन्धे य रसे फासे तहेव य । पंचविहे कामगुणे निच्चसो परिवज्जए ॥	शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श—इन पाँच प्रकार के कामगुणों का सदा त्याग करे।
११. आलओ थीजणाइण्णो थीकहा य मणोरमा । संथवो चेव नारीणं तासिं इन्दियदरिसणं ॥	(१) स्त्रियों से आकीर्ण स्थान, (२) मनोरम स्त्री-कथा, (३) स्त्रियों का परिचय, (४) उनकी इन्द्रियों को देखना,
१२. कुइयं रुइयं गीयं हसियं भुत्तासियाणि य । पणीयं भत्तपाणं च अइमायं पाणभोयणं ॥	(५) उनके कूजन, रोदन, गीत और हास्ययुक्त शब्दों का सुनना, (६) भुक्त भोगों और सहावस्थान को स्मरण करना, (७) प्रणीत (पौष्टिक) भोजन-पान, (८) मात्रा से अधिक भोजन पान,
१३. गत्तभूसणमिट्ठं च कामभोगा य दुज्जया । नरस्सऽत्तगवेसिस्स विसं तालउडं जहा ॥	(९) शरीर को सजाने की इच्छा, (१०) दुर्जय काम भोग—ये दस आत्म-गवेषक मनुष्य के लिए तालपुट विष के समान है।
१४. दुज्जए कामभोगे य निच्चसो परिवज्जए । संकट्ठाणाणि सव्वाणि वज्जेज्जा पणिहाणवं ॥	एकाग्रचित्त वाला मुनि दुर्जय काम-भोगों का सदैव त्याग करे और सब प्रकार के शंका-स्थानों से दूर रहे।
१५. धम्मारामे चरे भिक्खू धिइमं धम्मसारही । धम्मारामरए दन्ते बम्भचेर - समाहिए ॥	जो धैर्यवान है, जो धर्मरथ का चालक सारथि है, जो धर्म के आराम में रत है, जो दान्त है, जो ब्रह्मचर्य में सुसमाहित है, वह भिक्षु धर्म के आराम (बाग) में विचरण करता है।

१६. देव — दाणव — गन्धव्वा।
जक्ख—रक्खस—किन्नरा।
बम्भयारिं नमंसन्ति
दुक्करं जे करन्ति तं॥

जो दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसे देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर—सभी नमस्कार करते हैं।

१७. एस धम्मे धुवे निअए
सासए जिणदेसिए।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण
सिज्झिस्सन्ति तहावरे॥

यह ब्रह्मचर्य-धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिनोपदिष्ट है। इस धर्म के द्वारा अनेक साधक सिद्ध हुए हैं, हो रहे है, और भविष्य मे भी होगे।

—त्ति बेमि

—ऐसा मैं कहता हूँ।

१७

पाप-श्रमणीय

भिक्षु होने के बाद जो साधना नहीं करता है, वह पापश्रमण है।

भिक्षु बनने के बाद साधक व्यक्ति को अपना जीवन साधनामय व्यतीत करना ही चाहिए; किन्तु अगर वह ऐसा नहीं करता है, तो भगवान् महावीर उसे 'पापश्रमण' कहते है।

साधु होने के बाद यह सोचना ठीक नही है कि अब मुझे और कुछ करने की क्या आवश्यकता है? गृहत्याग कर अनगार हो गया हूँ, भिक्षु बन गया हूँ। मुझ कृतकृत्य को अब और क्या चाहिए? आराम से सत्कार सम्मान के साथ भिक्षा मिल ही जाती है। अन्य सब सुविधाएं भी प्राप्त हैं। आनन्द से जीवनयात्रा चल रही है। अब साधना के नाम पर व्यर्थ के आत्मपीड़न से क्या लाभ?

यदि विवेकभ्रष्ट भिक्षु ऐसा सोचता है, तो वह साधनापथ से भटक जाता है। उसकी दृष्टि आत्मा से हट कर शरीर पर आ ठहरती है, फलतः सुबह से शाम तक वह यथेच्छ खाता-पीता है और आराम से सोया रहता है। न उसे ठीक तरह चलने का विवेक रहता है और न बैठने का। अपने उपकरणों को बिना देखे-भाले यों ही चाहे जहाँ रख देता है। सारा कार्य कुमडपन से करता है और अव्यवस्थित रहता है। किसी के समझाने पर समझता भी नहीं है, अपितु उल्टा समझाने वाले की ही भूलें निकालने लगता है। उन पर क्रोध करता है। उनकी बात नहीं मानता है।

आचार्य और उपाध्याय के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता है। श्रुत के अध्ययन से जी चुराता है। बिना कारण के यों ही उल्लंठपने से

एक गण से दूसरे गण में जाता है। अविवेकी और मूढ़ है। विचारों से अस्थिर है। वह श्रमण (भिक्षु) पापश्रमण है।

श्रमण बनने का लक्ष्य केवल वेष-परिवर्तन से पूरा नहीं होता है। वेष-परिवर्तन आसान है। दो-चार बंधे बँधाये नियमों का पालन करना भी सहज है। किन्तु अनासक्ति के साथ उस परम सत्य की खोज के लिए अपने को सर्वतोभावेन समर्पित करना, आसान नही है। और यही वह साधना है, जो मानव-जीवन का परम आदर्श है। जो इसे साध सकता है, भगवान् महावीर उसे श्रेष्ठ श्रमण कहते हैं।

सतरसमं अज्झयणं : सतरहवाँ अध्ययन
पावसमणिज्जं : पाप-श्रमणीय

मूल	हिन्दी-अनुवाद
१. जे के इमे पव्वइए नियण्ठे धम्मं सुणित्ता विणओववन्ने । सुदुल्लहं लहिउं बोहिलाभं विहरेज्ज पच्छा य जहासुहं तु ॥	जो कोई धर्म को सुनकर, अत्यन्त दुर्लभ बोधिलाभ को प्राप्त करके पहले तो विनय अर्थात् आचार से संपन्न हो जाता है, निर्ग्रन्थरूप में प्रव्रजित हो जाता है, किन्तु बाद में सुख-स्पृहा के कारण स्वच्छन्द-विहारी हो जाता है ।
२. सेज्जा दढा पाउरणं मे अत्थि उप्पज्जई भोत्तुं तहेव पाउं । जाणामि जं वट्टइ आउसु ! त्ति किं नाम काहामि सुएण भन्ते ॥	आचार्य एवं गुरु के द्वारा शास्त्राध्ययन की प्रेरणा मिलने पर वह दुर्मुख होकर कहता है—"आयुष्मन् ! रहने को अच्छा स्थान मिल रहा है । कपड़े मेरे पास हैं । खाने पीने को मिल जाता है । और जो हो रहा है, उसे मैं जानता हूँ । भन्ते ! शास्त्रों का अध्ययन करके मैं क्या करूँगा ?"
३. जे के इमे पव्वइए निद्दासीले पगामसो । भोच्चा पेच्चा सुहं सुवइ पावसमणे त्ति वुच्चई ॥	जो कोई प्रव्रजित होकर निद्राशील रहता है, यथेच्छ खा-पीकर बस आराम से सो जाता है, वह 'पापश्रमण' कहलाता है ।

४. आयरियउवज्झाएहिं
सुयं विणयं च गाहिए।
ते चेव खिंसई बाले
पावसमणे त्ति वुच्चई॥

जिन आचार्य और उपाध्यायों से श्रुत (विचार) और विनय (आचार) ग्रहण किया है, उन्हीं की निन्दा करता है, वह बाल—अर्थात् विवेकभ्रष्ट पापश्रमण कहलाता है।

५. आयरिय-उवज्झायाणं
सम्मं नो पडितप्पइ।
अप्पडिपूयए थद्धे
पावसमणे त्ति वुच्चई॥

जो आचार्य और उपाध्यायों की चिन्ता (सेवा आदि का ध्यान) नहीं करता है, अपितु उनका अनादर करता है, जो ढीठ है, वह पाप श्रमण कहलाता है।

६. सम्मद्दमाणे पाणाणि
बीयाणि हरियाणि य।
असंजए संजयमन्नमाणे
पावसमणे त्ति वुच्चई॥

जो प्राणी (द्वीन्द्रिय आदि जीव), बीज और वनस्पति का संमर्दन करता रहता है, जो असंयत होते हुए भी स्वयं को संयत मानता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

७. संथारं फलगं पीढं
निसेज्जं पायकम्बलं।
अप्पमज्जियमारुहइ
पावसमणे त्ति वुच्चई॥

जो संस्तारक—बिछौना, फलक—पाट, पीठ—आसन, निषद्या—स्वाध्याय-भूमि और पादकम्बल—पादपुंछन का प्रमार्जन किए बिना ही उन पर बैठता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

८. दवदवस्स चरई
पमत्ते य अभिक्खणं।
उल्लंघणे य चण्डे य
पावसमणे त्ति वुच्चई॥

जो जल्दी-जल्दी चलता है, जो पुनः पुनः प्रमादाचरण करता रहता है, जो मर्यादाओं का उल्लंघन करता है, जो क्रोधी, है वह पापश्रमण कहलाता है।

९. पडिलेहेइ पमत्ते
अवउज्झइ पायकम्बलं।
पडिलेहणाअणाउत्ते
पावसमणे त्ति वुच्चई॥

जो प्रमत्त—असावधान होकर प्रतिलेखन करता है, जो पात्र और कम्बल जहाँ-तहाँ रख देता है, जो प्रतिलेखन में अनायुक्त—असावधान रहता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

१०. पडिलेहेइ पमत्ते
से किंचि हु निसामिया।
गुरुं परिभावए निच्चं
पावसमणे त्ति वुच्चई॥

जो इधर-उधर की बातों को सुनता हुआ प्रमत्तभाव से प्रतिलेखन करता है, जो गुरु की अवहेलना करता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

११. बहुमाई पमुहरे
थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी अचियत्ते
पावसमणे त्ति वुच्चई॥

जो बहुत मायावी है, जो वाचाल है, जो स्तब्ध—धीठ है, लोभी है, जो अनिग्रह है—अर्थात् इन्द्रिय एवं मन पर उचित नियन्त्रण नहीं रखता है, जो प्राप्त वस्तुओं का परस्पर संविभाग नहीं करता है, जिसे गुरु के प्रति प्रेम नहीं है, वह पापश्रमण कहलाता है।

१२. विवादं च उदीरेइ
अहम्मे अत्तपन्नहा।
वुग्गहे कलहे रत्ते
पावसमणे त्ति वुच्चई॥

जो शान्त हुए विवाद को पुनः उखाड़ता है, जो अधर्म में अपनी प्रज्ञा का हनन करता है, जो कदाग्रह (विग्रह) तथा कलह मे व्यस्त है, वह पापश्रमण कहलाता है।

१३ अथिरासणे कुक्कुईए
जत्थ तत्थ निसीयई।
आसणम्मि अणाउत्ते
पावसमणे त्ति वुच्चई॥

जो स्थिरता से नहीं बैठता है, जो हाथ-पैर आदि की चंचल एवं विकृत चेष्टाएँ करता है, जो जहाँ-तहाँ बैठ जाता है, जिसे आसन पर बैठने का उचित विवेक नहीं है, वह पापश्रमण कहलाता है।

१४. ससरक्खपाए सुवई
सेज्जं न पडिलेहइ।
संथारए अणाउत्ते।
पावसमणे त्ति वुच्चई॥

जो रज (सचित्त धूल) से लिप्त पैरों से सो जाता है, जो शय्या का प्रमार्जन नहीं करता है, संस्तारक—बिछौने के विषय में असावधान होता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

१५. दुद्ध-दहीविगईओ
आहारेइ अभिक्खणं।
अरए य तवोकम्मे
पावसमणे त्ति वुच्चई॥

जो दूध, दही आदि विकृतियाँ बार-बार खाता है, जो तप-क्रिया में रुचि नहीं रखता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

१६. अत्थन्तम्मि य सूरम्मि
आहारेइ अभिक्खणं।
चोइओ पडिचोएइ
पावसमणे त्ति वुच्चई ॥

जो सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त त बार-बार खाता रहता है, जो समझा पर उलटा पड़ता है—अर्थात् शिक्षक गु को ही उपदेश झाड़ने लगता है, वह पाप श्रमण कहलाता है।

१७. आयरियपरिच्चाई
परपासण्डसेवए।
गाणंगणिए दुब्भूए
पावसमणे त्ति वुच्चई ॥

जो अपने आचार्य का परित्याग क अन्य पाषण्ड—मतपरम्परा को स्वीका करता है, जो गाणंगणिक होता है— अर्थात् छह मास की अल्प अवधि मे ही एक गण से दूसरे गण में संक्रमण करता है, वह दुर्भूत—निन्दित पापश्रमण कहलाता है।

१८. सयं गेहं परिचज्ज
परगेहंसि वावडे।
निमित्तेण य ववहरई
पावसमणे त्ति वुच्चई ॥

जो अपने घर (गृहकार्य) को छोडकर परघर में व्यापृत होता है—दूसरो की घर गृहस्थी के धन्धो मे लग जाता है, जो शुभाशुभ बतलाकर द्रव्यादिक उपार्जन करता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

१९. सन्नाइपिण्डं जेमेइ
नेच्छई सामुदाणियं।
गिहिनिसेज्जं च वाहेइ
पावसमणे त्ति वुच्चई ॥

जो अपने ज्ञातिजनो से—पूर्व परिचित स्वजनो से आहार ग्रहण करता है, सभी घरो से सामुदायिक भिक्षा नही चाहता है, गृहस्थ की शय्या पर बैठता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

२०. एयारिसे पंचकुसीलसंवुडे
रूवंधरे मुणिपवराण हेट्ठिमे।
अयंसि लोए विसमेव गरहिए
न से इहं नेव परत्थ लोए ॥

जो इस प्रकार आचरण करता है, वह पार्श्वस्थादि पाँच कुशील भिक्षुओ के समान असंवृत है, केवल मुनिवेष का ही धारक है, श्रेष्ठ मुनियो मे निकृष्ट है। वह इस लोक में विषकी तरह निन्दनीय होता है, अत: न वह इस लोक का रहता है, न परलोक का।

२१. जे वज्जए एए सया उ दोसे
से सुव्वए होइ मुणीण मज्झे।
अयंसि लोए अमयं व पूइए
आराहए लोगमिणं तहावरं ॥

जो साधु इन दोषों को सदा दूर करता है, वह मुनियों में सुव्रत होता है। वह इस लोक में अमृत की तरह पूजा जाता है। अतः वह इस लोक तथा परलोक दोनों ही लोकों की आराधना करता है।

—त्ति बेमि।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

१८

संजयीय

अगर तुम अभय चाहते हो, तो
दूसरों को भी अभय दो।

कांपिल्य नगर का राजा संजय एक बार शिकार खेलने के लिए जंगल में गया था। साथ में सेना भी थी। सेना ने जंगल के हिरणों को केशर उद्यान की ओर खदेड़ा और राजा ने एक-एक करके त्रस्त हिरणों को बाणों से बींधना शुरू किया। घायल हिरण इधर-उधर दौड़-भाग रहे थे, मर रहे थे, भूमि पर गिर रहे थे और राजा घोड़े पर चढ़ा उनका पीछा कर रहा था। दूर जाकर कुछ मृत हिरणों के पास ही राजा ने, लतामण्डप में, एक मुनि को ध्यान में बैठे हुए देखा। राजा ने सोचा कि हो न हो, ये हिरण मुनि के हैं। मैंने मुनि के हिरण मार डाले हैं, बड़ा अनर्थ हो गया। मुनि क्रुद्ध हो गए तो लाखों-करोड़ों व्यक्तियों को एक क्षण में जला कर भस्म कर देंगे।

राजा इतना भयभीत हुआ कि कुछ पूछो नहीं। वह घोड़े से उतरा, मुनि के पास गया, और अत्यन्त नम्रता के साथ मुनि से अपने अपराध के लिए क्षमा माँगने लगा।

मुनि गर्दभालि ने ध्यान खोलकर राजा से कहा—"राजन् ! मेरी ओर से तुम्हें अभय है। पर, तुम भी तो दूसरों को अभय देने वाले बनो। जिनके लिए तुम यह अनर्थ कर रहो, वे स्वजन एवं परिजन कोई भी तुम्हें बचा नहीं सकेंगे।"

गर्दभालि मुनि के उपदेश से राजा संजय मुनि बन गया और साधना में लग गया।

एक बार एक क्षत्रिय मुनि ने संजय को पूछा—"तुम कौन हो ? तुम्हारे आचार्य कौन हैं ?" मुनि संजय ने अपना संक्षिप्त-सा परिचय दिया। अनन्तर क्षत्रिय मुनि ने संजय मुनि को समझाया कि "एकान्तवाद अहेतुवाद है। वह मोक्ष का मार्ग नहीं है। समझदार एकान्तवाद को नहीं मानते हैं। मैं भगवान् महावीर के प्ररूपित जिन-शासन को श्रेष्ठ समझता हूँ। और इसी प्रकार भरत आदि चक्रवर्तियों ने तथा दशार्णभद्र, नमि, करकण्डु, नग्गति, उद्रायण, काशीराज, विजय, महाबल आदि राजाओं ने जिनशासन की विशेषताओं को देखकर उसे स्वीकार किया और आत्म-कल्याण किया।"

प्रस्तुत अध्ययन में राजर्षि संजय को क्षत्रिय मुनि के द्वारा दिया हुआ उपदेश विस्तार से वर्णित है। जैन इतिहास की पुरातन गाथाओं पर भी व्यापक प्रकाश डाला गया है। गर्द भालि अनगार ने संजय राजा को जो उपदेश दिया है, वह तो आज भी इतना प्रेरक है कि मानव के अन्दर की बन्द आँखें खोल देता है। यह वह शाश्वत सत्य है, जो कभी धूमिल नहीं होता।

अट्ठारसमं अज्झयणं : अठारहवाँ अध्ययन

संजइज्जं : संजयीय

मूल

१. कम्पिल्ले नयरे राया
उदिण्णबल - वाहणे।
नामेणं संजए नाम
मिगव्वं उवणिग्गए ॥

हिन्दी अनुवाद

काम्पिल्य नगर में सेना और वाहन से सुसंपन्न 'संजय' नाम का राजा था। एक दिन वह मृगव्या—अर्थात् मृगया—शिकार के लिए निकला।

२. हयाणीए गयाणीए
रहाणीए तहेव य।
पायत्ताणीए महया
सव्वओ परिवारिए ॥

वह राजा सब ओर से विशाल अश्व-सेना, गजसेना, रथसेना तथा पदाति सेना से परिवृत था।

३. मिए छुभित्ता हयगओ
कम्पिल्लुज्जाणकेसरे।
भीए सन्ते मिए तत्थ
वहेइ रसमुच्छिए ॥

राजा अश्व पर आरूढ़ था। वह रस-मूर्च्छित होकर काम्पिल्य नगर के केशर उद्यान की ओर ढकेले गए भयभीत एवं श्रान्त हिरणों को मार रहा था।

४. अह केसरम्मि उज्जाणे
अणगारे तवोधणे।
सज्झाय-ज्झाणसंजुत्ते
धम्मज्झाणं झियायई ॥

उस केशर उद्यान में एक तपोधन अनगार स्वाध्याय एवं ध्यान में लीन थे, धर्मध्यान की एकाग्रता साध रहे थे।

५. अप्फोवमण्डवम्मि
झायई झवियासवे।
तस्सागए मिए पासं
वहेई से नराहिवे ॥

आश्रव का—कर्मबन्ध के रागादि हेतुओं का क्षय करने वाले अनगार अप्फोवमण्डप—लतामण्डप में ध्यान कर रहे थे। उनके समीप आए हिरणों का राजा ने वध कर दिया।

६. अह आसगओ राया
खिप्पमागम्म सो तहिं।
हए मिए उ पासित्ता
अणगारं तत्थ पासई॥

अश्वारूढ़ राजा शीघ्र वहाँ आया, जहाँ मुनि ध्यानस्थ थे। मृत हिरणों को देखने के बाद उसने वहाँ एक ओर अनगार को भी देखा।

७. अह राया तत्थ संभन्तो
अणगारो मणाऽऽहओ।
मए उ मन्दपुण्णेणं
रसगिद्धेण घन्तुणा॥

राजा मुनि को देखकर सहसा भय-भीत हो गया। उसने सोचा—"मैं कितना मन्दपुण्य—भाग्यहीन, रसासक्त एवं हिंसक वृत्ति का हूँ कि मैंने व्यर्थ ही मुनि को आहत किया है।"

८. आसं विसज्जइत्ताणं
अणगारस्स सो निवो।
विणएण वन्दए पाए
भगवं! एत्थ मे खमे॥

घोड़े को छोड़कर उस राजा ने विनय-पूर्वक अनगार के चरणो को वन्दन किया और कहा कि—"भगवन्! इस अपराध के लिए मुझे क्षमा करें।"

९. अह मोणेण सो भगवं
अणगारे झाणमस्सिए।
रायाणं न पडिमन्तेइ
तओ राया भयद्दुओ॥

वे अनगार भगवान मौनपूर्वक ध्यान मे लीन थे। उन्होने राजा को कुछ भी प्रत्युत्तर नही दिया, अतः राजा और अधिक भयद्रुत— भयाक्रान्त हुआ।

राजा—

१०. संजओ अहमस्सीति
भगवं! वाहराहि मे।
कुद्धे तेएण अणगारे
डहेज्ज नरकोडिओ॥

—"भगवन्! मैं संजय हूँ। आप मुझ से कुछ तो बोलें। मैं जानता हूँ—क्रुद्ध अनगार अपने तेज से करोड़ो मनुष्यो को जला डालते हैं।"

अनगार—

११. अभओ पत्थिवा! तुब्भं
अभयदाया भवाहि य।
अणिच्चे जीवलोगम्मि
किं हिंसाए पसज्जसि?

—"पार्थिव! तुझे अभय है। पर, तू भी अभयदाता बन। इस अनित्य जीव-लोक मे तू क्यों हिंसा में संलग्न है?"

१२. जया सव्वं परिच्चज्ज
गन्तव्वमवसस्स ते ।
अणिच्चे जीवलोगम्मि
किं रज्जम्मि पसज्जसि ?

—"सब कुछ छोड़कर जब तुझे यहाँ से अवश्य लाचार होकर चले जाना है, तो इस अनित्य जीवलोक में तू क्यों राज्य में आसक्त हो रहा है ?"

१३. जीवियं चेव रूवं च
विज्जुसंपाय - चंचलं ।
जत्थ तं मुज्झसी रायं !
पेच्चत्थं नावबुज्झसे ॥

—"राजन् ! तू जिसमें मोहमुग्ध है, वह जीवन और सौन्दर्य बिजली की चमक की तरह चंचल है । तू अपने परलोक के हित को नही समझ रहा है ।"

१४. दाराणि य सुया चेव
मित्ता य तह बन्धवा ।
जीवन्तमणुजीवन्ति
मयं नाणुव्वयन्ति य ॥

"स्त्रियाँ, पुत्र, मित्र तथा बन्धुजन जीवित व्यक्ति के साथ ही जीते हैं । कोई भी मृत व्यक्ति के पीछे नहीं जाता है— अर्थात् मरे के साथ कोई नहीं मरता है ।"

१५ नीहरन्ति मयं पुत्ता
पियरं परमदुक्खिया ।
पियरो वि तहा पुत्ते
बन्धू रायं ! तवं चरे ॥

—"अत्यन्त दुःख के साथ पुत्र अपने मृत पिता को घर से बाहर श्मशान में निकाल देते हैं । उसी प्रकार पुत्र को पिता और बन्धु को अन्य बन्धु भी बाहर निकालते है । अतः राजन् ! तू तप का आचरण कर ।"

१६. तओ तेणज्जिए दव्वे
दारे य परिरक्खिए ।
कीलन्तऽन्ने नरा रायं !
हट्ठ-तुट्ठ-मलंकिया ॥

—"मृत्यु के बाद उस मृत व्यक्ति के द्वारा अर्जित धन का तथा सुरक्षित स्त्रियों का हृष्ट, तुष्ट एवं अलंकृत होकर अन्य लोग उपभोग करते हैं ।"

१७. तेणावि जं कयं कम्मं
सुहं वा जइ वा दुहं ।
कम्मुणा तेण संजुत्तो
गच्छई उ परं भवं ॥

—"जो सुख अथवा दुःख के कर्म जिस व्यक्ति ने किए हैं, वह अपने उन कर्मों के साथ परभव में जाता है ।"

१८. सोऊण तस्स सो धम्मं
अणगारस्स अन्तिए ।
महया संवेगनिव्वेयं
समावन्नो नराहिवो ॥

अनगार के पास से महान् धर्म को सुनकर, राजा मोक्ष का अभिलाषी और संसार से विमुख हो गया ।

१९. संजओ चइउं रज्जं
निक्खन्तो जिणसासणे ।
गद्दभालिस्स भगवओ
अणगारस्स अन्तिए ॥

राज्य को छोड़कर वह संजय राजा भगवान् गर्दभालि अनगार के समीप जिन-शासन में दीक्षित हो गया ।

२०. चिच्चा रट्ठं पव्वइए
खत्तिए परिभासइ ।
जहा ते दीसई रूवं
पसन्नं ते तहा मणो ॥

राष्ट्र को छोड़कर प्रव्रजित हुए क्षत्रिय मुनि ने एक दिन संजय मुनि को कहा—"तुम्हारा यह रूप (बाह्य आकार) जैसे प्रसन्न (निर्विकार) है, लगता है—वैसे ही तुम्हारा अन्तर्मन भी प्रसन्न है ।"

क्षत्रिय मुनि—

२१. किंनामे ? किंगोत्ते ?
कस्सट्ठाए व माहणे ?
कहं पडियरसी बुद्धे ?
कहं विणीए त्ति वुच्चसि ?

"तुम्हारा नाम क्या है ? तुम्हारा गोत्र क्या है ? किस प्रयोजन से तुम महान् मुनि बने हो ? किस प्रकार आचार्यों की सेवा करते हो ? किस प्रकार विनीत कहलाते हो ?

संजय मुनि—

२२. संजओ नाम नामेणं
तहा गोत्तेण गोयमो ।
गद्दभाली ममायरिया
विज्जाचरणपारगा ॥

—"मेरा नाम संजय है । मेरा गोत्र गौतम है । विद्या और चरण के पारगामी 'गर्दभालि' मेरे आचार्य हैं ।"

क्षत्रिय मुनि—

२३. किरियं अकिरियं विणयं
अन्नाणं च महामुणी !
एएहिं चउहिं ठाणेहिं
मेयन्ने किं पभासई ॥

—"हे महामुने ! क्रिया, अक्रिया, विनय और अज्ञान—इन चार स्थानों के द्वारा कुछ एकान्तवादी मेयज्ञ अर्थात् तत्त्व-वेत्ता असत्य तत्त्व की प्ररूपणा करते हैं ।"

२४. इइ पाउकरे बुद्धे
नायए परिनिव्वुडे ।
विज्जा—चरणसंपन्ने
सच्चे सच्चपरक्कमे ॥

—"बुद्ध—तत्त्ववेत्ता, परिनिर्वृत—उपशान्त, विद्या और चरण से संपन्न, सत्यवाक् और सत्यपराक्रमी ज्ञातवंशीय भगवान् महावीर ने ऐसा प्रकट किया है ।"

२५. पडन्ति नरए घोरे
जे नरा पावकारिणो।
दिव्वं च गइं गच्छन्ति
चरित्ता धम्ममारियं॥

—"जो मनुष्य पाप करते हैं, वे घोर नरक में जाते हैं। और जो आर्यधर्म का आचरण करते हैं, वे दिव्य गति को प्राप्त करते हैं।"

२६. मायावुइयमेयं तु
मुसाभासा निरत्थिया
संजममाणो वि अहं
वसामि इरियामि य॥

"—यह क्रियावादी आदि एकान्त-वादियों का सब कथन मायापूर्वक है, अतः मिथ्या वचन है, निरर्थक है। मैं इन माया-पूर्ण वचनो से बचकर रहता हूं, बचकर चलता हूं।"

२७. सव्वे ते विइया मज्झं
मिच्छादिट्ठी अणारिया।
विज्जमाणे परे लोए
सम्मं जाणामि अप्पगं॥

—"वे सब मेरे जाने हुए हैं, जो मिथ्यादृष्टि और अनार्य हैं। मैं परलोक मे रहे हुए अपने को अच्छी तरह से जानता हूं।"

२८. अहमासी महापाणे
जुइमं वरिससओवमे।
जा सा पाली महापाली
दिव्वा वरिससओवमा॥

—"मैं पहले महाप्राण नामक विमान में वर्ष शतोपम आयु वाला द्युति-मान् देव था। जैसे कि यहाँ सौ वर्ष की आयु पूर्ण मानी जाती है, वैसे ही वहाँ पाली—पल्योपम एवं महापाली—सागरो-पम की दिव्य आयु पूर्ण है।"

२९. से चुए बम्भलोगाओ
माणुस्सं भवमागए।
अप्पणो य परेसिं च
आउं जाणे जहा तहा॥

—"ब्रह्मलोक का आयुष्य पूर्ण करके मैं मनुष्य भव में आया हूं। मैं जैसे अपनी आयु को जानता हूं, वैसे ही दूसरों की आयु को भी जानता हूं।"

३०. नाणारुइं च छन्दं च
परिवज्जेज्ज संजए।
अणट्ठा जे य सव्वत्था
इइ विज्जामणुसंचरे॥

—"नाना प्रकार की रुचि और छन्दो का—अर्थात् मन के विकल्पों का, तथा सब प्रकार के अनर्थक व्यापारों का संयतात्मा मुनि को सर्वत्र परित्याग करना चाहिए। इस तत्त्वज्ञानरूप विद्या का लक्ष्य कर संयमपथ पर संचरण करे।"

३१. पडिक्कमामि पसिणाणं
परमन्तेहिं वा पुणो।
अहो उट्ठिए अहोरायं
इइ विज्जा तवं चरे॥

—"मैं शुभाशुभसूचक प्रश्नों से और गृहस्थों की मन्त्रणाओं से दूर रहता हूँ। अहो! मैं दिन-रात धर्माचरण के लिए उद्यत रहता हूँ। यह जानकर तुम भी तप का आचरण करो।"

३२. जं च मे पुच्छसी काले
सम्मं सुद्धेण चेयसा।
ताइं पाउकरे बुद्धे
तं नाणं जिणसासणे॥

—"जो तुम मुझे सम्यक् शुद्ध चित्त से काल के विषय में पूछ रहे हो, उसे बुद्ध—सर्वज्ञ ने प्रकट किया है। अतः वह ज्ञान जिनशासन में विद्यमान है।"

३३. किरियं च रोयए धीरे
अकिरियं परिवज्जए।
दिट्ठीए दिट्ठिसंपन्ने
धम्मं चर सुदुच्चरं॥

—"धीर पुरुष क्रिया में रुचि रखे और अक्रिया का त्याग करे। सम्यक् दृष्टि से दृष्टिसपन्न होकर तुम दुश्चर धर्म का आचरण करो।"

३४. एयं पुण्णपयं सोच्चा
अत्थ — धम्मोवसोहियं।
भरहो वि भारहं वासं
चेच्चा कामाइ पव्वए॥

—"अर्थ और धर्म से उपशोभित इस पुण्यपद (पवित्र उपदेश वचन) को सुनकर भरत चक्रवर्ती भारतवर्ष और कामभोगों का परित्याग कर प्रव्रजित हुए थे।"

३५. सगरो वि सागरन्तं
भरहवासं नराहिवो।
इस्सरियं केवलं हिच्चा
दयाए परिनिव्वुडे॥

—"नराधिप सागर चक्रवर्ती सागर-पर्यन्त भारतवर्ष एवं पूर्ण ऐश्वर्य को छोड कर दया—अर्थात् संयम की साधना से परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।"

३६. चइत्ता भारहं वासं
चक्कवट्टी महिड्ढिओ।
पव्वज्जमब्भुवगओ
मघवं नाम महाजसो॥

—"महान् ऋद्धि-संपन्न, महान् यशस्वी मघवा चक्रवर्ती ने भारतवर्ष को छोडकर प्रव्रज्या स्वीकार की।"

३७. सणंकुमारो मणुस्सिन्दो
चक्कवट्टी महिड्ढिओ।
पुत्तं रज्जे ठवित्ताणं
सो वि राया तवं चरे॥

—"महान् ऋद्धि-संपन्न, मनुष्येन्द्र सनत्कुमार चक्रवर्ती ने पुत्र को राज्य पर स्थापित कर तप का आचरण किया।"

३८. चइत्ता भारहं वासं
चक्कवट्टी महिड्ढिओ ।
सन्ती सन्तिकरे लोए
पत्तो गइमणुत्तरं ॥

—"महान् ऋद्धि-संपन्न और लोक में शान्ति करने वाले शान्तिनाथ चक्रवर्ती ने भारतवर्ष को छोड़कर अनुत्तर गति प्राप्त की ।"

३९. इक्खागरायवसभो
कुन्थू नाम नराहिवो ।
विक्खायकित्ती धिइमं
पत्तो गइमणुत्तरं ॥

—"इक्ष्वाकु कुल के राजाओं में श्रेष्ठ नरेश्वर, विख्यातकीर्ति, धृतिमान् कुन्थुनाथ ने अनुत्तर गति प्राप्त की ।"

४०. सागरन्तं जहित्ताणं
भरहं नरवरीसरो ।
अरो य अरयं पत्तो
पत्तो गइमणुत्तरं ॥

—"सागरपर्यन्त भारतवर्ष को छोड़कर, कर्म-रज को दूर करके नरेश्वरों में श्रेष्ठ 'अर' ने अनुत्तर गति प्राप्त की ।"

४१. चइत्ता भारहं वासं
चक्कवट्टी नराहिओ ।
चइत्ता उत्तमे भोए
महापउमे तवं चरे ॥

—"भारतवर्ष को छोड़कर, उत्तम भोगों को त्यागकर 'महापद्म' चक्रवर्ती ने तप का आचरण किया ।"

४२. एगच्छत्तं पसाहित्ता
महिं माणनिसूरणो ।
हरिसेणो मणुस्सिन्दो
पत्तो गइमणुत्तरं ॥

—"शत्रुओं का मानमर्दन करने वाले हरिषेण चक्रवर्ती ने पृथ्वी पर एकछत्र शासन करके फिर अनुत्तर गति प्राप्त की ।"

४३. अन्निओ रायसहस्सेहिं
सुपरिच्चाई दमं चरे ।
जयनामो जिणक्खायं
पत्तो गइमणुत्तरं ॥

—"हजार राजाओं के साथ श्रेष्ठ त्यागी जय चक्रवर्ती ने राज्य का परित्याग कर जिन-भाषित दम (संयम) का आचरण किया और अनुत्तर गति प्राप्त की ।"

४४. दसण्णरज्जं मुइयं
चइत्ताण मुणी चरे ।
दसण्णभद्दो निक्खन्तो
सक्खं सक्केण चोइओ ॥

—"साक्षात् देवेन्द्र से प्रेरित होकर दशार्ण-भद्र राजा ने अपने सब प्रकार से प्रमुदित दशार्ण राज्य को छोड़कर प्रव्रज्या ली और मुनि-धर्म का आचरण किया ।"

४५. नमी नमेइ अप्पाणं
सक्खं सक्केण चोइओ।
चइऊण गेहं वइदेही
सामण्णे पज्जुवट्ठिओ॥

"—साक्षात् देवेन्द्र से प्रेरित होने पर, भी विदेह के राजा नमि श्रामण्य धर्म में भली-भाँति स्थिर हुए, अपने को अति विनम्र बनाया।"

४६. करकण्डू कलिंगेसु
पंचालेसु य दुम्मुहो।
नमी राया विदेहेसु
गन्धारेसु य नग्गई॥

—"कलिंग में करकण्डु, पांचाल में द्विमुख, विदेह में नमि राजा और गन्धार में नग्गति—

४७. एए नरिन्दवसभा
निक्खन्ता जिणसासणे।
पुत्ते रज्जे ठवित्ताणं
सामण्णे पज्जुवट्ठिया॥

—"राजाओं मे वृषभ के समान महान् थे। इन्होंने अपने-अपने पुत्र को राज्य में स्थापित कर श्रामण्य धर्म स्वीकार किया।"

४८ सोवीररायवसभो
चेच्चा रज्जं मुणी चरे।
उद्दायणो पव्वइओ
पत्तो गइमणुत्तरं॥

—"सौवीर राजाओ में वृषभ के समान महान् उद्रायण राजा ने राज्य को छोड़कर प्रव्रज्या ली, मुनि-धर्म का आचरण किया और अनुत्तर गति प्राप्त की।"

४९. तहेव कासीराया
सेओ-सच्चपरक्कमे।
कामभोगे परिच्चज्ज
पहणे कम्ममहावणं॥

—"इसी प्रकार श्रेय और सत्य में पराक्रमशील काशीराज ने काम-भोगों का परित्याग कर कर्मरूपी महावन का नाश किया।"

५०. तहेव विजओ राया
अणट्ठाकित्ति पव्वए।
रज्जं तु गुणसमिद्धं
पयहित्तु महाजसो॥

—"इसी प्रकार अमरकीर्त्ति, महान् यशस्वी विजय राजा ने गुण-समृद्ध राज्य को छोड़कर प्रव्रज्या ली।"

५१. तहेवुग्गं तवं किच्चा
अव्वक्खित्तेण चेयसा।
महाबलो रायरिसी
अद्दाय सिरसा सिरं॥

—"इसी प्रकार अनाकुल चित्त से उग्र तपश्चर्या करके राजर्षि महाबल ने शिर देकर शिर प्राप्त किया—अर्थात् अहंकार का विसर्जन कर सिद्धिरूप उच्च पद प्राप्त किया। अथवा सिद्धिरूप श्री प्राप्त की।"

५२. कहं धीरो अहेऊहिं
उम्मत्तो व्व महिं चरे ?
एए विसेसमादाय
सूरा दढपरक्कमा ॥

—"इन भरत आदि शूर और दृढ पराक्रमी राजाओं ने जिनशासन में विशेषता देखकर ही उसे स्वीकार किया था। अतः अहेतुवादों से प्रेरित होकर अब कोई कैसे उन्मत्त की तरह पृथ्वी पर विचरण करे ?"

५३. अच्चन्तनियाणखमा
सच्चा मे भासिया वई।
अतरिंसु तरन्तेगे
तरिस्सन्ति अणागया ॥

—"मैंने यह अत्यन्त निदानक्षम—युक्तिसंगत सत्य-वाणी कही है। इसे स्वीकार कर अनेक जीव अतीत में संसार-समुद्र से पार हुए हैं, वर्तमान में पार हो रहे हैं और भविष्य में पार होंगे।"

५४. कहं धीरे अहेऊहिं
अत्ताणं परियावसे ?
सव्वसंगविनिम्मुक्के
सिद्धे हवइ नीरए ॥

—"धीर साधक एकान्तवादी अहेतुवादों में अपने-आप को कैसे लगाए ? जो सभी संगों से मुक्त है, वही नीरज अर्थात् कर्मरज से रहित होकर सिद्ध होता है।"

—त्ति बेमि।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

१९

मृगापुत्रीय

अधिक सुख-सुविधा और सुरक्षा भी एक परतंत्रता है।
पशु की अपेक्षा मनुष्य इन परतंत्रताओं में अधिक आबद्ध है।

राजकुमार 'बलश्री' सुग्रीव नगर में रहता था। उसके पिता का नाम बलभद्र था और माता का नाम मृगावती। बलश्री को माता के नाम पर लोग 'मृगापुत्र' नाम से भी पुकारते थे।

एक बार 'मृगापुत्र' महल में अपनी रानियों के साथ शहर का सौन्दर्य देख रहे थे। राजमार्गों पर अच्छी खासी भीड़ थी। स्थान-स्थान पर नृत्य हो रहे थे। लोग आ-जा रहे थे। इसी बीच राजमार्ग से जाते हुए एक प्रशान्त और तेजस्वी साधु पर मृगापुत्र की दृष्टि पड़ी। मृगापुत्र मन्त्रमुग्ध-सा देखता रह गया। मृगापुत्र के अन्तर में प्रश्न उभरने लगे—"ऐसा साधु मैं पहली बार ही नहीं देख रहा हूँ। याद आता है, इसके पहले भी मैं देख चुका हूँ। कहाँ देखा है? कब देखा है? पर देखा जरूर है। इस जन्म में ऐसी कोई घटना याद नहीं आ रही है, फिर भी इन्हें देखने का स्मरण कैसे हो रहा है?" प्रश्नों ने सुप्त स्मृति को झकझोर कर जगा दिया। बस, अब क्या था, पूर्व-जन्म की स्मृति हो आई—"मैं स्वयं भी तो ऐसा ही साधु था।" पूर्व-जन्म की स्मृति के साथ साधुता का भी स्मरण हो गया। मृगापुत्र को सांसारिक भोग एवं परिजन सब कोई बन्धन दिखने लगे। संसार में रहना, उसके लिए असह्य हो गया। वह अपने माता-पिता के पास गया और बोला—"मैं साधु बनना चाहता हूँ, मुझे आप आज्ञा दें।"

माता-पिता ने मृगापुत्र को समझाने का प्रयत्न किया कि—"साधु-जीवन बहुत दुष्कर और कठोर होता है। लोहे के जौ चबाने के समान है। तुम साधु-जीवन की कठोर चर्या सहन नहीं कर सकोगे। तुम सुकुमार हो।"

मृगापुत्र उत्तर में—"पूर्व जन्म में नरक की भयंकर वेदनाएं परतन्त्र और असहाय स्थिति में कितनी सहन की हैं"—इसका उल्लेख करता है।

माता पिता और पुत्र का संवाद काफी सुन्दर एवं रसप्रद है। माता पिता पुत्र को संयम से विरक्त करना चाहते हैं; जबकि पुत्र संसार से विरक्ति का समर्थन करता है। अन्त में नरक की वेदनाओं को सुनकर माता-पिता स्वीकृति के लिए कुछ-कुछ तैयार होते हैं। फिर भी पुत्र के प्रति ममत्त्व के कारण वे कहते हैं—"पुत्र! साधु जीवन असंग जीवन है। वहाँ कौन तुम्हारा ध्यान रखेगा? बीमार होने पर कौन तुम्हारी चिकित्सा करेगा?"

मृगापुत्र कहता है—"जंगल में मृग रहते हैं। जब वे बीमार हो जाते हैं, तो उनकी देखभाल कौन करता है? जिस प्रकार वन के मृग किसी भी प्रकार की व्यवस्था के बिना स्वतन्त्र जीवन यापन करते हैं, उसी प्रकार मैं भी रहूँगा। मेरी जीवन यात्रा मृगचर्यारूप रहेगी।"

मृगापुत्र के दृढ़ संकल्प को माता-पिता तोड़ नहीं सके। अन्त में उन्होंने दीक्षा की अनुमति दे दी।

मृगापुत्र मुनि बने और परम साधना के पश्चात् अन्त में उन्होंने सिद्धि प्राप्त की।

एगूणविसइमं अज्झयणं : एकोनविंश अध्ययन

मियापुत्तिज्जं : मृगापुत्रीय

१. सुग्गीवे नयरे रम्मे
काणणुज्जाणसोहिए ।
राया बलभद्दे त्ति
मिया तस्सऽग्गमाहिसी ॥

कानन और उद्यानों से सुशोभित 'सुग्रीव' नामक सुरम्य नगर में बलभद्र राजा था। मृगा, उसकी अग्रमहिषी—पटरानी थी।

२. तेसिं पुत्ते बलसिरी
मियापुत्ते त्ति विस्सुए ।
अम्मापिऊण दइए
जुवराया दमीसरे ॥

उनके 'बलश्री' नाम का पुत्र था, जो कि 'मृगापुत्र' के नाम से प्रसिद्ध था। वह माता-पिता को प्रिय था। युवराज था और दमीश्वर था अर्थात् शत्रुओं को दमन करने वालों में प्रमुख था।

३. नन्दणे सो उ पासाए
कीलए सह इत्थिहिं ।
देवो दोगुन्दगो चेव
निच्चं मुइयमाणसो ॥

वह प्रसन्न-चित्त से सदा नन्दन प्रासाद में—आनन्दप्रद राजमहल में दोगुन्दग देवों की तरह स्त्रियों के साथ क्रीडा करता था।

४. मणिरयणकुट्टिमतले
पासायालोयणट्ठिओ ।
आलोएइ नगरस्स
चउक्क—तिय—चच्चरे ॥

एक दिन मृगापुत्र मणि और रत्नों से जडित कुट्टिमतल (फर्श) वाले प्रासाद के गवाक्ष में खड़ा था। नगर के चौराहों, तिराहों और चौहट्टों को देख रहा था।

५. अह तत्थ अइच्छन्तं
पासई समणसंजयं ।
तव—नियम—संजमधरं
सीलड्ढं गुणआगरं ॥

मृगापुत्र ने वहाँ राजपथ पर जाते हुए तप, नियम एवं संयम के धारक, शील से समृद्ध, तथा गुणों के आकर (खान) एक संयत श्रमण को देखा।

६. तं देहई मियापुत्ते
दिट्ठीए अणिमिसाए उ।
कहिं मन्नेरिसं रूवं
दिट्ठपुव्वं मए पुरा॥

मृगापुत्र उस मुनि को अनिमेष—अपलक दृष्टि से देखता है और सोचता है—"मैं मानता हूँ कि ऐसा रूप मैंने इसके पूर्व भी कहीं देखा है।"

७. साहुस्स दरिसणे तस्स
अज्झवसाणम्मि सोहणे।
मोहं गयस्स सन्तस्स
जाईसरणं समुप्पन्नं॥

साधु के दर्शन तथा तदनन्तर पवित्र अध्यवसाय के होने पर, 'मैंने ऐसा कहीं देखा है'—इस प्रकार ऊहापोह रूप मोह को प्राप्त मृगापुत्र को जाति-स्मरण उत्पन्न हुआ।

८. देवलोग-चुओ संतो
माणुसं भवमागओ।
सन्निनाणे समुप्पण्णे
जाइं सरइ पुराणयं॥

संज्ञिज्ञान अर्थात् समनस्क ज्ञान होने पर वह पूर्व-जाति को स्मरण करता है—"देवलोक से च्युत होकर मैं मनुष्य-भव में आया हूँ।"

९. जाइसरणे समुप्पन्ने
मियापुत्ते महिड्ढिए।
सरई पोराणियं जाइं
सामण्णं च पुराकयं॥

जाति-स्मरण उत्पन्न होने पर महर्द्धिक मृगापुत्र अपनी पूर्व-जाति और पूर्वाचरित श्रामण्य को स्मरण करता है।

१०. विसएहि अरज्जन्तो
रज्जन्तो संजमम्मि य।
अम्मापियरं उवागम्म
इमं वयणमब्बवी॥

विषयों से विरक्त और संयम में अनुरक्त मृगापुत्र ने माता-पिता के समीप आकर इस प्रकार कहा—

मृगापुत्र—

११. सुयाणि मे पंच महव्वयाणि
नरएसु दुक्खं च तिरिक्खजोणिसु।
निव्विण्णकामो मि महण्णवाओ
अणुजाणह पव्वइस्सामि अम्मो!॥

—"मैंने पंच महाव्रतों को सुना है। सुना है नरक और तिर्यंच योनि में दुःख है। मैं संसाररूप महासागर से निर्विण्ण—काम-विरक्त हो गया हूँ। मैं प्रव्रज्या ग्रहण करूँगा। माता! मुझे अनुमति दीजिए।"

१२. अम्मताय! मए भोगा
भुत्ता विसफलोवमा।
पच्छा कडुयविवागा
अणुबन्ध—दुहावहा॥

—"माता-पिता! मैं भोगों को भोग चुका हूँ, वे विषफल के समान अन्त में कटु विपाक वाले और निरन्तर दुःख देने वाले हैं।"

१३. इमं सरीरं अणिच्चं
असुइं असुइसंभवं ।
असासयावासमिणं
दुक्ख-केसाण भायणं ॥

—"यह शरीर अनित्य है, अपवित्र है, अशुचि से पैदा हुआ है, यहाँ का आवास अशाश्वत है तथा दुःख और क्लेश का स्थान है ।"

१४. असासए सरीरम्मि
रइं नोवलभामहं ।
पच्छा पुरा व चइयव्वे
फेणबुब्बुय — सन्निभे ॥

"—इसे पहले या बाद में, कभी छोड़ना ही है । यह पानी के बुलबुले के समान अनित्य है । अतः इस शरीर में मुझे आनन्द नहीं मिल पा रहा है ।"

१५. माणुसत्ते असारम्मि
वाही—रोगाण आलए ।
जरा—मरणघत्थम्मि
खणं पि न रमामऽहं ॥

—"व्याधि और रोगों के घर तथा जरा और मरण से ग्रस्त इस असार मनुष्य-शरीर में एक क्षण भी मुझे सुख नहीं मिल रहा है ।"

१६. जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं
रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो
जत्थ कीसन्ति जन्तवो ॥

—"जन्म दुःख है । जरा दुःख है । रोग दुःख है । मरण दुःख है । अहो ! यह समग्र संसार ही दुःखरूप है, जहाँ जीव क्लेश पाते हैं ।"

१७. खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च
पुत्त—दारं च बन्धवा ।
चइत्ताणं इमं देहं
गन्तव्वमवसस्स मे ॥

—"क्षेत्र—जंगल की भूमि, वास्तु—घर, हिरण्य—सोना, पुत्र, स्त्री, बन्धु-जन और इस शरीर को छोड़कर एक दिन विवश होकर मुझे चले जाना है ।"

१८. जहा किम्पागफलाणं
परिणामो न सुन्दरो ।
एवं भुत्ताण भोगाणं
परिणामो न सुन्दरो ॥

—"जिस प्रकार विष-रूप किम्पाक फलों का अन्तिम परिणाम सुन्दर नहीं होता है, उसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम भी सुन्दर नहीं होता ।"

१९. अद्धाणं जो महन्तं तु
अपाहेओ पवज्जई ।
गच्छन्तो सो दुही होई
छुहा-तण्हाए पीडिओ ॥

—"जो व्यक्ति पाथेय (पथ का संबल) लिए बिना लम्बे मार्ग पर चल देता है, वह चलते हुए भूख और प्यास से पीड़ित होता है ।"

२०. एवं धम्मं अकाऊणं
जो गच्छइ परं भवं।
गच्छन्तो सो दुही होइ
वाहीरोगेहिं पीडिओ॥

—"इसी प्रकार जो व्यक्ति धर्म किए बिना परभव में जाता है, वह जाते हुए व्याधि और रोगों से पीड़ित होता है, दुःखी होता है।"

२१. अद्धाणं जो महन्तं तु
सपाहेओ पवज्जई।
गच्छन्तो सो सुही होइ
छुहा—तण्हाविवज्जिओ॥

—"जो व्यक्ति पाथेय साथ में लेकर लम्बे मार्ग पर चलता है, वह चलते हुए भूख और प्यास के दुःख से रहित सुखी होता है।"

२२. एवं धम्मं पि काऊणं
जो गच्छइ परं भवं।
गच्छन्तो सो सुही होइ
अप्पकम्मे अवेयणे॥

"—इसी प्रकार जो व्यक्ति धर्म करके परभव में जाता है, वह अल्पकर्मा जाते हुए वेदना से रहित सुखी होता है।"

२३. जहा गेहे पलित्तम्मि
तस्स गेहस्स जो पहू।
सारभण्डाणि नीणेइ
असारं अवउज्झइ॥

—"जिस प्रकार घर को आग लगने पर गृहस्वामी मूल्यवान् सार वस्तुओं को निकालता है और मूल्यहीन असार वस्तुओं को छोड़ देता है"—

२४. एवं लोए पलित्तम्मि
जराए मरणेण य।
अप्पाणं तारइस्सामि
तुब्भेहिं अणुमन्निओ॥

—"उसी प्रकार आपकी अनुमति पाकर जरा और मरण से जलते हुए इस लोक में से सारभूत अपनी आत्मा को बाहर निकालूँगा।"

माता-पिता—

२५. तं बिंत ऽम्मापियरो
सामण्णं पुत्त! दुच्चरं।
गुणाणं तु सहस्साइं
धारेयव्वाइं भिक्खुणो॥

—माता-पिता ने उसे कहा—"पुत्र! श्रामण्य—मुनिचर्या अत्यन्त दुष्कर है। भिक्षु को हजारों गुण अर्थात् नियमोप-नियम धारण करने होते हैं।"

२६. समया सव्वभूएसु
सत्तुमित्तेसु वा जगे।
पाणाइवायविरई
जावज्जीवाए दुक्करं॥

—"भिक्षु को जगत् में शत्रु और मित्र के प्रति, यहाँ तक कि सभी जीवों के प्रति समभाव रखना होता है। जीवन-पर्यन्त प्राणातिपात से निवृत्त होना भी बहुत दुष्कर है।"

२७. निच्चकालऽप्पमत्तेणं
मुसावायविवज्जणं ।
भासियव्वं हियं सच्चं
निच्चाउत्तेण दुक्करं ॥

—"सदा अप्रमत्त भाव से मृषावाद का त्याग करना, हर क्षण सावधान रहते हुए हितकारी सत्य बोलना—बहुत कठिन होता है।"

२८. दन्त - सोहणमाइस्स
अदत्तस्स विवज्जणं ।
अणवज्जेसणिज्जस्स
गेण्हणा अवि दुक्करं ॥

—"दन्तशोधन—दतौन आदि भी बिना दिए न लेना और प्रदत्त वस्तु भी अनवद्य (निर्दोष) और एषणीय ही लेना अत्यन्त दुष्कर है।"

२९. विरई अबम्भचेरस्स
कामभोगरसन्नुणा ।
उग्गं महव्वयं बम्भं
धारेयव्वं सुदुक्करं ॥

—"काम-भोगों के रस से परिचित व्यक्ति के लिए अब्रह्मचर्य से विरक्ति और उग्र महाव्रत ब्रह्मचर्य का धारण करना बहुत दुष्कर है।"

३०. धण-धन्न-पेसवग्गेसु
परिग्गहविवज्जणं ।
सव्वारम्भपरिच्चाओ
निम्ममत्तं सुदुक्करं ॥

—"धन-धान्य, प्रेष्यवर्ग—दास-दासी आदि परिग्रह का त्याग तथा सब प्रकार के आरम्भ और ममत्व का त्याग करना बहुत दुष्कर होता है।"

३१. चउव्विहे वि आहारे
राईभोयणवज्जणा ।
सन्निहीसंचओ चेव
वज्जेयव्वो सुदुक्करो ॥

"—अशन-पानादि चतुर्विध आहार का रात्रि में त्याग करना और काल-मर्यादा से बाहर घृतादि संनिधि का संचय न करना अत्यन्त दुष्कर है।"

३२. छुहा तण्हा य सीउण्हं
दंसमसगवेयणा ।
अक्कोसा दुक्खसेज्जा य
तणफासा जल्लमेव य ॥

—"भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, डांस और मच्छरों का कष्ट, आक्रोश वचन, दुःख-शय्या—कष्टप्रद स्थान, तृणस्पर्श तथा मैल—"

३३. तालणा तज्जणा चेव
वह-बन्धपरीसहा ।
दुक्खं भिक्खायरिया
जायणा य अलाभया ॥

—"ताड़ना, तर्जना, वध और बन्धन, भिक्षा-चर्या, याचना और अलाभ—इन परीषहों को सहन करना दुष्कर है।"

३४. कावोया जा इमा वित्ती
केसलोओ य दारुणो।
दुक्खं बम्भवयं घोरं
धारेउं य महप्पणो॥

—"यह कापोतीवृत्ति अर्थात् कबूतर के समान दोषो से सशंक एवं सतर्क रहने की वृत्ति, दारुण केश-लोच और यह घोर ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना महान् आत्माओं के लिए भी दुष्कर है।"

३५. सुहोइओ तुमं पुत्ता!
सुकुमालो सुमज्जिओ।
न हु सी पभू तुमं पुत्ता!
सामण्णमणुपालिउं॥

—"पुत्र! तू सुख भोगने के योग्य है, सुकुमार है, सुमज्जित है—साफ-सुथरा रहता है, अत: श्रामण्य का पालन करने के लिए तू समर्थ नही है।"

३६. जावज्जीवमविस्सामो
गुणाणं तु महाभरो।
गुरुओ लोहभारो व्व
जो पुत्ता! होई दुव्वहो॥

—"पुत्र! साधुचर्या मे जीवन-पर्यन्त कही विश्राम नही है। लोहे के भार की तरह साधु के गुणो का वह महान् गुरुतर भार है, जिसे जीवन-पर्यन्त वहन करना अत्यन्त कठिन है।"

३७. आगासे गंग सोउ व्व
पडिसोओ व्व दुत्तरो।
बाहाहिं सागरो चेव
तरियव्वो गुणोयही॥

—"जैसे आकाश-गंगा का स्रोत एवं प्रतिस्रोत (जल धारा का प्रतिकूल प्रवाह) दुस्तर है। जिस प्रकार सागर को भुजाओ से तैरना दुष्कर है, वैसे ही गुणोदधि—संयम के सागर को तैरना दुष्कर है।"

३८. वालुयाकवले चेव
निरस्साए उ संजमे।
असिधारागमणं चेव
दुक्करं चरिउं तवो॥

—"सयम बालू-रेत के कवल-'ग्रास' की तरह स्वाद से रहित है। तप का आचरण तलवार की धार पर चलने-जैसा दुष्कर है।"

३९. अहीवेगन्तदिट्ठीए
चरित्ते पुत्त! दुच्चरे।
जवा लोहमया चेव
चावेयव्वा सुदुक्करं॥

—"सांप की तरह एकाग्र दृष्टि से चारित्र धर्म मे चलना कठिन है। लोहे के यव—जौ चबाना जैसे दुष्कर है, वैसे ही चारित्र का पालन दुष्कर है।"

४०. जहा अग्गिसिहा दित्ता
पाउं होइ सुदुक्करं।
तह दुक्करं करेउं जे
तारुण्णे समणत्तणं॥

—"जैसे प्रज्वलित अग्निशिखा—ज्वाला को पीना दुष्कर है, वैसे ही युवावस्था में श्रमणधर्म का पालन करना दुष्कर है।"

४१. जहा दुक्खं भरेउं जे
होई वायस्स कोत्थलो।
तहा दुक्खं करेउं जे
कीवेणं समणत्तणं॥

—"जैसे वस्त्र के कोत्थल को—थैले को हवा से भरना कठिन है, वैसे ही कायरों के द्वारा श्रमणधर्म का पालन करना भी कठिन होता है।"

४२. जहा तुलाए तोलेउं
दुक्करं मन्दरो गिरी।
तहा निहुयं नीसंकं
दुक्करं समणत्तणं॥

जैसे मेरुपर्वत को तराजू से तोलना दुष्कर है, वैसे ही निश्चल और निःशंक भाव से श्रमण धर्म का पालन करना भी दुष्कर है।"

४३. जहा भुयाहिं तरिउं
दुक्करं रयणागरो।
तहा अणुवसन्तेणं
दुक्करं दमसागरो॥

—"जैसे भुजाओं से समुद्र को तैरना कठिन है, वैसे ही अनुपशान्त व्यक्ति के द्वारा संयम के सागर को पार करना दुष्कर है।"

४४. भुंज माणुस्सए भोगे
पंचलक्खणए तुमं।
भुत्तभोगी तओ जाया!
पच्छा धम्मं चरिस्ससि॥

—"पुत्र! पहले तू मनुष्य-सम्बन्धी शब्द, रूप आदि पाँच प्रकार के भोगों का भोग कर। पश्चात् भुक्तभोगी होकर धर्म का आचरण करना।"

मृगा पुत्र—

४५. तं बिंत ऽम्मापियरो
एवमेयं जहा फुडं।
इह लोए निप्पिवासस्स
नत्थि किंचि वि दुक्करं॥

—मृगापुत्र ने माता-पिता को कहा—"आपने जो कहा है, वह ठीक है। किन्तु इस संसार में जिसकी प्यास बुझ चुकी है, उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है।"

४६. सारीर-माणसा चेव
वेयणाओ अणन्तसो।
मए सोढाओ भीमाओ
असइं दुक्खभयाणि य॥

—"मैंने शारीरिक और मानसिक भयंकर वेदनाओं को अनन्त बार सहन किया है। और अनेक बार भयंकर दुःख और भय भी अनुभव किए हैं।"

४७. जरा—मरणकन्तारे
चाउरन्ते भयागरे।
मए सोढाणि भीमाणि
जम्माणि मरणाणि य॥

—"मैंने नरक आदि चार गतिरूप अन्त वाले जरा-मरण रूपी भय के आकर कान्तार (संसार वन) में भयंकर जन्म-मरणों को सहा है।"

४८. जहा इहं अगणी उण्हो
एत्तोऽणन्तगुणे तहिं।
नरएसु वेयणा उण्हा
अस्साया वेइया मए॥

—"जैसे यहाँ अग्नि उष्ण है, उससे अनन्तगुण अधिक दुःखरूप उष्ण वेदना मैंने नरक में अनुभव की है।"

४९. जहा इमं इहं सीयं
एत्तोऽणंतगुणं तहिं।
नरएसु वेयणा सीया
अस्साया वेइया मए॥

—"जैसे यहाँ शीत है, उससे अनन्त-गुण अधिक दुःखरूप शीतवेदना मैंने नरक में अनुभव की है।"

५०. कन्दन्तो कंदुकुम्भीसु
उड्ढपाओ अहोसिरो।
हुयासणे जलन्तम्मि
पक्कपुव्वो अणन्तसो॥

—"मैं नरक की कंदु कुम्भियो मे—पकाने के लोहपात्रो मे ऊपर पैर और नीचा सिर करके प्रज्वलित अग्नि में आक्रन्द करता हुआ अनन्त बार पकाया गया हूँ।"

५१. महादवग्गिसंकासे
मरुम्मि वइरवालुए।
कलम्बवालुयाए य
दड्ढपुव्वो अणन्तसो॥

—"महाभयंकर दावाग्नि के तुल्य मरु प्रदेश में, तथा वज्रवालुका (वज्र के समान कर्कश कंकरीली रेत) मे और कदम्ब वालुका (नदी के पुलिन की तप्त बालू रेत) में मैं अनन्त बार जलाया गया हूँ।"

५२. रसन्तो कंदुकुम्भीसु
उड्ढं बद्धो अबन्धवो।
करवत्त-करकयाईहिं
छिन्नपुव्वो अणन्तसो॥

—"बन्धु-बान्धवों से रहित असहाय रोता हुआ मैं कन्दुकुम्भी में ऊँचा बाँधा गया तथा करपत्र—करवत और क्रकच—आरा आदि शस्त्रों से अनन्त बार छेदा गया हूँ।"

५२. अइतिक्खकंटगाइण्णे
तुंगे सिम्बलिपायवे ।
खेवियं पासबद्धेणं
कड्ढोकड्ढाहिं दुक्करं ॥

—"अत्यन्त तीखे काँटों से व्याप्त ऊँचे शाल्मलि वृक्ष पर पाश से बाँधकर, इधर-उधर खींचकर मुझे असह्य कष्ट दिया गया ।"

५३. महाजन्तेसु उच्छू वा
आरसन्तो सुभेरवं ।
पीलिओ मि सकम्मेहिं
पावकम्मो अणन्तसो ॥

—"अति भयानक आक्रन्दन करता हुआ, मैं पापकर्मा अपने कर्मों के कारण, गन्ने की तरह बड़े-बड़े यन्त्रों में अनन्त बार पीला गया हूँ ।"

५४. कूवन्तो कोलसुणएहिं
सामेहिं सबलेहि य ।
पाडिओ फालिओ छिन्नो
विप्फुरन्तो अणेगसो ॥

—"मैं इधर-उधर भागता और आक्रन्दन करता हुआ, काले तथा चितकबरे सूअर और कुत्तों से अनेक बार गिराया गया, फाड़ा गया और छेदा गया ।"

५५. असीहि अयसिवण्णाहिं
भल्लीहिं पट्टिसेहि य ।
छिन्नो भिन्नो विभिन्नो य
ओइण्णो पावकम्मुणा ॥

—"पाप कर्मों के कारण मैं नरक में जन्म लेकर अलसी के फूलों के समान नीले रंग की तलवारों से, भालों से और लोह के दण्डों से छेदा गया, भेदा गया, और खण्ड-खण्ड कर दिया गया ।"

५६. अवसो लोहरहे जुत्तो
जलन्ते समिलाजुए ।
चोइओ तोत्तजुत्तेहिं
रोज्झो वा जह पाडिओ ॥

—"समिला (जुए के छेदों में लगाने की कील) से युक्त जूएवाले जलते लोह के रथ में पराधीन मैं जोता गया हूँ, चाबुक और रस्सी से हाँका गया हूँ तथा रोझ की भाँति पीट कर भूमि पर गिराया गया हूँ ।"

५७. हुयासणे जलन्तम्मि
चियासु महिसो विव ।
दड्ढो पक्को य अवसो
पावकम्मेहि पाविओ ॥

—"पापकर्मों से घिरा हुआ पराधीन मैं अग्नि की चिताओं में भैंसे की भाँति जलाया और पकाया गया हूँ ।"

५८. बला संडासतुण्डेहिं
लोहतुण्डेहि पक्खिहिं ।
विलुत्तो विलवन्तोऽहं
ढंक-गिद्धेहिऽणन्तसो ॥

—"लोहे के समान कठोर संडासी-जैसी चोंच वाले ढंक और गीध पक्षियों द्वारा, मैं रोता-बिलखता हठात् अनन्त बार नोचा गया हूँ ।"

५९. तण्हाकिलन्तो धावन्तो
पत्तो वेयरणिं नदिं।
जलं पाहिं ति चिन्तन्तो
खुरधाराहिं विवाइओ॥

—"प्यास से व्याकुल होकर, दौड़ता हुआ मैं वैतरणी नदी पर पहुँचा। 'जल पीऊँगा'—यह सोच ही रहा था कि छुरे की धार जैसी तीक्ष्ण जलधारा से मैं चीरा गया।"

६०. उण्हाभितत्तो संपत्तो
असिपत्तं महावणं।
असिपत्तेहिं पडन्तेहिं
छिन्नपुव्वो अणेगसो॥

—"गर्मी से संतप्त होकर मैं छाया के लिए असि-पत्र महावन में गया। किन्तु वहाँ ऊपर से गिरते हुए असि-पत्रों से—तलवार के समान तीक्ष्ण पत्तो से अनेक बार छेदा गया।"

६१. मुग्गरेहिं मुसंढीहिं
सूलेहिं मुसलेहि य।
गयासं भग्गगत्तेहिं
पत्तं दुक्खं अणन्तसो॥

—"सब ओर से निराश हुए मेरे शरीर को मुद्गरो, मुसुण्डियो, शूलो और मुसलों से चूर-चूर किया गया। इस प्रकार मैंने अनन्त बार दुःख पाया है।"

६२. खुरेहिं तिक्खधारेहिं
छुरियाहिं कप्पणीहि य।
कप्पिओ फालिओ छिन्नो
उक्कत्तो य अणेगसो॥

—"तेज धार वाले छुरो से, छुरियों से तथा कैंचियों से मैं अनेक बार काटा गया हूँ, टुकड़े-टुकड़े किया गया हूँ, छेदा गया हूँ तथा मेरी चमड़ी उतारी गई है।"

६३. पासेहिं कूडजालेहिं
मिओ वा अवसो अहं।
वाहिओ बद्धरुद्धो अ
बहुसो चेव विवाइओ॥

—"पाशों और कूट जालो से विवश बने मृग की भाँति मैं भी अनेक बार छल-पूर्वक पकड़ा गया हूँ, बाँधा गया हूँ, रोका गया हूँ और विनष्ट किया गया हूँ।"

६४. गलेहिं मगरजालेहिं
मच्छो वा अवसो अहं।
उल्लिओ फालिओ गहिओ
मारिओ य अणन्तसो॥

—"गलो से—मछली को फँसाने के काँटों से तथा मगरों को पकड़ने के जालो से मत्स्य की तरह विवश मैं अनन्त बार खींचा गया, फाड़ा गया, पकड़ा गया, और मारा गया।"

६५. वीदंसएहिं जालेहिं
लेप्पाहिं सउणो विव।
गहिओ लग्गो बद्धो य
मारिओ य अणन्तसो॥

—"बाज पक्षियों, जालों तथा वज्रलेपों के द्वारा पक्षी की भाँति मैं अनन्त बार पकड़ा गया, चिपकाया गया, बाँधा गया और मारा गया।"

६६. कुहाड — फरसुमाईहिं
वड्ढईहिं दुमो विव ।
कुट्टिओ फालिओ छिन्नो
तच्छिओ य अणन्तसो ॥

—"बढ़ई के द्वारा वृक्ष की तरह कुल्हाड़ी और फरसा आदि से मैं अनन्त बार कूटा गया हूँ, फाड़ा गया हूँ, छेदा गया हूँ, और छीला गया हूँ।"

६७. चवेडमुट्ठिमाईहिं
कुमारेहिं अयं पिव ।
ताडिओ कुट्टिओ भिन्नो
चुण्णिओ य अणन्तसो ॥

—"लुहारों के द्वारा लोहे की भांति मैं परमाधर्मी असुर कुमारों के द्वारा चपत और मुक्का आदि से अनन्त बार पीटा गया, कूटा गया, खण्ड-खण्ड किया गया, और चूर्ण बना दिया गया।"

६८. तत्ताइं तम्बलोहाइं
तउयाइं सीसयाणि य ।
पाइओ कलकलन्ताइं
आरसन्तो सुभेरवं ॥

—"भयंकर आक्रन्द करते हुए भी मुझे कलकलाता गर्म ताँबा, लोहा, राँगा और सीसा पिलाया गया।"

६९. तुहं पियाइं मंसाइं
खण्डाइं सोल्लगाणि य ।
खाविओ मि समंसाइं
अग्गिवण्णाइं णेगसो ॥

—"तुझे टुकड़े-टुकड़े किया हुआ और शूल में पिरो कर पकाया गया मांस प्रिय था—यह याद दिलाकर मुझे मेरे ही शरीर का मांस काटकर और उसे अग्नि—जैसा लाल तपा कर अनेक बार खिलाया गया।"

७०. तुहं पिया सुरा सीहू
मेरओ य महूणि य ।
पाइओ मि जलन्तीओ
वसाओ रुहिराणि य ॥

—"तुझे सुरा, सीधु, मैरेय और मधु, आदि मदिराएँ प्रिय थीं—यह याद दिलाकर मुझे जलती हुई चर्बी और खून पिलाया गया।"

७१. निच्चं भीएण तत्थेण
दुहिएण वहिएण य ।
परमा दुहसंबद्धा
वेयणा वेइया मए ॥

—"मैंने (पूर्व जन्मों में इस प्रकार) नित्य ही भयभीत, संत्रस्त, दुःखित और व्यथित रहते हुए अत्यन्त दुःखपूर्ण वेदना का अनुभव किया।"

७२. तिव्व-चण्ड-प्पगाढाओ
घोराओ अइदुस्सहा ।
महब्भयाओ भीमाओ
नरएसु वेइया मए ॥

—"तीव्र, प्रचण्ड, प्रगाढ़, घोर, अत्यन्त दुःसह, महाभयंकर और भीष्म वेदनाओं का मैंने नरक में अनुभव किया है।"

७३. जारिसा माणुसे लोए
ताया ! दीसन्ति वेयणा।
एत्तो अणन्तगुणिया
नरएसु दुक्खवेयणा॥

—"हे पिता ! मनुष्य-लोक में जैसी वेदनाएँ देखी जाती हैं,—उनसे अनन्त गुण अधिक दुःख-वेदनाएँ नरक में हैं।"

७४. सव्वभवेसु अस्साया
वेयणा वेइया मए।
निमेसन्तरमित्तं पि
जं साया नत्थि वेयणा॥

—"मैंने सभी जन्मों में दुःख-रूप वेदना का अनुभव किया है। एक क्षण के अन्तर जितनी भी सुखरूप वेदना (अनुभूति) वहाँ नहीं है।"

माता-पिता—

७५. तं बिंत ऽम्मापियरो
छन्देणं पुत्त ! पव्वया।
नवरं पुण सामण्णे
दुक्खं निप्पडिकम्मया॥

माता-पिता ने उससे कहा—"पुत्र ! अपनी इच्छानुसार तुम भले ही संयम स्वीकार करो। किन्तु विशेष बात यह है कि—श्रामण्य-जीवन मे निष्प्रति-कर्मता अर्थात् रोग होने पर चिकित्सा न कराना, यह कष्ट है।"

मृगापुत्र—

७६. सो बिंत ऽम्मापियरो !
एवमेयं जहाफुडं।
पडिकम्मं को कुणई
अरण्णे मियपक्खिणं ?

वह बोला—"माता-पिता ! आपने जो कहा वह सत्य है। किन्तु जंगलो में रहने वाले निरीह पशु-पक्षियों की चिकित्सा कौन करता है ?"

७७. एगभूओ अरण्णे वा
जहा उ चरई मिगो।
एवं धम्मं चरिस्सामि
संजमेण तवेण य॥

—"जैसे जंगल मे मृग अकेला विचरता है, वैसे ही मैं भी संयम और तप के साथ एकाकी होकर धर्म का आचरण करूँगा।"

७८. जया मिगस्स आयंको
महारण्णम्मि जायई।
अच्छन्तं रुक्खमूलम्मि
को णं ताहे तिगिच्छई ?

—"जब महावन में मृग के शरीर में आतंक (आशुघाती रोग) उत्पन्न हो जाता है, तब वृक्ष के नीचे बैठे हुए उस मृग की कौन चिकित्सा करता है ?"

७९. को वा से ओसहं देई ?
को वा से पुच्छई सुहं ?
को से भत्तं च पाणं च
आहरित्तु पणामए ?

—"कौन उसे औषधि देता है ? कौन उसे सुख की (स्वास्थ्य की) बात पूछता है ? कौन उसे भक्त-पान लाकर देता है ?"

८०. जया य से सुही होइ
तया गच्छइ गोयरं ।
भत्तपाणस्स अट्ठाए
वल्लराणि सराणि य ॥

—"जब वह स्वस्थ हो जाता है, तब स्वयं गोचरभूमि में जाता है। और खाने-पीने के लिए वल्लरों—लता-निकुंजों व गहन (झाड़ियों) तथा जलाशयों को खोजता है।

८१. खाइत्ता पाणियं पाउं
वल्लरेहिं सरेहि वा ।
मिगचारियं चरित्ताणं
गच्छई मिगचारियं ॥

—"लता-निकुंजों और जलाशयों में खाकर—पानी पीकर मृगचर्या (उछल-कूद) करता हुआ वह मृग अपनी मृग-चर्या (मृगों की निवासभूमि) को चला जाता है।"

८२. एव समुट्ठिओ भिक्खू
एवमेव अणेगओ ।
मिगचारियं चरित्ताणं
उड्ढं पक्कमई दिसं ॥

—"रूपादि में अप्रतिबद्ध, संयम के लिए उद्यत भिक्षु स्वतंत्र विहार करता हुआ, मृगचर्या की तरह आचरण कर ऊर्ध्व-दिशा—मोक्ष को गमन करता है।"

८३. जहा मिगे एग अणेगचारी
अणेगवासे धुवगोयरे य ।
एवं मुणी गोयरियं पविट्ठे
नो हीलए नो विय खिसएज्जा ॥

—"जैसे मृग अकेला अनेक स्थानों में विचरता है, अनेक स्थानों में रहता है, सदैव गोचर-चर्या से ही जीवन-यापन करता है, वैसे ही गोचरी के लिए गया हुआ मुनि भी किसी की निन्दा और अवज्ञा नहीं करता है।"

८४. मिगचारियं चरिस्सामि
एवं पुत्ता ! जहासुहं ।
अम्मापिऊहिं अणुन्नाओ
जहाइ उवहिं तओ ॥

—"मैं मृगचर्या का आचरण करूँगा।" "पुत्र! जैसे तुम्हें सुख हो, वैसे करो—।" इस प्रकार माता-पिता की अनुमति पाकर वह उपधि—परिग्रह को छोड़ता है।

मृगापुत्र—

८५. मियचारियं चरिस्सामि
सव्वदुक्खविमोक्खणिं ।
तुब्भेहिं अम्म ! अणुन्नाओ
गच्छ पुत्त ! जहासुहं ॥

—"हे माता! मैं तुम्हारी अनुमति प्राप्त कर सभी दुःखों का क्षय करने—वाली मृगचर्या का आचरण करूँगा"

माता—

"पुत्र! जैसे तुम्हें सुख हो, वैसे करो।"

उपसंहार—

८६. एवं सो अम्मापियरो
अणुमाणित्ताण बहुविहं ।
ममत्तं छिन्दई ताहे
महानागो व्व कंचुयं ॥

इस प्रकार वह अनेक तरह से माता-पिता को अनुमति के लिए समझा कर ममत्त्व का त्याग करता है, जैसे कि महानाग केंचुल को छोड़ता है ।

८७. इड्ढी वित्तं च मित्ते य
पुत्त-दारं च नायओ ।
रेणुयं व पडे लग्गं
निद्धुणित्ताण निग्गओ ॥

कपड़े पर लगी हुई धूल की तरह ऋद्धि, धन, मित्र, पुत्र, कलत्र और ज्ञाति जनों को झटककर वह संयमयात्रा के लिए निकल पड़ा ।

८८. पंचमहव्वयजुत्तो
पंचसमिओ तिगुत्तिगुत्तो य ।
सब्भिन्तर — बाहिरओ
तवोकम्मंसि उज्जुओ ॥

पंच महाव्रतों से युक्त, पाँच समितियों से समित. तीन गुप्तियों से गुप्त, आभ्यन्तर और बाह्य तप में उद्यत—

८९. निम्ममो निरहंकारो
निस्संगो चत्तगारवो ।
समो य सव्वभूएसु
तसेसु थावरेसु य ॥

ममत्त्वरहित, अहंकाररहित, संग-रहित, गौरव का त्यागी, त्रस तथा स्थावर सभी जीवों में समदृष्टि —

९०. लाभालाभे सुहे दुक्खे
जीविए मरणे तहा ।
समो निन्दा-पसंसासु
तहा माणावमाणओ ॥

लाभ में, अलाभ में, सुख में, दुःख में, जीवन में, मरण में, निन्दा में, प्रशंसा में, और मान-अपमान में समत्त्व का साधक—

९१. गारवेसु कसाएसु
दण्ड-सल्ल-भएसु य ।
नियत्तो हास-सोगाओ
अनियाणो अबन्धणो ॥

गौरव, कषाय, दण्ड, शल्य, भय, हास्य और शोक से निवृत्त, निदान और बन्धन से मुक्त—

९२. अणिस्सिओ इहं लोए
परलोए अणिस्सिओ ।
वासीचन्दणकप्पो य
असणे अणसणे तहा ॥

इस लोक और परलोक में अनासक्त, बसूले से काटने अथवा चन्दन लगाए जाने पर भी तथा आहार मिलने और न मिलने पर भी सम—

९३. अप्पसत्थेहिं दारेहिं
सव्वओ पिहियासवे ।
अज्झप्पज्झाणजोगेहिं
पसत्थ - दमसासणे ॥

अप्रशस्त द्वारों—हेतुओं से आने वाले कर्म-पुद्गलों का सर्वतोभावेन निरोधक महर्षि मृगापुत्र अध्यात्मसम्बन्धी ध्यानयोगों से प्रशस्त संयम-शासन में लीन हुआ ।

९४. एव नाणेण चरणेण
दंसणेण तवेण य ।
भावणाहि य सुद्धाहि
सम्मं भावेत्तु अप्पयं ॥

इस प्रकार ज्ञान, चारित्र, दर्शन, तप और शुद्ध-भावनाओं के द्वारा आत्मा को सम्यक्तया भावित कर—

९५. बहुयाणि उ वासाणि
सामण्णमणुपालिया ।
मासिएण उ भत्तेण
सिद्धिं पत्तो अणुत्तरं ॥

बहुत वर्षों तक श्रामण्य धर्म का पालन कर अन्त मे एक मास के अनशन से वह अनुत्तर सिद्धि को प्राप्त हुआ ।

९६. एव करेन्ति संबुद्धा
पण्डिया पवियक्खणा ।
विणियट्टन्ति भोगेसु
मियापुत्ते जहारिसी ॥

संबुद्ध, पण्डित और अतिविचक्षण व्यक्ति ऐसा ही करते हैं । वे काम-भोगों से वैसे ही निवृत्त होते हैं, जैसे कि महर्षि मृगापुत्र निवृत्त हुआ ।

९७. महापभावस्स महाजसस्स
मियाइ पुत्तस्स निसम्म भासियं ।
तवप्पहाणं चरियं च उत्तमं
गइप्पहाणं च तिलोगविस्सुयं ॥

महान् प्रभावशाली, महान् यशस्वी मृगापुत्र के तपःप्रधान, त्रिलोक-विश्रुत एवं मोक्षरूपगति से प्रधान—उत्तम चारित्र के कथन को सुनकर—

९८. वियाणिया दुक्खविवद्धणं धणं
ममत्तबंधं च महब्भयावहं ।
सुहावहं धम्मधुरं अणुत्तरं
धारेह निव्वाणगुणावहं महं ॥

धन को दुःखवर्धक तथा ममत्व-बन्धन को महाभयंकर जानकर निर्वाण के गुणों को प्राप्त करने वाली, सुखावह—अनन्त सुख-प्रापक, अनुत्तर धर्म-धुरा को धारण करो ।

—त्ति बेमि ॥

—ऐसा मैं कहता हूं ।

२०

महानिर्ग्रन्थीय

ऐश्वर्य और परिवार होने मात्र से कोई सनाथ नहीं होता ।

एक बार राजगृह के बाहर पर्वत की तलहटी में विस्तृत-'मण्डिकुक्षि' उद्यान में मगधेश्वर राजा 'श्रेणिक' घूमने गये थे। वहाँ ध्यान योग में लीन एक तरुण मुनि को देखा। मुनि के अप्रतिम सौन्दर्य को देखकर राजा आश्चर्य में डूब गया। उसने मुनि से कहा—"तुम मुनि कैसे बन गए? तुम्हारी यह युवावस्था और तुम्हारा यह दीप्तिमान् शरीर सांसारिक सुख भोगने के लिए है, न कि मुनि बनने के लिए।"

मुनि ने कहा—"राजन्! मैं अनाथ हूँ, असहाय हूँ, इसलिए साधु बना हूँ।"

मुनि के उत्तर पर राजा को विश्वास तो नहीं हुआ। फिर भी सोचा, "हो सकता है, ठीक हो। अभाव की स्थिति में और दूसरा चारा ही क्या है?" अतः राजा ने कहा "मुनि! लाचारी में साधु होने का क्या अर्थ? तुम्हारा कोई नाथ नहीं है, तो मैं तुम्हारा नाथ होता हूँ। मैं तुम्हें आमन्त्रण देता हूँ, तुम्हारे लिए सब सुख-सुविधा का प्रबन्ध करूँगा।"

मुनि ने कहा—"राजन्! तुम स्वयं ही अनाथ हो, तुम मेरे नाथ कैसे बन सकोगे? जो स्वयं अनाथ होता है, वह दूसरों का नाथ कैसे बन सकता है?"

राजा मुनि के इस उत्तर से परेशान हो गया। उसने अपने अपार ऐश्वर्य और विपुल समृद्धि का जिक्र करते हुए, मुनि से कहा—"आप असत्य न बोलें। ये हाथी, ये घोड़े, ये सैनिक, ये महल—सब मेरे है, मैं अनाथ कैसे हूँ ?"

मुनि ने कहा—"राजन् ! अनाथ और सनाथ की सही परिभाषा तुम नहीं जानते हो। धन-सम्पत्ति और ऐश्वर्य होने मात्र से कोई सनाथ नहीं होता। मैं अपने पिता का प्रिय पुत्र था। पिता के पास ऐश्वर्य की कोई कमी नहीं थी। परिवार में माँ, भाई, बहन, पत्नी और परिजन सभी थे। किन्तु जिस समय मैं आँखों की तीव्र वेदना से त्रस्त एवं पीड़ित हो रहा था, उस समय मुझे उस वेदना से कोई बचा नही सका। बड़े-से-बड़े चिकित्सक मुझे स्वस्थ नहीं कर सके, अपार ऐश्वर्य मेरे कुछ काम नहीं आया। वह मेरी वेदना को मिटा नहीं सका। मेरा कोई त्राण नहीं था। मुझे कोई बचा नहीं सका, यही मेरी अनाथता थी !"

—"एक दिन रात को शय्या पर पड़े-पड़े मैंने निर्णय किया कि धन, परिजन आदि के ये सब आश्रय झूठे हैं। इन झूठे आश्रयों का भरोसा छोड़ देना ही होगा। इन तमाम परिकरों से मुक्त हुए बिना मुझे शान्ति नही प्राप्त होगी। अतः श्रामण्य भाव में उपस्थित होकर दुःख और पीड़ा के बीज को ही मूल से नष्ट कर देना है। कुछ भी हो, प्रभात होते ही मैं सर्वसंग का त्यागी मुनि बन जाऊँगा। राजन् ! मेरा यह संकल्प दृढ़ से दृढ़तर होता गया। कुछ ऐसा योग हुआ कि मेरी वेदना शान्त हो गई। और प्रातः काल होते ही मैं मुनि बन गया।"

—"और जो मुनि बनकर भी उसके अनुरूप आचरण नहीं करता है, वह भी अनाथ है। साधना और साध्य के प्रति जिसकी दृष्टि विपरीत है, उसका बाह्य क्रिया-काण्ड निरर्थक है।"

मुनि की इस स्वानुभूत वाणी से राजा प्रभावित हुआ। राजा ने स्वीकार किया कि वास्तव में मैं अनाथ हूँ, मुनि सनाथ हैं। राजा ने मुनि से एक महत्त्वपूर्ण तथ्य को जाना, इससे वह प्रसन्न था। परिवार के साथ वह धर्म में अनुरक्त हो गया। उसने श्रद्धापूर्वक मुनि को वन्दना की। और अपने द्वारा ध्यान में विक्षेप हो जाने के प्रति विनम्र भाव से क्षमा-याचना की।

उक्त अध्ययन जीवन के एक ऐसे अंश को स्पर्श करता है, जो ऐश्वर्य के कारण अहं से ग्रस्त हो जाता है। बाह्य ऐश्वर्य एवं विभूति कुछ नहीं है। वह मानव की सनाथता के हेतु नहीं हैं। बाहर में सब कुछ पाकर भी मानव अनाथ ही रह जाता है, यदि उसके अन्तर्-मन में विशुद्ध विवेक एवं सच्चे अनासक्त वैराग्य का जागरण नहीं हुआ है तो।

विंसइमं अज्झयणं : विंशति अध्ययन

महानियण्ठिज्जं : महानिर्ग्रन्थीय

मूल — **हिन्दी अनुवाद**

१. सिद्धाणं नमो किच्चा
संजयाणं च भावओ।
अत्थधम्मगइं तच्चं
अणुसट्ठिं सुणेह मे॥

सिद्धों एवं संयतों को भावपूर्वक नमस्कार करके मैं अर्थ—मोक्ष और धर्म के स्वरूप का बोध कराने वाली तथ्य-पूर्ण अनुशिष्टि—शिक्षा का कथन करता हूँ, उसे सुनो।

२. पभूयरयणो राया
सेणिओ मगहाहिवो।
विहारजत्तं निज्जाओ
मण्डिकुच्छिसि चेइए॥

गज-अश्व तथा मणि-माणिक्य आदि प्रचुर रत्नों से समृद्ध मगध का अधिपति राजा श्रेणिक मण्डिकुक्षि चैत्य—उद्यान में विहार-यात्रा के लिए नगर से निकला।

३. नाणादुमलयाइण्णं
नाणापक्खिनिसेवियं।
नाणाकुसुमसंछन्नं
उज्जाणं नन्दणोवमं॥

वह उद्यान विविध प्रकार के वृक्षों एवं लताओं से आकीर्ण था, नाना प्रकार के पक्षियों से परिसेवित था और विविध प्रकार के पुष्पों से भली-भाँति आच्छादित था। किं बहुना, नन्दन वन के समान था।

४. तत्थ सो पासई साहुं
संजयं सुसमाहियं।
निसन्नं रुक्खमूलम्मि
सुकुमालं सुहोइयं॥

राजा ने उद्यान में वृक्ष के नीचे बैठे हुए एक संयत, समाधि-संपन्न, सुकुमार एवं सुखोचित—सुखोपभोग के योग्य साधु को देखा।

५. तस्स रूवं तु पासित्ता
राइणो तम्मि संजए।
अच्चन्तपरमो आसी
अउलो रूवविम्हओ ॥

साधु के अनुपम रूप को देखकर राजा को उसके प्रति बहुत ही अधिक अतुलनीय विस्मय हुआ।

६. अहो! वण्णो अहो! रूवं
अहो! अज्जस्स सोमया।
अहो! खंती अहो! मुत्ती
अहो! भोगे असंगया ॥

अहो, क्या वर्ण (रंग) है! क्या रूप (आकार) है! अहो, आर्य की कैसी सौम्यता है! अहो, क्या क्षान्ति है, क्या मुक्ति—निर्लोभता है! अहो, भोगों के प्रति कैसी असंगता है!

७. तस्स पाए उ वन्दित्ता
काऊण य पयाहिणं।
नाइदूरमणासन्ने
पंजली पडिपुच्छई ॥

मुनि के चरणों में वन्दना और प्रदक्षिणा करने के पश्चात् राजा न अति-दूर, न अति निकट अर्थात् योग्य स्थान में खड़ा रहा और हाथ जोड़कर मुनि से पूछने लगा—

राजा श्रेणिक—

८. तरुणोसि अज्ज! पव्वइओ
भोगकालम्मि संजया!
उवट्ठिओ सि सामण्णे
एयमट्ठं सुणेमि ता ॥

—"हे आर्य! तुम अभी युवा हो। फिर भी हे संयत! तुम भोगकाल में दीक्षित हुए हो, श्रामण्य में उपस्थित हुए हो। इसका क्या कारण है, मैं सुनना चाहता हूं।"

मुनि—

९. अणाहो मि महाराय!
नाहो मज्झ न विज्जई।
अणुकम्पगं सुहिं वावि
कंचि नाभिसमेमऽहं ॥

—"महाराज! मैं अनाथ हूं। मेरा कोई नाथ—अभिभावक एवं संरक्षक नहीं है। मुझ पर अनुकम्पा रखने वाला कोई सुहृद्—मित्र मैं नहीं पा रहा हूं।"

१०. तओ सो पहसिओ राया
सेणिओ मगहाहिवो।
एवं ते इड्ढिमन्तस्स
कहं नाहो न विज्जई?

यह सुनकर मगधाधिप राजा श्रेणिक जोर से हंसा और मुनि से बोला—"इस प्रकार तुम देखने में ऋद्धि संपन्न—सौभाग्यशाली लगते हो, फिर भी तुम्हारा कोई कैसे नाथ नहीं है?"

११. होमि नाहो भयन्ताणं
भोगे भुंजाहि संजया! ।
मित्त—नाईपरिवुडो
माणुस्सं खु सुदुल्लहं ॥

राजा श्रेणिक—

—"भदन्त! मैं तुम्हारा नाथ होता हूँ। हे संयत! मित्र और ज्ञातिजनों के साथ भोगों को भोगो। यह मनुष्य-जीवन बहुत दुर्लभ है।"

१२. अप्पणा वि अणाहो सि
सेणिया! मगहाहिवा!
अप्पणा अणाहो सन्तो
कहं नाहो भविस्ससि?

मुनि—

—"श्रेणिक! तुम स्वयं अनाथ हो। मगधाधिप! जब तुम स्वयं अनाथ हो तो किसी के नाथ कैसे हो सकोगे?"

१३. एवं वुत्तो नरिन्दो सो
सुसंभन्तो सुविम्हिओ।
वयणं अस्सुयपुव्वं
साहुणा विम्हयन्निओ ॥

राजा पहले ही विस्मित हो रहा था, अब तो मुनि से अश्रुतपूर्व (पहले कभी नहीं सुना गया—'अनाथ' यह) वचन सुनकर तो और भी अधिक संभ्रान्त—संशयाकुल एवं विस्मित हुआ।

राजा श्रेणिक—

१४. अस्सा हत्थी मणुस्सा मे
पुरं अन्तेउरं च मे।
भुंजामि माणुसे भोगे
आणा इस्सरियं च मे ॥

—"मेरे पास अश्व हैं, हाथी है—नगर और अन्त:पुर है। मैं मनुष्यजीवन के सभी सुख-भोगों को भोग रहा हूँ। मेरे पास आज्ञा—शासन और ऐश्वर्य—प्रभुत्व भी है।"

१५. एरिसे सम्पयग्गम्मि
सव्वकामसमप्पिए।
कहं अणाहो भवइ?
मा हु भन्ते! मुसं वए ॥

—"इस प्रकार प्रधान-श्रेष्ठ सम्पदा, जिसके द्वारा सभी कामभोग मुझे समर्पित होते हैं, मुझे प्राप्त हैं। इस स्थिति में भला मैं कैसे अनाथ हूँ? भदन्त! आप झूठ न बोलें।"

मुनि—

१६. न तुमं जाणे अणाहस्स
अत्थं पोत्थं व पत्थिवा! ।
जहा अणाहो भवई
सणाहो वा नराहिवा? ॥

—"पृथ्वीपति-नरेश! तुम 'अनाथ' के अर्थ और परमार्थ को नहीं जानते हो कि मानव अनाथ और सनाथ कैसे होता है?"

१७. सुणेह मे महाराय !
अव्वक्खित्तेण चेयसा ।
जहा अणाहो भवई
जहा मे य पवत्तियं ॥

—"महाराज ! अव्याक्षिप्त—अनाकुल चित्तसे मुझे सुनिए कि यथार्थ में अनाथ कैसे होता है, किस भाव से मैंने उसका प्रयोग किया है ?"

१८. कोसम्बी नाम नयरी
पुराणपुरभेयणी ।
तत्थ आसी पिया मज्झ
पभूयधणसंचओ ॥

—"प्राचीन नगरों में असाधारण सुन्दर कौशाम्बी नाम की नगरी है। वहाँ मेरे पिता थे। उनके पास प्रचुर धन का संग्रह था।"

१९. पढमे वए महाराय !
अउला मे अच्छिवेयणा ।
अहोत्था विउलो दाहो
सव्वंगेसु य पत्थिवा ! ॥

—"महाराज ! प्रथम वय में—युवावस्था मे मेरी आँखों में अतुल—असाधारण वेदना उत्पन्न हुई। पार्थिव ! उससे मेरे सारे शरीर में अत्यन्त जलन होती थी।"

२०. सत्थं जहा परमतिक्खं
सरीरविवरन्तरे ।
पवेसेज्ज अरी कुद्धो
एवं मे अच्छिवेयणा ॥

—"कुद्ध शत्रु जैसे शरीर के मर्मस्थानो मे अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र घोंपदे और उससे जैसे वेदना हो, वैसे ही मेरी आँखो मे भयंकर वेदना हो रही थी।"

२१. तियं मे अन्तरिच्छं च
उत्तमंगं च पीडई ।
इन्दासणिसमा घोरा
वेयणा परमदारुणा ॥

—"जैसे इन्द्र के वज्रप्रहार से भयंकर वेदना होती है, वैसे ही मेरे त्रिक—कटिभाग मे, अन्तरेच्छ—हृदय में और उत्तमाग—मस्तक में अति दारुण वेदना हो रही थी।"

२२. उवट्ठिया मे आयरिया
विज्जा-मन्ततिगिच्छगा ।
अबीया सत्थकुसला
मन्त-मूलविसारया ॥

"—विद्या और मंत्र से चिकित्सा करने वाले, मंत्र तथा औषधियों के विशारद, अद्वितीय शास्त्रकुशल, आयुर्वेदाचार्य मेरी चिकित्सा के लिए उपस्थित थे।"

२३. ते मे तिगिच्छं कुव्वन्ति
चाउप्पायं जहाहियं ।
न य दुक्खा विमोयन्ति
एसा मज्झ अणाहया ॥

—"उन्होंने मेरे हितार्थ वैद्य, रोगी, औषध और परिचारक-रूप चतुष्पाद चिकित्सा की, किन्तु वे मुझे दुःख से मुक्त नही कर सके। यह मेरी अनाथता है।"

२४. पिया मे सव्वसारं पि
दिज्जाहि मम कारणा।
न य दुक्खा विमोएइ
एसा मज्झ अणाहया॥

—"मेरे पिता ने मेरे लिए चिकित्सकों को उपहारस्वरूप सर्वसार अर्थात् सर्वोत्तम वस्तुएँ दीं, किन्तु वे मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सके। यह मेरी अनाथता है।"

२५. माया य मे महाराय!
पुत्तसोगदुहट्टिया।
न य दुक्खा विमोएइ
एसा मज्झ अणाहया॥

—"महाराज! मेरी माता पुत्र-शोक के दुःख से बहुत पीड़ित रहती थी, किन्तु वह भी मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकी, यह मेरी अनाथता है।"

२६. भायरो मे महाराय!
सगा जेट्ठ-कणिट्ठगा।
न य दुक्खा विमोयन्ति
एसा मज्झ अणाहया॥

—"महाराज! मेरे बड़े और छोटे सभी सगे भाई मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सके। यह मेरी अनाथता है।"

२७. भइणीओ मे महाराय!
सगा जेट्ठ-कणिट्ठगा।
न य दुक्खा विमोयन्ति
एसा मज्झ अणाहया॥

—"महाराज! मेरी बड़ी और छोटी सगी बहनें भी मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकीं, यह मेरी अनाथता है।"

२८. भारिया मे महाराय!
अणुरत्ता अणुव्वया।
अंसुपुण्णेहिं नयणेहिं
उरं मे परिसिंचई॥

—"महाराज! मुझ में अनुरक्त और अनुव्रत मेरी पत्नी अश्रुपूर्ण नयनों से मेरे उरःस्थल (छाती) को भिगोती रहती थी।"

२९. अन्नं पाणं च ण्हाणं च
गन्ध-मल्ल-विलेवणं।
मए नायमणायं वा
सा बाला नोवभुंजई॥

—"वह बाला मेरे प्रत्यक्ष में या परोक्ष में कभी भी अन्न, पान, स्नान, गन्ध, माल्य और विलेपन का उपभोग नहीं करती थी।"

३०. खणं पि मे महाराय!
पासाओ वि न फिट्टई।
न य दुक्खा विमोएइ
एसा मज्झ अणाहया॥

—"वह एक क्षण के लिए भी मुझ से दूर नहीं होती थी। फिर भी वह मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकी। महाराज! यही मेरी अनाथता है।"

<table>
<tr><td>३१. तओ हं एवमाहंसु
दुक्खमा हु पुणो पुणो।
वेयणा अणुभविउं जे
संसारम्मि अणन्तए॥</td><td>तब मैंने इस प्रकार कहा—विचार किया कि प्राणी को इस अनन्त संसार में बार-बार असह्य वेदना का अनुभव करना होता है।"</td></tr>
<tr><td>३२. सइं च जइ मुच्चेज्जा
वेयणा विउला इओ।
खन्तो दन्तो निरारम्भो
पव्वए अणगारियं॥</td><td>—"इस विपुल वेदना से यदि एक बार भी मुक्त हो जाऊँ, तो मैं क्षान्त, दान्त और निरारम्भ अनगारवृत्ति में प्रव्रजित—दीक्षित हो जाऊँगा।"</td></tr>
<tr><td>३३. एवं च चिन्तइत्ताणं
पसुत्तो मि नराहिवा!
परियट्टन्तीए राईए
वेयणा मे खयं गया॥</td><td>—"नराधिप! इस प्रकार विचार करके मैं सो गया। परिवर्तमान (बीतती हुई) रात के साथ-साथ मेरी वेदना भी क्षीण हो गई।"</td></tr>
<tr><td>३४. तओ कल्ले पभायम्मि
आपुच्छित्ताण बन्धवे।
खन्तो, दन्तो निरारम्भो
पव्वइओ ऽणगारियं॥</td><td>—"तदनन्तर प्रातःकाल में कल्य—नीरोग होते ही मैं बन्धुजनों को पूछकर क्षान्त, दान्त और निरारम्भ होकर अनगार वृत्ति में प्रव्रजित हो गया।"</td></tr>
<tr><td>३५. ततो हं नाहो जाओ
अप्पणो य परस्स य।
सव्वेसिं चेव भूयाणं
तसाण थावराण य॥</td><td>—"तब मैं अपना और दूसरों का, त्रस और स्थावर सभी जीवों का नाथ हो गया।"</td></tr>
<tr><td>३६. अप्पा नई वेयरणी
अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू
अप्पा मे नन्दणं वणं॥</td><td>—"मेरी अपनी आत्मा ही वैतरणी नदी है, कूट-शाल्मली वृक्ष है, काम-दुघा धेनु है और नन्दन वन है।"</td></tr>
<tr><td>३७. अप्पा कत्ता विकत्ता य
दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च
दुप्पट्ठिय — सुपट्ठिओ॥</td><td>—"आत्मा ही अपने सुख-दुःख का कर्ता है और विकर्ता—भोक्ता है। सत् प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही अपना मित्र है। और दुष्प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही अपना शत्रु है।"</td></tr>
</table>

३८. इमा हु अन्ना वि अणाहया निवा !
तमेगचित्तो निहुओ सुणेहि ।
नियण्ठधम्मं लहियाण वी जहा
सीयन्ति एगे बहुकायरा नरा ॥

—"राजन् ! यह एक और भी अनाथता है । शान्त एवं एकाग्रचित्त होकर उसे सुनो ! बहुत से ऐसे कायर व्यक्ति होते हैं, जो निर्ग्रन्थ धर्म को पाकर भी खिन्न हो जाते हैं—स्वीकृत अनगार धर्म का सोत्साह पालन नहीं कर पाते हैं ।"

३९. जो पव्वइत्ताण महव्वयाइं
सम्मं नो फासयई पमाया ।
अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे
न मूलओ छिन्दइ बन्धणं से ॥

—"जो महाव्रतों को स्वीकार कर प्रमाद के कारण उनका सम्यक् पालन नहीं करता है, आत्मा का निग्रह नहीं करता है, रसों में आसक्त है, वह मूल से राग-द्वेष-रूप बन्धनों का उच्छेद नहीं कर सकता है ।"

४०. आउत्तया जस्स न अत्थि काइ
इरियाए भासाए तहेसणाए ।
आयाण-निक्खेव-दुगुंछणाए
न वीरजायं अणुजाइ मग्गं ॥

"—जिसकी ईर्या, भाषा, एषणा और आदान-निक्षेप में और उच्चार-प्रस्रवण के परिष्ठापन में आयुक्तता—सजगता नहीं है, वह उस मार्ग का अनुगमन नहीं कर सकता, जो वीरयात है—अर्थात् जिस पर वीर पुरुष चले हैं ।"

४१. चिरं पि से मुण्डरुई भवित्ता
अथिरव्वए तव-नियमेहि भट्ठे ।
चिरं पि अप्पाण किलेसइत्ता
न पारए होइ हु संपराए ॥

—"जो अहिंसादि व्रतों में अस्थिर है, तप और नियमों से भ्रष्ट है—वह चिर काल तक मुण्डरुचि (और कुछ साधना न कर केवल सिर मुंडा देने वाला भिक्षु) रहकर और आत्मा को कष्ट देकर भी वह संसार से पार नहीं हो सकता ।"

४२. पोल्ले व मुट्ठी जह से असारे
अयन्तिए कूडकहावणे वा ।
राढामणी वेरुलियप्पगासे
अमहग्घए होइ य जाणएसु ॥

—"जो पोली (खाली) मुट्ठी की तरह निस्सार है, खोटे-सिक्के की तरह अयन्त्रित—अप्रमाणित है, वैडूर्य की तरह चमकने वाली तुच्छ राढामणि—काच-मणि है, वह जानने वाले परीक्षकों की दृष्टि में मूल्यहीन है ।"

४३. कुसीललिंगं इह धारइत्ता
इसिज्झयं जीविय वूहइत्ता ।
असंजए संजयलप्पमाणे
विणिघायमागच्छइ से चिरंपि ॥

—"जो कुशील—आचारहीनों का वेष, और ऋषि-ध्वज (रजोहरणादि मुनिचिन्ह) धारण कर जीविका चलाता है, असंयत होते हुए भी अपने-आप को संयत कहता है, वह चिरकाल तक विनिघात—विनाश को प्राप्त होता है।"

४४. विसं तु पीयं जह कालकूडं
हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं ।
एसे व धम्मो विसओववन्नो
हणाइ वेयाल इवाविवन्नो ॥

—"पिया हुआ कालकूट-विष, उलटा पकड़ा हुआ शस्त्र, अनियन्त्रित बेताल—जैसे विनाशकारी होता है, वैसे ही विषय-विकारों से युक्त धर्म भी विनाशकारी होता है।"

४५. जे लक्खणं सुविणं पउंजमाणे
निमित्त — कोऊहलसंपगाढे ।
कुहेडविज्जासवदारजीवी
न गच्छई सरणं तम्मि काले ॥

—"जो लक्षण और स्वप्न-विद्या का प्रयोग करता है, निमित्त शास्त्र और कौतुक-कार्य में अत्यन्त आसक्त है, मिथ्या आश्चर्य को उत्पन्न करने वाली कुहेट विद्याओं से—जादूगरी के खेलों से जीविका चलाता है, वह कर्मफल-भोग के समय किसी की शरण नहीं पा सकता।"

४६. तमंतमेणेव उ से असीले
सया दुही विप्परियासुवेइ ।
संधावई नरगतिरिक्खजोणिं
मोणं विराहेत्तु असाहुरूवे ॥

—"वह शीलरहित साधु अपने तमस्तमस्—तीव्र अज्ञान के कारण विपरीत-दृष्टि को प्राप्त होता है, फलतः असाधु प्रकृति वाला वह साधु मौन—मुनि-धर्म की विराधना कर सतत दुःख भोगता हुआ नरक और तिर्यंच गति में आवागमन करता रहता है।"

४७. उद्देसियं कीयगडं नियागं
न मुंचई किंचि अणेसणिज्जं ।
अग्गी विवा सव्वभक्खी भवित्ता
इओ चुओ गच्छइ कट्टु पावं ॥

—"जो औद्देशिक, क्रीत-कृत, नियाग—नित्यपिण्ड आदि के रूप में थोड़ा-सा भी अनेषणीय आहार नहीं छोड़ता है, वह अग्नि की भाँति सर्वभक्षी भिक्षु पाप-कर्म करके यहाँ से मरने के बाद दुर्गति में जाता है।"

४८. न तं अरी कंठछेत्ता करेइ
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते
पच्छाणुतावेण दयाविहूणो॥

—"स्वयं की अपनी दुष्प्रवृत्ति-शील दुरात्मा जो अनर्थ करती है, वह गला काटने वाला शत्रु भी नहीं कर पाता है। उक्त तथ्य को निर्दय-संयमहीन मनुष्य मृत्यु के क्षणों में पश्चात्ताप करते हुए जान पाएगा।"

४९. निरट्ठिया नग्गरुई उ तस्स
जे उत्तमट्ठं विवज्जासमेइ।
इमे वि से नत्थि परे वि लोए
दुहओ वि से झिज्जइ तत्थ लोए॥

—"जो उत्तमार्थ में—अन्तिम समय की साधना में विपरीत दृष्टि रखता है, उसकी श्रामण्य में अभिरुचि व्यर्थ है। उसके लिए न यह लोक है, न परलोक है। दोनों लोक के प्रयोजन से शून्य होने के कारण वह उभय-भ्रष्ट भिक्षु निरन्तर चिन्ता में घुलता जाता है।"

५०. एमेवऽहाछन्द—कुसीलरूवे
मग्गं विराहेत्तु जिणुत्तमाणं।
कुररी विवा भोगरसाणुगिद्धा
निरट्ठसोया परियावमेइ॥

—"इसी प्रकार स्वच्छन्द और कुशील साधु भी जिनोत्तम—भगवान् के मार्ग की विराधना कर वैसे ही परिताप को प्राप्त होता है, जैसे कि भोग-रसों में आसक्त होकर निरर्थक शोक करने वाली कुररी (गीध) पक्षिणी परिताप को प्राप्त होती है।"

५१. सोच्चाण मेहावि सुभासियं इमं
अणुसासणं नाणगुणोववेयं।
मग्गं कुसीलाण जहाय सव्वं
महानियण्ठाण वए पहेणं॥

—"मेधावी साधक इस सुभाषित को एवं ज्ञान-गुण से युक्त अनुशासन (शिक्षा) को सुनकर कुशील व्यक्तियों के सब मार्गों को छोड़कर, महान् निर्ग्रन्थों के पथ पर चले।"

५२. चरित्तमायारगुणन्निए तओ
अणुत्तरं संजम पालियाणं।
निरासवे संखवियाण कम्मं
उवेइ ठाणं विउलुत्तमं धुवं॥

—"चारित्राचार और ज्ञानादि गुणों से संपन्न निर्ग्रन्थ निराश्रव होता है। अनुत्तर शुद्ध संयम का पालन कर वह निराश्रव (राग-द्वेषादि बन्ध-हेतुओं से मुक्त) साधक कर्मों का क्षय कर विपुल, उत्तम एवं शाश्वत मोक्ष को प्राप्त करता है।"

५३. एवुग्गदन्ते वि महातवोधणे
महामुणी महापइन्ने महायसे ।
महानियण्ठिज्जमिणं महासुयं
से काहए महया वित्थरेणं ॥

इस प्रकार उग्र-दान्त, महान् तपोधन, महा-प्रतिज्ञ, महान्-यशस्वी उस महामुनि ने इस महा-निर्ग्रन्थीय महाश्रुत को महान् विस्तार से कहा ।

५४. तुट्ठो य सेणिओ राया
इणमुदाहु कयंजली ।
अणाहत्तं जहाभूयं
सुट्ठु मे उवदंसियं ॥

राजा श्रेणिक संतुष्ट हुआ और हाथ जोड़कर इस प्रकार बोला—"भगवन् ! अनाथ का यथार्थ स्वरूप आपने मुझे ठीक तरह समझाया है ।"

राजा श्रेणिक—

५५. तुज्झं सुलद्धं खु मणुस्सजम्मं
लाभा सुलद्धा य तुमे महेसी !
तुब्भे सणाहा य सबन्धवा य
जं भे ठिया मग्गे जिणुत्तमाणं ॥

—"हे महर्षि ! तुम्हारा मनुष्य-जन्म सफल है, तुम्हारी उपलब्धियाँ सफल हैं, तुम सच्चे सनाथ और सबान्धव हो, क्योंकि तुम जिनेश्वर के मार्ग में स्थित हो ।"

५६. तं सि नाहो अणाहाणं
सव्वभूयाण संजया !
खामेमि ते महाभाग !
इच्छामि अणुसासिउं ॥

—"हे संयत ! तुम अनाथों के नाथ हो, तुम सब जीवों के नाथ हो । हे महा-भाग ! मैं तुमसे क्षमा चाहता हूँ । मैं तुम से अनुशासित होने की इच्छा रखता हूँ ।"

५७. पुच्छिऊण मए तुब्भं
झाणविग्घो उ जो कओ ।
निमन्तिओ य भोगेहिं
तं सव्वं मरिसेहि मे ॥

—"मैंने तुमसे प्रश्न कर जो ध्यान में विघ्न किया और भोगों के लिए निमन्त्रण दिया, उन सब के लिए मुझे क्षमा करें ।"

५८. एवं थुणित्ताण स रायसीहो
अणगारसीहं परमाइ भत्तिए ।
सओरोहो य सपरियणो य
धम्माणुरत्तो विमलेण चेयसा ॥

इस प्रकार राजसिंह श्रेणिक राजा अनगार-सिंह मुनि की परम भक्ति से स्तुति कर अन्तःपुर (रानियों) तथा अन्य परिजनों के साथ धर्म में अनुरक्त हो गया ।

५९. ऊससिय — रोमकूवो
काऊण य पयाहिणं ।
अभिवन्दिऊण सिरसा
अइयाओ नराहिवो ॥

राजा के रोमकूप आनन्द से उच्छ्-वसित—उल्लसित हो रहे थे । वह मुनि की प्रदक्षिणा और सिर से वन्दना करके लौट गया ।

६०. इयरो वि गुणसमिद्धो तिगुत्तिगुत्तो तिदण्डविरओ य। विहग इव विप्पमुक्को विहरइ वसुहं विगयमोहो॥	और वह गुणों से समृद्ध, तीन गुप्तियो से गुप्त, तीन दण्डों से विरत, मोहमुक्त मुनि पक्षी की भांति विप्रमुक्त—अप्रतिबद्ध होकर भूतल पर विहार करने लगे।
—त्ति बेमि॥	—ऐसा मैं कहता हूं।

●

२१

समुद्रपालीय

बीज के अनुसार फल पैदा होता है।
यदि अच्छा फल चाहिए, तो अच्छा बीज बोना होगा।

भगवान् महावीर का श्रावक-शिष्य 'पालित', अपने समय का एक बहुत बड़ा व्यापारी था। वह अंग देश की राजधानी चंपा में रहता था। किन्तु व्यापार के लिए वह समुद्र-यात्रा करता था, अतः उसे दूर-दूर के देशों में जाना पड़ता था। एक बार वह जलपोत से पिहुण्ड नगर में सुपारी और स्वर्ण आदि के व्यापार के लिए गया। वहाँ उसे बहुत समय तक रुकना पड़ा। युवक पालित की प्रामाणिकता और चतुरता की ख्याति नगर में घर-घर फैल गई। अतः वहाँ के एक संपन्न सेठ ने अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ कर दिया।

पालित अपनी गर्भवती पत्नी के साथ समुद्र के मार्ग से चंपा लौट रहा था। पत्नी ने जहाज में ही एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम 'समुद्रपाल' रखा गया। वह बहुत सुन्दर था। समय पर वह बहत्तर कलाओं में निपुण हुआ और परिवार में आमोद-प्रमोद के साथ सुखपूर्वक रहने लगा।

एक बार नगर के राज-मार्ग पर उसने एक भयंकर अपराधी को राजाज्ञा से नगर-आरक्षकों द्वारा वधभूमि की ओर ले जाते हुए देखा। उन दिनों प्राणदण्ड के अपराधियों की एक विशिष्ट वेषभूषा होती थी। उन्हें लाल कनेर के फूलों की माला और लाल कपड़े पहनाये जाते थे। नंगे शरीर पर लाल चंदन का लेप किया जाता था। गधे पर चढ़ाकर नगर में घुमाया जाता और उसके दुष्कर्म की घोषणा की जाती। जिससे लोगों को ध्यान में आए कि यह अपराधी है और अपराध करने वालों को इस प्रकार दण्डित किया

जाता है। भविष्य में अन्य कोई ऐसा अपराध न करे, यह अप्रत्यक्ष रूप से लोगों को समझा दिया जाता था।

समुद्रपाल ने अपराधी को देखा। और वह सोचने लगा कि—"अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है और बुरे कर्मों का फल बुरा होता है। इस अपराधी ने बुरा कार्य किया है, उसका फल यह भोग रहा है। अच्छे अथवा बुरे कर्मों के फल कर्त्ता को भोगने ही होते हैं।" इस प्रकार कर्म और कर्मफल के सम्बन्ध में वह गहराई से सोचता रहा और अन्त में संसार के प्रति उसका मन संवेग और वैराग्य से भर गया। अन्ततोगत्वा माता-पिता से अनुमति प्राप्त कर उसने मुनि-दीक्षा ले ली।

इस घटना के उल्लेख के बाद प्रस्तुत अध्ययन में साधु के आन्तरिक आचार के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख है। साधु प्रिय और अप्रिय—दोनों ही स्थितियों में अपना सन्तुलन सुरक्षित रखे। व्यर्थ की बातों से अलग रहे। देश, काल और परिस्थिति को ध्यान में रखकर विहार करे। किसी के असभ्य और अशिष्ट व्यवहार से भी क्रुद्ध न हो। ज्ञान और संयम से अपनी यात्रा को सम्पन्न रखे।

प्रस्तुत अध्ययन में वर्णित पद्धति के अनुसार विशुद्ध संयम का पालन करके समुद्रपाल सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुआ।

एगविंसइमं अज्झयणं : एकविंश अध्ययन
समुद्दपालीयं : समुद्रपालीय

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. चम्पाए पालिए नाम सावए आसि वाणिए। महावीरस्स भगवओ सीसे सो उ महप्पणो ॥	चम्पा नगरी मे 'पालित' नामक एक वणिक् श्रावक था। वह महात्मा—विराट पुरुष भगवान् महावीर का शिष्य था।
२. निग्गन्थे पावयणे सावए से विकोविए। पोएण ववहरन्ते पिहुण्डं नगरमागए ॥	वह श्रावक निर्ग्रन्थ प्रवचन का विशिष्ट विद्वान् था। एक बार पोत—पानी के जहाज से व्यापार करता हुआ वह पिहुण्ड नगर में आया।
३. पिहुण्डे ववहरन्तस्स वाणिओ देइ धूयरं। तं ससत्तं पइगिज्झ सदेसमह पत्थिओ ॥	पिहुण्ड नगर में व्यापार करते समय उसे एक व्यापारी ने विवाह के रूप में अपनी पुत्री दी। कुछ समय के बाद गर्भवती पत्नी को लेकर उसने स्वदेश की ओर प्रस्थान किया।
४. अह पालियस्स घरणी समुद्दंमि पसवई। अह दारए तहिं जाए 'समुद्दपालि' त्ति नामए ॥	पालित की पत्नी ने समुद्र में ही पुत्र को जन्म दिया। समुद्र-यात्रा में पैदा होने के कारण उसका नाम 'समुद्रपाल' रखा गया।

५. खेमेण आगए चम्पं
सावए वाणिए घरं।
संवड्ढई घरे तस्स
दारए से सुहोइए॥

वह वणिक् श्रावक सकुशल चम्पा नगरी में अपने घर आया। वह सुखोचित—सुकुमार बालक उसके घर में आनन्द के साथ बढ़ने लगा।

६. बावत्तरिं कलाओ य
सिक्खए नीइकोविए।
जोव्वणेण य संपन्ने
सुरूवे पियदंसणे॥

उसने बहत्तर कलाएँ सीखीं, और वह नीति-निपुण हो गया। वह युवावस्था से सम्पन्न हुआ तो सभी को सुन्दर और प्रिय लगने लगा।

७. तस्स रूववइं भज्जं
पिया आणेइ रूविणीं।
पासाए कीलए रम्मे
देवो दोगुन्दओ जहा॥

पिता ने उसके लिए 'रूपिणी' नाम की सुन्दर भार्या ला दी। वह अपनी पत्नी के साथ दोगुन्दक देव की भाँति सुरम्य प्रासाद में क्रीड़ा करने लगा।

८. अह अन्नया कयाई
पासायालोयणे ठिओ।
वज्झमण्डणसोभागं
वज्झं पासइ वज्झगं॥

एक समय वह प्रासाद के आलोकन में—झरोखे मे बैठा था। वध्य-जनोचित मण्डनों—चिन्हों से युक्त वध्य को बाहर वध-स्थान की ओर ले जाते हुए उसने देखा।

९. तं पासिऊण संविग्गो
समुद्दपालो इणमब्बवी।
अहोऽसुभाण कम्माणं
निज्जाणं पावगं इमं॥

उसे देखकर संवेग-प्राप्त समुद्रपाल ने मन में इस प्रकार कहा—"खेद है ! यह अशुभ कर्मों का पापक निर्याण—दुःखद परिणाम है।"

१०. संबुद्धो सो तहिं भगवं
परं संवेगमागओ।
आपुच्छऽम्मापियरो
पव्वए अणगारियं॥

इस प्रकार चिन्तन करते हुए वह भगवान्—महान् आत्मा संवेग को प्राप्त हुआ और सम्बुद्ध हो गया। माता-पिता को पूछ कर उसने *अनगारिता*—मुनि-दीक्षा ग्रहण की।

११. जहित्तु संगं च महाकिलेसं
महन्तमोहं कसिणं भयावहं।
परियायधम्मं चऽभिरोयएज्जा
वयाणि सीलाणि परीसहे य॥

दीक्षित होने पर मुनि महा क्लेशकारी, महामोह और पूर्ण भयकारी संग (आसक्ति) का परित्याग करके पर्यायधर्म-साधुता में, व्रत में, शील में, और परीषहों में—परिषहों को समभाव से सहन करने में अभिरुचि रखे।

१२. अहिंस सच्चं च अतेणगं च
तत्तो य बम्भं अपरिग्गहं च ।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि
चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ ॥

विद्वान् मुनि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच महाव्रतों को स्वीकार करके जिनोपदिष्ट धर्म का आचरण करे ।

१३. सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकम्पी
खन्तिक्खमे संजय बम्भयारी ।
सावज्जजोगं परिवज्जयन्तो
चरिज्ज भिक्खू सुसमाहिइन्दिए ॥

इन्द्रियों का सम्यक् संवरण करने वाला भिक्षु सब जीवों के प्रति करुणाशील रहे, क्षमा से दुर्वचनादि को सहन करने वाला हो, संयत हो, ब्रह्मचारी हो । वह सदैव सावद्ययोग का—पापाचार का परित्याग करता हुआ विचरण करे ।

१४. कालेण कालं विहरेज्ज रट्ठे
बलाबलं जाणिय अप्पणो य ।
सीहो व सद्देण न संतसेज्जा
वयजोग सुच्चा न असब्भमाहु ॥

साधु समयानुसार अपने बलाबल को, अपनी शक्ति को जानकर राष्ट्रों में विचरण करे । सिंह की भाँति भयोत्पादक शब्द सुनकर भी संत्रस्त न हो । असभ्य वचन सुनकर भी बदले में असभ्य वचन न कहे ।

१५. उवेहमाणो उ परिव्वएज्जा
पियमप्पियं सव्व तितिक्खएज्जा ।
न सव्व सव्वत्थऽभिरोयएज्जा
न यावि पूयं गरहं च संजए ॥

संयमी प्रतिकूलताओं की उपेक्षा करता हुआ विचरण करे । प्रिय-अप्रिय—अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल सब परीषहों को सहन करे । सर्वत्र सबकी (जो भी अच्छी चीज देखे या सुने, उसकी) अभिलाषा न करे, पूजा और गर्हा भी न चाहे ।

१६. अणेगछन्दा इह माणवेहिं
जे भावओ संपगरेइ भिक्खू ।
भयभेरवा तत्थ उइन्ति भीमा
दिव्वा मणुस्सा अदुवा तिरिच्छा ॥

यहाँ संसार में मनुष्यों के अनेक प्रकार के छन्द—अभिप्राय होते हैं । भिक्षु उन्हें अपने में भी भाव से जानता है ।[1] अतः वह देवकृत, मनुष्यकृत तथा तिर्यंचकृत भयोत्पादक भीषण उपसर्गों को सहन करे ।

१—यान् छन्दान् भावतस्तत्त्वतः औदयिकादिभावतो वा संप्रकरोति पूर्णं विधत्ते भिक्षुः ;
—सर्वार्थ सिद्धि वृत्ति ।

—साधारण लोगों में होने वाले विकल्प वस्तुतया भिक्षु में भी होते हैं, पर भिक्षु उन पर शासन करे ।

१७. परीसहा दुव्विसहा अणेगे
सीयन्ति जत्था बहुकायरा नरा।
से तत्थ पत्ते न वहिज्ज भिक्खू
संगामसीसे इव नागराया॥

अनेक दुर्विषह—असह्य परीषह प्राप्त होने पर बहुत से कायर लोग खेद का अनुभव करते हैं। किन्तु भिक्षु परिषह प्राप्त होने पर संग्राम में आगे रहने वाले नागराज—हाथी की तरह व्यथित न हो।

१८. सीओसिणा दंसमसा य फासा
आयंका विविहा फुसन्ति देहं।
अकुक्कुओ तत्थऽहियासएज्जा
रयाइं खेवेज्ज पुरेकडाइं॥

शीत, उष्ण, डांस, मच्छर, तृण-स्पर्श तथा अन्य विविध प्रकार के आतंक जब भिक्षु को स्पर्श करें, तब वह कुत्सित शब्द न करते हुए उन्हें समभाव से सहन करे। पूर्वकृत कर्मों को क्षीण करे।

१९. पहाय रागं च तहेव दोसं
मोहं च भिक्खू सययं वियक्खणो।
मेरु व्व वाएण अकम्पमाणो
परीसहे आयगुत्ते सहेज्जा॥

विचक्षण भिक्षु सतत राग-द्वेष और मोह को छोड़ कर, वायु से अकम्पित मेरु की भाँति आत्म-गुप्त बनकर परीषहों को सहन करे।

२०. अणुन्नए नावणए महेसी
न यावि पूयं गरहं च संजए।
स उज्जुभावं पडिवज्ज संजए
निव्वाणमग्गं विरए उवेइ॥

पूजा-प्रतिष्ठा में उन्नत और गर्हा मे अवनत न होने वाला महर्षि पूजा और गर्हा में लिप्त न हो। वह समभावी विरत संयमी सरलता को स्वीकार करके निर्वाण-मार्ग को प्राप्त होता है।

२१. अरइरइसहे पहीणसंथवे
विरए आयहिए पहाणवं।
परमट्ठपएहिं चिट्ठई
छिन्नसोए अममे अकिंचणे॥

जो अरति और रति को सहन करता है, संसारी जनों के परिचय से दूर रहता है, विरक्त है, आत्म-हित का साधक है, प्रधानवान् है—संयमशील है, शोक रहित है, ममत्व रहित है, अकिंचन है, वह परमार्थ पदों में—सम्यग् दर्शनादि मोक्ष-साधनों में स्थित होता है।

२२. विवित्तलयणाइ भएज्ज ताई
निरोवलेवाइ असंथडाइं।
इसीहि चिण्णाइ महायसेहिं
काएण फासेज्ज परीसहाइं॥

त्रायी—प्राणिरक्षा करने वाला मुनि महान् यशस्वी ऋषियों द्वारा स्वीकृत, लेपादि कर्म से रहित, असंसृत—बीजादि से रहित, विविक्त लयन—एकान्त स्थानों का सेवन करे और परीषहों को सहन करे।

२३. सन्नाणनाणोवगए महेसी
अणुत्तरं चरिउं धम्मसंचयं।
अणुत्तरेनाणधरे जसंसी
ओभासई सूरिए वऽन्तलिक्खे ॥

अनुत्तर धर्म-संचय का आचरण करके सद्ज्ञान से ज्ञान को प्राप्त करने वाला, अनुत्तर ज्ञानधारी, यशस्वी महर्षि, अन्तरिक्ष में सूर्य की भाँति धर्म-संघ में प्रकाशमान होता है।

२४. दुविहं खवेऊण य पुण्णपावं
निरंगणे सव्वओ विप्पमुक्के।
तरित्ता समुद्दं व महाभवोघं
समुद्दपाले अपुणागमं गए ॥

समुद्रपाल मुनि पुण्यपाप (शुभ-अशुभ) दोनों ही कर्मों का क्षय करके संयम में निरंगन—निश्चल, और सब प्रकार से मुक्त होकर समुद्र की भाँति विशाल संसार-प्रवाह को तैर कर मोक्ष में गए।

—त्ति बेमि ॥

—ऐसा मैं कहता हूँ।

२२

रथनेमीय

पशुओं की करुण चीत्कार ने अरिष्टनेमि के मार्ग को बदला।
राजीमती की विवेकपूर्ण वाणी ने रथनेमि को बदला।

एक समय व्रज-मण्डल के सोरियपुर (शौर्यपुर) में राजा समुद्रविजय राज्य करते थे। अरिष्टनेमि, रथनेमि, सत्यनेमि और दृढनेमि-ये चारों समुद्र-विजय के पुत्र थे। 'वसुदेव' समुद्रविजय के सबसे छोटे भाई थे। उनके पुत्र थे—कृष्ण और बलराम।

प्रतिवासुदेव जरासन्ध के आक्रमण के कारण व्रज मण्डल को छोड़कर यादव जाति के ये सब क्षत्रिय सौराष्ट्र पहुँचे और वहाँ द्वारिका नगरी का निर्माण कर एक विशाल साम्राज्य की नींव डाली। राज्य के नेता श्री कृष्ण वासुदेव हुए।

अरिष्टनेमि महान् तेजस्वी प्रतिभासम्पन्न युवक थे, किन्तु भोगवासना से विरक्त थे। वसुदेव के पुत्र श्री कृष्ण के समझाने पर अरिष्टनेमि ने विवाह करना स्वीकार किया। भोजकुल के राजा उग्रसेन की पुत्री राजीमती के साथ विवाह होना निश्चित हुआ। कृष्ण वासुदेव बहुत बड़ी बारात के साथ अरिष्टनेमि को लेकर राजा उग्रसेन की राजधानी में विवाह मण्डप के निकट पहुँचे। अरिष्टनेमि को विवाह की खुशी में बजाए जाने वाले अनेक वाद्यों के तीव्र निनाद (कोलाहल) में भी बाड़ों और पिंजरों में अवरुद्ध पशु-पक्षियों का करुण-क्रन्दन सुनाई पड़ा। अपने सारथी से पूछा—"ये पशु-पक्षी क्यों बन्द कर रखे हैं ?" सारथी ने बंधे हुए पशुओं की ओर संकेत करके कहा—"महाराज। आपके विवाह के उपलक्ष में भोज दिया जाएगा न। उसी के लिए इन हजारों

पशु-पक्षियों को बन्द कर रखा है। मृत्यु के भय से संत्रस्त ये सब चीत्कार कर रहे हैं।"

अरिष्टनेमि ने यह सुना तो आगे नहीं जा सके। करुणा के अवतार ने सारथी को आज्ञा दी, सब पशु-पक्षी छोड़ दिए गए। विवाह को बीच में ही छोड़कर वापिस लौट आए।

करुणा के सागर विरक्त अरिष्टनेमि तदनन्तर मुनि बन गए।

उक्त घटना से राजीमती सहसा मूर्छित हो गई। माता-पिता ने और सखी-सहेलियों ने बहुत समझाया। किसी दूसरे राजकुमार से विवाह का प्रस्ताव भी रखा। किन्तु अरिष्टनेमि के महान् वैराग्य की बात सुनकर वह भी संसार से विरक्त हो गई थी। इस बीच अरिष्टनेमि के भाई रथनेमि राजीमती के पास गए और विवाह का प्रस्ताव रखा। राजीमती ने इन्कार कर दिया। रथनेमि भी साधु बन गए।

राजीमती अनेक राजकन्याओं के साथ दीक्षित हुई। वे सभी मिलकर भगवान् अरिष्टनेमि को वंदन करने के लिए रैवतक पर्वत पर जा रही थी। अचानक जोर की वर्षा ने सभी को सुरक्षित स्थान खोजने के लिए विवश कर दिया। सब इधर-उधर तितर-बितर हो गईं। राजीमती एक गुफा में पहुँची, जहाँ रथनेमि ध्यान में लीन खड़े थे। रथनेमि ने राजीमती को देखा। उसने पुनः विवाह की बात को दुहराया। राजीमती ने स्पष्ट कहा—"रथनेमि! मैं तुम्हारे ही भाई की परित्यक्ता हूँ। और तुम मुझसे विवाह करना चाहते हो? क्या यह वमन किये को फिर चाटने के समान घृणास्पद नहीं है? तुम अपने और मेरे कुल के गौरव को स्मरण करो! इस प्रकार के अघटित प्रस्ताव को रखते हुए तुम्हें लज्जा आनी चाहिए।"

राजीमती की बात से रथनेमि को अपनी भूल समझ में आई। अंकुश द्वारा जैसे मत्त हाथी वश में आ जाता है, शान्त-भाव से अपने पथ पर चल पड़ता है, वैसे ही रथनेमि भी राजीमती के बोध-वचनों से स्वस्थ होकर पुनः अपने संयम-पथ पर आरूढ़ हो गया।

प्रस्तुत अध्ययन में पूर्व कथा के बाद रथनेमि को राजीमती के द्वारा दिया गया बोध संकलित है। बोध इतना प्रभावक है कि पथभ्रष्ट होते साधक को विवेक-मूलक प्रेरणा देता है, सावधान करता है। राजीमती का यह बोध इतना दीप्तिमान् है कि जैसे आज ही दिया गया है। यह वह शाश्वत सत्य है, जो कभी धूमिल नहीं होगा।

●

बाइसमं अज्झयणं : द्वाविंश अध्ययन
रहनेमिज्जं : रथनेमीय

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. सोरियपुरंमि नयरे आसि राया महिड्ढिए । वसुदेवे त्ति नामेणं राय — लक्खण—संजुए ॥	सोरियपुर नगर में राज-लक्षणों से युक्त, महान् ऋद्धि से संपन्न 'वसुदेव' नाम का राजा था ।
२. तस्स भज्जा दुवे आसी रोहिणी देवई तहा । तासिं दोण्हं पि दो पुत्ता इट्ठा य राम-केसवा ॥	उसकी रोहिणी और देवकी नामक दो पत्नियाँ थीं । उन दोनों के राम (बलदेव) और केशव (कृष्ण)—दो प्रिय पुत्र थे ।
३. सोरियपुरंमि नयरे आसी राया महिड्ढिए । समुद्दविजए नामं राय — लक्खण—संजुए ॥	सोरियपुर नगर में राज-लक्षणों से युक्त, महान् ऋद्धि से संपन्न 'समुद्रविजय' नाम का राजा भी था ।
४. तस्स भज्जा सिवा नाम तीसे पुत्तो महायसो । भगवं अरिट्ठनेमि त्ति लोगनाहे दमीसरे ॥	उसकी शिवा नाम की पत्नी थी, जिसका पुत्र महान् यशस्वी, जितेन्द्रियों में श्रेष्ठ, लोकनाथ, भगवान् अरिष्टनेमि था ।
५. सोऽरिट्ठनेमि - नामो उ लक्खणस्सर - संजुओ । अट्ठ सहस्सलक्खणधरो गोयमो कालगच्छवी ॥	वह अरिष्टनेमि स्वर के सुस्वरत्व एवं गम्भीरता आदि लक्षणों से युक्त था । एक हजार आठ शुभ लक्षणों का धारक भी था । उसका गोत्र गौतम था और वह वर्ण से श्याम वर्ण था ।

६. वज्जरिसहसंघयणो
समचउरंसो झसोयरो ।
तस्स राईमइं कन्नं
भज्जं जायइ केसवो ॥

वह वज्रऋषभ नाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थान वाला था । उसका उदर मछली के उदर जैसा कोमल था । राजीमती कन्या उसकी भार्या बने, (राजा उग्रसेन से) यह याचना केशव ने की ।

७. अह सा रायवर-कन्ना
सुसीला चारुपेहिणी ।
सव्वलक्खणसंपन्ना
विज्जुसोयामणिप्पभा ॥

वह महान राजा की कन्या सुशील, सुन्दर, सर्वलक्षणसंपन्न थी । उसके शरीर की कान्ति विद्युत् की प्रभा के समान थी ।

८. अहाह जणओ तीसे
वासुदेवं महिड्ढियं ।
इहागच्छऊ कुमारो
जा से कन्नं ददामि हं ॥

उसके पिता ने (उग्रसेन ने) महान् ऋद्धिशाली वासुदेव को कहा—"कुमार यहाँ आए । मैं अपनी कन्या उसके लिए दे सकता हूँ" ।

९. सव्वोसहीहि ण्हविओ
कयकोउयमंगलो ।
दिव्वजुयलपरिहिओ
आभरणेहिं विभूसिओ ॥

अरिष्टनेमि को सर्व औषधियों के जल से स्नान कराया गया । यथाविधि कौतुक एवं मंगल किए गए । दिव्य वस्त्र-युगल पहनाया गया और उसे आभरणों से विभूषित किया गया ।

१०. मत्तं च गन्धहत्थिं
वासुदेवस्स जेट्ठगं ।
आरूढो सोहए अहियं
सिरे चूडामणी जहा ॥

वासुदेव के सबसे बड़े मत्त गन्धहस्ती पर अरिष्टनेमि आरूढ हुए तो सिर पर चूडामणि की भाँति बहुत अधिक सुशोभित हुए ।

११. अह ऊसिएण छत्तेण
चामराहि य सोहिए ।
दसारचक्केण य सो
सव्वओ परिवारिओ ॥

अरिष्टनेमि ऊँचे छत्र से तथा चामरों से सुशोभित था । दशार्ह-चक्र से—यदुवंशी सुप्रसिद्ध क्षत्रियों के समूह से वह सर्वतः परिवृत था ।

१२. चउरंगिणीए सेनाए
रइयाए जहक्कमं ।
तुरियाण सन्निनाएण
दिव्वेण गगणं फुसे ॥

चतुरंगिणी सेना यथाक्रम सजाई हुई थी । और वाद्यों का गगन-स्पर्शी दिव्य नाद हो रहा था ।

१३. एयारिसीए इड्ढीए
जुईए उत्तिमाए य।
नियगाओ भवणाओ
निज्जाओ वण्हिपुंगवो॥

ऐसी उत्तम ऋद्धि और उत्तम द्युति के साथ वह वृष्णि-पुंगव अपने भवन से निकला।

१४. अह सो तत्थ निज्जन्तो
दिस्स पाणे भयद्दुए।
वाडेहिं पंजरेहिं च
सन्निरुद्धे सुदुक्खिए॥

तदनन्तर उसने बाड़ों और पिंजरों में बन्द किए गए भयत्रस्त एवं अति दुःखित प्राणियों को देखा।

१५. जीवियन्तं तु संपत्ते
मंसट्ठा भक्खियव्वए।
पासेत्ता से महापन्ने
सारहिं इणमब्बवी॥

वे जीवन की अन्तिम स्थिति (मृत्यु) के सम्मुख थे। मांस के लिए खाये जाने वाले थे। उन्हें देखकर महाप्राज्ञ अरिष्टनेमि ने सारथि (पीलवान) को इस प्रकार कहा—

१६. कस्स अट्ठा इमे पाणा
एए सव्वे सुहेसिणो।
वाडेहिं पंजरेहिं च
सन्निरुद्धा य अच्छहिं?

—"ये सब सुखार्थी प्राणी किसलिए इन बाड़ों और पिंजरों में रोके हुए हैं?"

१७. अह सारही तओ भणइ
एए भद्दा उ पाणिणो।
तुज्झं विवाहकज्जंमि
भोयावेउं बहुं जणं॥

सारथि ने कहा—"ये भद्र प्राणी आपके विवाह-कार्य में बहुत से लोगों को मांस खिलाने के लिए हैं"।

१८. सोऊण तस्स वयणं
बहुपाणि — विणासणं।
चिन्तेइ से महापन्ने
साणुक्कोसे जिएहि उ॥

अनेक प्राणियों के विनाश से सम्बन्धित वचन को सुनकर जीवों के प्रति करुणाशील, महाप्राज्ञ अरिष्टनेमि इस प्रकार चिन्तन करते हैं—

१९. जइ मज्झ कारणा एए
हम्मिहिंति बहू जिया।
न मे एयं तु निस्सेसं
परलोगे भविस्सई॥

—"यदि मेरे निमित्त से इन बहुत से प्राणियों का वध होता है, तो यह परलोक में मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं होगा।"

२०. सो कुण्डलाण जुयलं
सुत्तगं च महायसो।
आभरणाणि य सव्वाणि
सारहिस्स पणामए॥

उस महान यशस्वी ने कुण्डल-युगल, सूत्रक—करधनी और अन्य सब आभूषण उतार कर सारथि को दे दिए।

२१. मणपरिणामे य कए
देवा य जहोइयं समोइण्णा।
सव्वड्ढीए सपरिसा
निक्खमणं तस्स काउं जे॥

मन में ये परिणाम—भाव होते ही उनके यथोचित अभिनिष्क्रमण के लिए देवता अपनी ऋद्धि और परिषद् के साथ आए।

२२. देव-मणुस्सपरिवुडो
सीयारयणं तओ समारूढो।
निक्खमिय बारगाओ
रेवययंमि ट्ठिओ भगवं॥

देव और मनुष्यों से परिवृत भगवान् अरिष्टनेमि शिबिकारत्न—श्रेष्ठ पालखी में आरूढ हुए। द्वारका से चल कर रैवतक (गिरनार) पर्वत पर स्थित हुए।

२३. उज्जाणं संपत्तो
ओइण्णो उत्तिमाओ सीयाओ।
साहस्सीए परिवुडो
अह निक्खमई उ चित्ताहिं॥

उद्यान में पहुंचकर, उत्तम शिबिका से उतरकर, एक हजार व्यक्तियों के साथ, भगवान ने चित्रा नक्षत्र में निष्क्रमण किया।

२४. अह से सुगन्धगन्धिए
तुरियं मउयकुंचिए।
सयमेव लुंचई केसे
पंचमुट्ठीहिं समाहिओ॥

तदनन्तर समाहित — समाधिसंपन्न अरिष्टनेमि ने तुरन्त अपने सुगन्ध से सुवासित कोमल और घुंघराले बालों का स्वयं अपने हाथों से पंचमुष्टि लोच किया।

२५. वासुदेवो य णं भणइ
लुत्तकेसं जिइन्दियं।
इच्छियमणोरहे तुरियं
पावेसु तं दमीसरा॥

वासुदेव कृष्ण ने लुप्तकेश एवं जितेन्द्रिय भगवान् को कहा—"हे दमीश्वर! तुम अपने अभीष्ट मनोरथ को शीघ्र प्राप्त करो।"

२६. नाणेणं दंसणेणं च
चरित्तेण तहेव य।
खन्तीए मुत्तीए
वड्ढमाणो भवाहि य॥

—"तुम ज्ञान, दर्शन, चारित्र, क्षान्ति—क्षमा और मुक्ति—निर्लोभता के द्वारा आगे बढ़ो"।

२७. एवं ते रामकेसवा
दसारा य बहू जणा ।
अरिट्ठणेमिं वन्दित्ता
अइगया बारगापुरिं ॥

इस प्रकार बलराम, केशव, दशार्ह यादव और अन्य बहुत से लोग अरिष्टनेमि को वन्दना कर द्वारकापुरी को लौट आए ।

२८. सोऊण रायकन्ना
पव्वज्जं सा जिणस्स उ ।
नीहासा य निराणन्दा
सोगेण उ समुत्थया ॥

भगवान् अरिष्टनेमि की प्रव्रज्या को सुनकर राजकन्या राजीमती के हास्य (हँसी, प्रसन्नता) और आनन्द सब समाप्त हो गए । और वह शोकसे मूर्च्छित हो गई ।

२९. राईमई विचिन्तेइ
धिरत्थु मम जीवियं ।
जा ऽहं तेण परिच्चत्ता
सेयं पव्वइउं मम ॥

राजीमती ने सोचा—"धिक्कार है मेरे जीवन को । चूँकि मैं अरिष्टनेमि के द्वारा परित्यक्ता हूँ, अतः मेरा प्रव्रजित होना ही श्रेय है ।"

३०. अह सा भमरसन्निभे
कुच्च—फणग—पसाहिए ।
सयमेव लुंचई केसे
धिइमन्ता ववस्सिया ॥

धीर तथा कृतसंकल्प राजीमती ने कूर्च और कंघी से सँवारे हुए भौंरे जैसे काले केशों का अपने हाथों से लुंचन किया ।

३१. वासुदेवो य णं भणइ
लुत्तकेसं जिइन्दियं ।
संसारसागरं घोरं
तर कन्ने ! लहुं लहुं ॥

वासुदेव ने लुप्त-केशा एवं जितेन्द्रिय राजीमती को कहा—"कन्ये ! तू इस घोर संसार-सागर को अति शीघ्र पार कर ।"

३२. सा पव्वइया सन्ती
पव्वावेसी तहिं बहुं ।
सयणं परियणं चेव
सीलवन्ता बहुस्सुया ॥

शीलवती एवं बहुश्रुत राजीमती ने प्रव्रजित होकर अपने साथ बहुत से स्वजनों तथा परिजनों को भी प्रव्रजित कराया ।

३३. गिरिं रेवययं जन्ती
वासेणुल्ला उ अन्तरा ।
वासन्ते अन्धयारंमि
अन्तो लयणस्स सा ठिया ॥

वह रैवतक पर्वत पर जा रही थी कि बीच में ही वर्षा से भीग गई । जोर की वर्षा हो रही थी, अन्धकार छाया हुआ था । इस स्थिति में वह गुफा के अन्दर पहुँची ।

३४. चीवराइं विसारन्ती
जहा जाय त्ति पासिया।
रहनेमी भग्गचित्तो
पच्छा दिट्ठो य तीइ वि ॥

सुखाने के लिए अपने चीवरों—वस्त्रों को फैलाती हुई राजीमती को यथाजात (नग्न) रूप में रथनेमि ने देखा। उसका मन विचलित हो गया। पश्चात् राजीमती ने भी उसको देखा।

३५. भीया य सा तहिं दट्ठुं
एगन्ते संजयं तयं।
बाहाहिं काउं संगोफं
वेवमाणी निसीयई ॥

वहाँ एकान्त में उस संयत को देख कर वह डर गई। भय से काँपती हुई वह अपनी दोनों भुजाओं से शरीर को आवृत कर बैठ गई।

३६. अह सो वि रायपुत्तो
समुद्दविजयंगओ।
भीयं पवेवियं दट्ठुं
इमं वक्कं उदाहरे ॥

तब समुद्रविजय के अंगजात उस राजपुत्र ने राजीमती को भयभीत और काँपती हुई देखकर इस प्रकार वचन कहा—

रथनेमि—

३७. रहनेमी अहं भद्दे !
सुरूवे ! चारुभासिणि !।
ममं भयाहि सुयणू !
न ते पीला भविस्सई ॥

—"भद्रे ! मैं रथनेमि हूँ। हे सुन्दरी ! हे चारुभाषिणी ! तू मुझे स्वीकार कर। हे सुतनु ! तुझे कोई पीड़ा नहीं होगी।"

३८. एहि ता भुंजिमो भोए
माणुस्सं खु सुदुल्लहं।
भुत्तभोगा तओ पच्छा
जिणमग्गं चरिस्समो ॥

—"निश्चित ही मनुष्य-जन्म अत्यन्त दुर्लभ है। आओ, हम भोगों को भोगें। बाद में भुक्तभोगी हम जिन-मार्ग में दीक्षित होंगे।"

३९. दट्ठूण रहनेमिं तं
भग्गुज्जोयपराइयं।
राईमई असम्भन्ता
अप्पाणं संवरे तहिं ॥

संयम के प्रति भग्नोद्योग—उत्साह-हीन तथा भोग-वासना से पराजित रथ-नेमि को देखकर वह सम्भ्रान्त न हुई—घबराई नहीं। उसने वस्त्रों से अपने शरीर को पुनः ढँक लिया।

४०. अह सा रायवरकन्ना
सुट्ठिया नियम-व्वए।
जाइं कुलं च सीलं च
रक्खमाणी तयं वए ॥

नियमों और व्रतों में सुस्थित—अविचल रहने वाली श्रेष्ठ राजकन्या राजीमती ने जाति, कुल और शील की रक्षा करते हुए रथनेमि से कहा—

राजीमती—

४१. जइ सि रूवेण वेसमणो
ललिएण नलकूबरो।
तहा वि ते न इच्छामि
जइ सि सक्खं पुरन्दरो॥

—"यदि तू रूप से वैश्रमण के समान है, ललित कलाओं से नलकुबर के समान है, और तो क्या, तू साक्षात् इन्द्र भी है, तो भी मैं तुझे नहीं चाहती हूं।"

४२. पक्खंदे जलियं जोइं
धूमकेउं दुरासयं।
नेच्छन्ति वंतयं भोत्तुं
कुले जाया अगंधणे॥

—"अगन्धन कुल में उत्पन्न हुए सर्प धूम की ध्वजा वाली, प्रज्वलित, भयंकर, दुष्प्रवेश अग्नि में प्रवेश कर जाते हैं, किन्तु वमन किए हुए अपने विष को पुनः पीने की इच्छा नहीं करते हैं।"

४३. धिरत्थु ते जसोकामी !
जो तं जीवियकारणा।
वन्तं इच्छसि आवेउं
सेयं ते मरणं भवे॥

—"हे यशःकामिन् ! धिक्कार है तुझे कि तू भोगी जीवन के लिए वान्त—त्यक्त भोगों को पुनः भोगने की इच्छा करता है। इससे तो तेरा मरना श्रेयस्कर है।"

४४. अहं च भोयरायस्स
तं च सि अन्धगवण्हिणो।
मा कुले गन्धणा होमो
संजमं निहुओ चर॥

—"मैं भोजराजा की पौत्री हूं और तू अन्धक-वृष्णि का पौत्र है। हम कुल में गन्धन सर्प की तरह न बनें। तू निभृत (स्थिर) होकर संयम का पालन कर।"

४५. जइ तं काहिसि भावं
जा जा दिच्छसि नारिओ।
वायाविद्धो व्व हढो
अट्ठिअप्पा भविस्ससि॥

—"यदि तू जिस किसी स्त्री को देखकर ऐसे ही राग-भाव करेगा, तो वायु से कम्पित हड (वनस्पति विशेष) की तरह तू अस्थितात्मा होगा।"

४६. गोवालो भण्डवालो वा
जहा तद्दव्वऽणिस्सरो।
एवं अणिस्सरो तं पि
सामण्णस्स भविस्ससि॥

—"जैसे गोपाल और भाण्डपाल उस द्रव्य के—गायों और किराने आदि के स्वामी नहीं होते हैं, उसी प्रकार तू भी श्रामण्य का स्वामी नहीं होगा।"

४७. कोहं माणं निगिण्हित्ता
मायं लोभं च सव्वसो।
इन्दियाइं वसे काउं
अप्पाणं उवसंहरे॥

—"तू क्रोध, मान, माया और लोभ को पूर्णतया निग्रह करके, इन्द्रियों को वश में करके अपने-आप को उपसंहार कर—अनाचार से निवृत्त कर।"

४८. तीसे सो वयणं सोच्चा
संजयाए सुभासियं ।
अंकुसेण जहा नागो
धम्मे संपडिवाइओ ॥

उस संयता के सुभाषित वचनों
सुनकर रथनेमि धर्म में सम्यक् प्रकार
वैसे ही स्थिर हो गया, जैसे अंकुश
हाथी हो जाता है ।

४९. मणगुत्तो वयगुत्तो
कायगुत्तो जिइन्दिओ ।
सामण्णं निच्चलं फासे
जावज्जीवं दढव्वओ ॥

वह मन, वचन और काया से गुप्त
जितेन्द्रिय और व्रतों में दृढ़ हो गया
जीवन-पर्यन्त निश्चल भाव से श्रामण्य व
पालन करता रहा ।

५०. उग्गं तवं चरित्ताणं
जाया दोण्णि वि केवली ।
सव्वं कम्मं खवित्ताणं
सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं ॥

उग्र तप का आचरण करके दोनों ह
केवली हुए । सब कर्मों का क्षय करं
उन्होंने अनुत्तर 'सिद्धि' को प्राप्त किया

५१. एवं करेन्ति संबुद्धा
पण्डिया पवियक्खणा ।
विणियट्टन्ति भोगेसु
जहा सो पुरिसोत्तमो ॥

—त्ति बेमि ।

सम्बुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण पुरु
ऐसा ही करते हैं । पुरुषोत्तम रथनेमि
की तरह वे भोगों से निवृत्त हो जाते हैं ।

—ऐसा मैं कहता हूं ।

२३

केशि-गौतमीय

भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा
का
भगवान् महावीर की परम्परा में अवतरण ।

कुमार श्रमण केशी, भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के चतुर्थ पट्टधर शिष्य थे। गौतम, भगवान् महावीर के संघ के प्रथम गणधर थे। दोनों ही महान् ज्ञानी, उदार और व्यवहार-कुशल थे। एक बार दोनों ही अपने-अपने शिष्य संघ के साथ श्रावस्ती में आए। भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर की परम्पराओं में कुछ बातों को लेकर आचार-भेद और विचार-भेद था। ज्यों ही दोनों के शिष्य एक-दूसरे के परिचय में आए तो उनके मन में प्रश्न खड़ा हुआ कि "एक ही लक्ष्य की साधना में यह भेद क्यों है?"

'केशी कुमार भगवान् पार्श्वनाथ की पुरानी परम्परा के प्रतिनिधि है, अतः परम्परा के नाते वे मुझ से बड़े हैं'—यह सोचकर गौतम अपने शिष्यों के साथ तिन्दुक उद्यान में आए, जहाँ केशी कुमार श्रमण ठहरे हुए थे। महाप्राज्ञ गौतम का केशी कुमार ने योग्य स्वागत किया।

केशी कुमार ने गौतम से पूछा—"जबकि हम सभी का लक्ष्य एक है, तब हमारी साधना में इतनी विभिन्नता क्यों है? कोई सचेलक है, कोई अचेलक है। कोई चातुर्याम संवर धर्म को मान रहा है, कोई पंचयाम को। हमारी मान्यताओं और धारणाओं में उक्त विविधता का क्या रहस्य है?"

गौतम ने समादर के साथ कहा—"भन्ते! हमारा मूल लक्ष्य एक है, इसमें कोई संदेह नहीं है। जो विविधता नजर आ रही है, वह समय की बदलती हुई गति के कारण आई है। लोगों के कालानुसारी परिवर्तित होने

वाले स्वभाव और विचार के कारण आई है। बाह्याचार और वेष का केवल लोक-प्रतीति ही प्रयोजन है। मुक्ति के वास्तविक साधन तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही हैं।"

—"भगवान् पार्श्वनाथ और उनसे भी पहले के समय के लोग प्रकृति से सरल थे, साथ ही प्राज्ञ भी थे, अतः वे आसानी से बात समझ लेते थे और मान लेते थे; इसलिए नियमों की संख्या कम थी। सहज जीवन था, साधना भी सहज थी। अतः अचेल और सचेल का प्रश्न तब नहीं था। किन्तु आज लोगों के स्वभाव बदल गए हैं। वे सहज सरल नहीं रहे हैं। बहुत जटिल हो गये हैं। उनके लिए साधुता की स्मृति को बनाए रखने के लिए विशिष्ट उपकरणों की परिकल्पना की है। संघ व्यवस्थित साधना कर सके, इसके लिए नियमों को व्यवस्थित करना आवश्यक हो गया है। भगवान् महावीर धर्म-साधना का देश-कालानुसार व्यावहारिक विशुद्ध रूप प्रस्तुत कर रहे हैं। अतः भगवान् महावीर आज के घोर अंधकार में दिव्य प्रकाश हैं।"

केशी कुमार गौतम के समाधान से प्रसन्न हुए। उनके संशय मिट गए। उन्होंने कृतज्ञता प्रकट की, गौतम को वंदन किया। और भगवान् महावीर की संघव्यवस्था एवं शासन-व्यवस्था को देश-काल की परिस्थिति के अनुरूप मानकर चतुर्याम से पंचयाम साधना स्वीकार की। इस प्रकार पार्श्वनाथ के अनेक शिष्यों ने भगवान् महावीर के संघ में शरण ग्रहण की।

भगवान् महावीर ने केशी कुमार के सचेलक संघ को अपने संघ में बराबर का स्थान दिया। दोनों ने बदलती स्थितियों के महत्त्व को स्वीकार किया। वस्तुतः समदर्शी तत्त्वद्रष्टाओं का मिलन अर्थंकर होता है। वह जन-चिन्तन को सही मोड़ देता है, जिससे विकास का पथ निर्बाध होता है।

प्रस्तुत अध्ययन में केशी-गौतम का संवाद बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यह युग-युग के सघन संशयों एवं उलझे विकल्पों का सही समाधान उपस्थित करता है। इस प्रकार के पक्षमुक्त समत्वलक्षी परिसंवादों से ही श्रुत एवं शील का समुत्कर्ष होता है, महान् तत्त्वों के अर्थ का विशिष्ट निश्चय होता है, जैसा कि अध्ययन के उपसंहार में कहा है—

"सुय-सीलसमुक्करिसो,
महत्थऽत्थविणिच्छओ।"

तेविसइमं अज्झयणं : त्रयोविंश अध्ययन

केसिगोयमिज्जं : केशि-गौतमीय

मूल / **हिन्दी अनुवाद**

१. जिणे पासे त्ति नामेण
अरहा लोगपूइओ।
संबुद्धप्पा य सव्वन्नू
धम्मतित्थयरे जिणे ॥

पार्श्व नामक जिन, अर्हन्, लोकपूजित सम्बुद्धात्मा, सर्वज्ञ, धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक और वीतराग थे।

२. तस्स लोगपईवस्स
आसि सीसे महायसे।
केसीकुमार — समणे
विज्जा-चरण — पारगे ॥

लोक-प्रदीप भगवान् पार्श्व के विद्या—ज्ञान और चरण—चारित्र के पारगामी, महान यशस्वी 'केशीकुमार-श्रमण' शिष्य थे।

३. ओहिनाण-सुंए बुद्धे
सीससंघ — समाउले।
गामाणुगामं रीयन्ते
सावत्थिं नगरिमागए ॥

वे अवधि-ज्ञान और श्रुत-ज्ञान से प्रबुद्ध थे। शिष्य-संघ से परिवृत ग्रामानुग्राम विहार करते हुए श्रावस्ती नगरी में आए।

४. तिन्दुयं नाम उज्जाणं
तम्मी नगरमण्डले।
फासुए सिज्जसंथारे
तत्थ वासमुवागए ॥

नगर के निकट तिन्दुक नामक उद्यान में, जहाँ प्रासुक—जीव-जन्तुरहित निर्दोष शय्या (मकान) और संस्तारक पीठ-फलकादि आसन) सुलभ थे, ठहर गए।

५. अह तेणेव कालेणं
धम्मतित्थयरे जिणे।
भगवं वद्धमाणो त्ति
सव्वलोगम्मि विस्सुए ॥

उसी समय धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक, जिन, भगवान वर्द्धमान थे, जो समग्र लोक में प्रख्यात थे।

६. तस्स लोगपईवस्स
आसि सीसे महायसे ।
भयवं गोयमे नामं
विज्जा — चरणपारगे ॥

उस लोक-प्रदीप भगवान् वर्द्धमान के विद्या और चारित्र के पारगामी, महान् यशस्वी भगवान् गौतम शिष्य थे ।

७. बारसंगविऊ बुद्धे
सीस-संघ-समाउले ।
गामाणुगामं रीयन्ते
से वि सावत्थिमागए ॥

बारह अंगों के वेत्ता, प्रबुद्ध गौतम भी शिष्य-संघ से परिवृत ग्रामानुग्राम विहार करते हुए श्रावस्ती नगरी में आए ।

८. कोट्ठगं नाम उज्जाणं
तम्मी नयरमण्डले ।
फासुए सिज्जसंथारे
तत्थ वासमुवागए ॥

नगर के निकट कोष्ठक-उद्यान में, जहाँ प्रासुक शय्या, एवं संस्तारक सुलभ थे, ठहर गए ।

९. केसीकुमार — समणे
गोयमे य महायसे ।
उभओ वि तत्थ विहरिंसु
अल्लीणा सुसमाहिया ॥

कुमारश्रमण केशी और महान् यशस्वी गौतम—दोनों वहाँ विचरते थे । दोनों ही आलीन—आत्म-लीन और सुसमाहित—सम्यक् समाधि से युक्त थे ।

१०. उभओ सीससंघाणं
संजयाणं तवस्सिणं ।
तत्थ चिन्ता समुप्पन्ना
गुणवन्ताण ताइणं ॥

संयत, तपस्वी, गुणवान् और षट्-काय के संरक्षक दोनों शिष्य-संघों मे यह चिन्तन उत्पन्न हुआ—

११. केरिसो वा इमो धम्मो ?
इमो धम्मो व केरिसो ? ।
आयारधम्मपणिही
इमा वा सा व केरिसी ? ॥

—"यह कैसा धर्म है ? और यह कैसा धर्म है ? आचार धर्म की प्रणिधि—व्यवस्था यह कैसी है और यह कैसी है ?"

१२. चाउज्जामो य जो धम्मो
जो इमो पंचसिक्खिओ ।
देसिओ वद्धमाणेण
पासेण य महामुणी ॥

—"यह चातुर्याम धर्म है, इसका प्रतिपादन महामुनि पार्श्वनाथ ने किया है । और यह पंच-शिक्षात्मक धर्म है, इसका महामुनि वर्द्धमान ने प्रतिपादन किया है ।"

१३. अचेलगो य जो धम्मो
जो इमो सन्तरुत्तरो ।
एगकज्ज — पवन्नाणं
विसेसे किं नु कारणं ? ॥

—"यह अचेलक (अवस्त्र) धर्म वर्धमान ने बताया है, और यह सान्तरोत्तर (सान्तर—वर्ण आदि से विशिष्ट तथा उत्तर—मूल्यवान् वस्त्र वाला) धर्म पार्श्वनाथ ने प्ररूपित किया है। एक ही कार्य—लक्ष्य से प्रवृत्त दोनों में इस विशेष भेद का क्या कारण है ?"

१४. अह ते तत्थ सीसाणं
विन्नाय पवितक्कियं ।
समागमे कयमई
उभओ केसि-गोयमा ॥

केशी और गौतम दोनों ने ही शिष्यों के प्रवितर्कित—शंकायुक्त विचार विमर्श को जानकर परस्पर मिलने का विचार किया ।

१५. गोयमे पडिरूवन्नू
सीससंघ — समाउले ।
जेट्ठं कुलमवेक्खन्तो
तिन्दुयं वणमागओ ॥

केशी श्रमण के कुल को ज्येष्ठ कुल जानकर प्रतिरूपज्ञ—यथोचित विनय व्यवहार के ज्ञाता गौतम शिष्य-संघ के साथ तिन्दुक वन में आए ।

१६. केसीकुमार — समणे
गोयमं दिस्समागयं ।
पडिरूवं पडिवत्तिं
सम्मं संपडिवज्जई ॥

गौतम को आते हुए देखकर केशी कुमार श्रमण ने उनकी सम्यक् प्रकार से प्रतिरूप प्रतिपत्ति—योग्य आदर-सत्कार किया ।

१७. पलालं फासुयं तत्थ
पंचमं कुसतणाणि य ।
गोयमस्स निसेज्जाए
खिप्पं संपणामए ॥

गौतम को बैठने के लिए शीघ्र ही उन्होंने प्रासुक पयाल (व्रीहि आदि चार प्रकार के धानों के पयाल-डंठल) और पाँचवाँ कुश-तृण समर्पित किया ।

१८. केसीकुमार — समणे
गोयमे य महायसे ।
उभओ निसण्णा सोहन्ति
चन्द-सूर-समप्पभा ॥

श्रमण केशीकुमार और महान् यशस्वी गौतम—दोनों बैठे हुए चन्द्र और सूर्य की तरह सुशोभित हो रहे थे ।

१९. समागया बहू तत्थ
पासण्डा कोउगा मिगा ।
गिहत्थाणं अणेगाओ
साहस्सीओ समागया ॥

कौतूहल की अबोध दृष्टि से वहाँ दूसरे सम्प्रदायों के बहुत से पाषण्ड—परिव्राजक आए और अनेक सहस्र गृहस्थ भी ।

२०. देव-दाणव-गन्धव्वा
जक्ख-रक्खस-किन्नरा ।
अदिस्साणं च भूयाणं
आसी तत्थ समागमो ॥

देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर और अदृश्य भूतों का वहाँ एक तरह से समागम—मेला सा हो गया था।

२१. पुच्छामि ते महाभाग !
केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

केशी ने गौतम से कहा—"महाभाग ! मैं तुमसे कुछ पूछना चाहता हूँ।" केशीके यह कहने पर गौतम ने कहा—

२२. पुच्छ भन्ते ! जहिच्छं ते
केसिं गोयममब्बवी ।
तओ केसी अणुन्नाए
गोयमं इणमब्बवी ॥

—"भन्ते ! जैसी भी इच्छा हो !, पूछिए।

तदनन्तर अनुज्ञा पाकर केशी ने गौतम को इस प्रकार कहा—

२३. चाउज्जामो य जो धम्मो
जो इमो पंचसिक्खिओ ।
देसिओ वद्धमाणेण
पासेण य महामुणी ॥

—"यह चतुर्याम धर्म है। इसका महामुनि पार्श्वनाथ ने प्रतिपादन किया है। यह जो पंच-शिक्षात्मक धर्म है, उसका प्रतिपादन महामुनि वर्द्धमान ने किया है।"

२४. एगकज्जपवन्नाणं
विसेसे किं नु कारणं ? ।
धम्मे दुविहे मेहावि !
कहं विप्पच्चओ न ते ? ॥

—"मेधाविन् ! एक ही उद्देश्य को लेकर प्रवृत्त हुए हैं, तो फिर इस भेद का क्या कारण है ? इन दो प्रकार के धर्मों में तुम्हे विप्रत्यय—सन्देह कैसे नहीं होता ?"

२५. तओ केसिं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ।
पन्ना समिक्खए धम्मं
तत्तं तत्तविणिच्छयं ॥

केशी के कहने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—

—"तत्त्व का निर्णय जिसमें होता है, ऐसे धर्मतत्त्व की समीक्षा प्रज्ञा करती है।"

२६. पुरिमा उज्जुजडा उ
वंकजडा य पच्छिमा ।
मज्झिमा उज्जुपन्ना य
तेण धम्मे दुहा कए ॥

—"प्रथम तीर्थंकर के साधु ऋजु और जड़ होते हैं। अन्तिम तीर्थंकर के साधु वक्र और जड होते हैं। बीच के तीर्थंकरों के साधु ऋजु और प्राज्ञ होते हैं। अतः धर्म दो प्रकार से कहा है।"

२७. पुरिमाणं दुव्विसोज्झो उ
चरिमाणं दुरणुपालओ ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु
सुविसोज्झो सुपालओ ॥

—"प्रथम तीर्थंकर के मुनियों द्वारा कल्प—आचार को यथावत् ग्रहण कर लेना कठिन है। अन्तिम तीर्थंकर के मुनियों द्वारा कल्प को यथावत् ग्रहण करना और उसका पालन करना कठिन है। मध्यवर्ती तीर्थंकरों के मुनियों द्वारा कल्प को यथावत् ग्रहण करना और उसका पालन करना सरल है।"

केशीकुमार श्रमण—

२८. साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा ! ॥

—"गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह सन्देह दूर कर दिया। मेरा एक और भी संदेह है। गौतम ! उसके विषय में भी मुझे कहो।"

२९. अचेलगो य जो धम्मो
जो इमो सन्तरुत्तरो ।
देसिओ वद्धमाणेण
पासेण य महाजसा ।

—"यह अचेलक धर्म वर्द्धमान ने बताया है, और यह सान्तरोत्तर (वर्णादि से विशिष्ट एवं मूल्यवान् वस्त्र वाला) धर्म महायशस्वी पार्श्व ने प्रतिपादन किया है।"

३०. एगकज्जपवन्नाणं
विसेसे किं नु कारणं ? ।
लिंगे दुविहे मेहावि !
कहं विप्पच्चओ न ते ? ॥

—"एक ही कार्य—उद्देश्य से प्रवृत्त दोनों में भेद का कारण क्या है ? मेधावी! लिंग के इन दो प्रकारों में तुम्हें कैसे संशय नहीं होता है ?"

३१. केसिमेवं बुवाणं तु
गोयमो इणमब्बवी ।
विन्नाणेण समागम्म
धम्मसाहणमिच्छियं ॥

केशी के यह कहने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—"विज्ञान से—विशिष्ट ज्ञान से अच्छी तरह धर्म के साधनों—उपकरणों को जानकर ही उनकी अनुमति दी गई है।"

गणधर गौतम—

३२. पच्चयत्थं च लोगस्स
नाणाविहविगप्पणं ।
जत्तत्थं गहणत्थं च
लोगे लिंगप्पओयणं ॥

—"नाना प्रकार के उपकरणों की परिकल्पना लोगों की प्रतीति के लिए है। संयमयात्रा के निर्वाह के लिए, और 'मैं साधु हूँ'—यथाप्रसंग इसका बोध रहने के लिए ही लोक में लिंग का प्रयोजन है।"

३३. अह भवे पइन्ना उ
मोक्खसब्भूयसाहणे ।
नाणं च दंसणं चेव
चरित्तं चेव निच्छए ॥

—"वास्तव में दोनों तीर्थंकरों का एक ही सिद्धान्त है कि मोक्ष के वास्तविक साधन ज्ञान, दर्शन, और चारित्र ही हैं।"

केशीकुमार श्रमण—

३४. साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा ! ॥

—"गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह संदेह तो दूर कर दिया। मेरा एक और भी संदेह है। गौतम ! उस विषय में भी मुझे कहें।"

३५. अणेगाणं सहस्साणं
मज्झे चिट्ठसि गोयमा ! ।
ते य ते अहिगच्छन्ति
कहं ते निज्जिया तुमे ? ॥

—"गौतम ! अनेक सहस्र शत्रुओं के बीच में तुम खड़े हो। वे तुम्हें जीतना चाहते हैं। तुमने उन्हें कैसे जीता ?"

गणधर गौतम—

३६. एगे जिए जिया पंच
पंच जिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ताणं
सव्वसत्तू जिणामहं ॥

—"एक को जीतने से पाँच जीत लिए गए और पाँच को जीत लेने से दस जीत लिए गए। दसों को जीतकर मैंने सब शत्रुओं को जीत लिया।"

केशी कुमार श्रमण—

३७. सत्तू य इइ के वुत्ते ?
केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

—"गौतम ! वे शत्रु कौन होते है?" केशी ने गौतम को कहा।

केशी के यह पूछने पर गौतमने इस प्रकार कहा—

गणधर गौतम—

३८. एगप्पा अजिए सत्तू
कसाया इन्दियाणि य ।
ते जिणित्तु जहानायं
विहरामि अहं मुणी ! ॥

—"मुने ! न जीता हुआ एक अपना आत्मा ही शत्रु है। कषाय और इन्द्रियाँ भी शत्रु हैं। उन्हें जीतकर नीति के अनुसार मैं विचरण करता हूँ।"

केशीकुमार श्रमण—

३९. साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा ! ॥

—"गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह संदेह दूर किया। मेरा एक और भी संदेह है ! गौतम ! उस विषय में भी मुझे कहें।"

४०. दीसन्ति बहवे लोए
पासबद्धा सरीरिणो ।
मुक्कपासो लहुब्भूओ
कह तं विहरसी मुणी ॥

—"इस संसार में बहुत से जीव पाश से बद्ध हैं। मुने ! तुम बन्धन से मुक्त और लघुभूत—प्रतिबन्धरहित हलके होकर कैसे विचरण करते हो ?"

गणधर गौतम—

४१. ते पासे सव्वसो छित्ता
निहन्तूण उवायओ ।
मुक्कपासो लहुब्भूओ
विहरामि अहं मुणी ! ॥

"मुने ! उन बन्धनों को सब प्रकार से काट कर, उपायों से विनष्ट कर मैं बन्धन-मुक्त और हलका होकर विचरण करता हूं ।"

केशी कुमार श्रमण—

४२. पासा य इइ के वुत्ता ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

—"गौतम ! वे बन्धन कौनसे हैं ?" केशी ने गौतम को पूछा । केशी के पूछने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—

गणधर गौतम—

४३. रागद्दोसादओ तिव्वा
नेहपासा भयंकरा ।
ते छिन्दित्तु जहानायं
विहरामि जहक्कमं ।

—"तीव्र रागद्वेषादि और स्नेह भयंकर बन्धन हैं । उन्हें काट कर धर्म-नीति एवं आचार के अनुसार मैं विचरण करता हूं ।"

केशी कुमार श्रमण—

४४. साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा ! ॥

—"गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है । तुमने मेरा यह संदेह दूर किया । मेरा एक और भी संदेह है, गौतम ! उसके विषय में भी मुझे कहें ।"

४५. अन्तोहियय—संभूया
लया चिट्ठइ गोयमा ! ।
फलेइ विसभक्खीणि
सा उ उद्धरिया कहं ? ॥

—"गौतम ! हृदय के भीतर उत्पन्न एक लता है । उसको विष-तुल्य फल लगते हैं । उसे तुमने कैसे उखाड़ा ?"

गणधर गौतम—

४६. तं लयं सव्वसो छित्ता
उद्धरित्ता समूलियं ।
विहरामि जहानायं
मुक्को मि विसभक्खणं ॥

—"उस लता को सर्वथा काट कर एवं जड़ से उखाड़ कर नीति के अनुसार मैं विचरण करता हूं। अतः मैं विष-फल खाने से मुक्त हूं।"

केशी कुमार श्रमण—

४७. लया य इइ का वुत्ता ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

—"वह लता कौनसी है ?" केशी ने गौतम को कहा ।

केशी के पूछने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—

गणधर गौतम—

४८. भवतण्हा लया वुत्ता
भीमा भीमफलोदया ।
तमुद्धरित्तु जहानायं
विहरामि महामुणी ! ॥

—"भवतृष्णा ही भयंकर लता है। उसके भयंकर परिपाक वाले फल लगते है। हे महामुने ! उसे जड़ से उखाड़कर मैं नीति के अनुसार विचरण करता हूं।"

केशीकुमार श्रमण—

४९. साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा ! ॥

—"गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह संदेह दूर किया। मेरा एक और संदेह है। गौतम ! उसके विषय में भी मुझे कहें।"

५०. संपज्जलिया घोरा
अग्गी चिट्ठइ गोयमा ! ।
जे डहन्ति सरीरत्था
कहं विज्झाविया तुमे ? ॥

—"घोर प्रचण्ड अग्नियाँ प्रज्वलित हैं। वे शरीरस्थों—जीवों को जलाती हैं। उन्हें तुमने कैसे बुझाया ?"

गणधर गौतम—

५१. महामेहप्पसूयाओ
गिज्झ वारि जलुत्तमं ।
सिंचामि सययं देहं
सित्ता नो व डहन्ति मे ॥

—"महामेघ से प्रसूत पवित्र-जल को लेकर मैं उन अग्नियों का निरन्तर सिंचन करता हूं। अतः सिंचन की गई अग्नियां मुझे नहीं जलाती हैं।"

५२. अग्गी य इइ के वुत्ता ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

केशीकुमार श्रमण—

—"वे कौन-सी अग्नियाँ हैं ?" केशी ने गौतम को कहा। केशी के पूछने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—

५३. कसाया अग्गिणो वुत्ता
सुय-सील-तवो जलं ॥
सुयधाराभिहया सन्ता
भिन्ना हु न डहन्ति मे ॥

गणधर गौतम—

—"कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) अग्नियाँ हैं। श्रुत, शील और तप, जल है। श्रुत-शील-तप-रूप जल-धारा से बुझी हुई और नष्ट हुई अग्नियाँ मुझे नहीं जलाती हैं।"

५४. साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो ।।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा ! ॥

केशीकुमार श्रमण—

—"गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरा संदेह दूर किया है। मेरा एक और भी संदेह है। गौतम ! उसके विषय में भी मुझे कहें।"

५५. अयं साहसिओ भीमो
दुट्ठस्सो परिधावई ।
जंसि गोयम ! आरूढो
कहं तेण न हीरसि ? ॥

—"यह साहसिक, भयंकर, दुष्ट अश्व दौड़ रहा है। गौतम ! तुम उस पर चढ़े हुए हो। वह तुम्हें उन्मार्ग पर कैसे नहीं ले जाता है ?"

५६. पधावन्तं निगिण्हामि
सुयरस्सीसमाहियं ।
न मे गच्छइ उम्मग्गं
मग्गं च पडिवज्जई ॥

गणधर गौतम—

—"दौड़ते हुए अश्व को मैं श्रुत-रश्मि से—श्रुतज्ञान की लगाम से वश में करता हूँ। मेरे अधीन हुआ अश्व उन्मार्ग पर नहीं जाता है, अपितु सन्मार्ग पर ही चलता है।"

५७. अस्से य इइ के वुत्ते ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

केशी कुमार श्रमण—

—"अश्व किसे कहा गया है ?" केशी ने गौतम को कहा।

केशी के पूछने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—

५८. मणो साहसिओ भीमो
दुट्ठस्सो परिधावई ।
तं सम्मं निगिण्हामि
धम्मसिक्खाए कन्थगं ॥

गणधर गौतम—

—"मन ही साहसिक, भयंकर, दुष्ट अश्व है, जो चारों तरफ दौड़ता है। उसे मैं अच्छी तरह वश में करता हूँ। धर्म-शिक्षा से वह कन्थक—उत्तम जाति का अश्व हो गया है।"

५९. साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा ! ॥

केशीकुमार श्रमण—

—"गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह संदेह दूर किया। मेरा एक और भी संदेह है। गौतम ! उसके विषय में भी मुझे कहें।"

६०. कुप्पहा बहवो लोए
जेहिं नासन्ति जंतवो ।
अद्धाणे कह वट्टन्ते
तं न नस्ससि ? गोयमा ! ॥

—"गौतम ! लोक में कुमार्ग बहुत हैं, जिससे लोग भटक जाते हैं। मार्ग पर पर चलते हुए तुम क्यों नही भटकते हो ?"

६१. जे य मग्गेण गच्छन्ति
जे य उम्मग्गपट्ठिया ।
ते सव्वे विइया मज्झं
तो न नस्सामहं मुणी ! ॥

गणधर गौतम—

—"जो सन्मार्ग से चलते हैं और जो उन्मार्ग से चलते हैं, उन सबको मैं जानता हूँ। अतः हे मुने ! मैं नहीं भटकता हूँ।

६२. मग्गे य इइ के वुत्ते ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

केशी कुमार श्रमण—

—"मार्ग किसे कहते हैं ?" केशी ने गौतम को कहा।

केशी के पूछने पर गौतम ने यह कहा—

६३. कुप्पवयण—पासण्डी
सव्वे उम्मग्गपट्ठिया ।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं
एस मग्गे हि उत्तमे ॥

गणधर गौतम—

—"मिथ्या प्रवचन को मानने वाले सभी पाषण्डी—व्रती लोग उन्मार्ग पर चलते हैं। सन्मार्ग तो जिनोपदिष्ट है, और यही उत्तम मार्ग है।"

केशी कुमार श्रमण—

६४. साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा ! ॥

—"गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है । तुमने मेरा यह संदेह दूर किया । मेरा एक और भी संदेह है । गौतम ! उसके विषय में भी मुझे कहें ।"

६५. महाउदग—वेगेणं
बुज्झमाणाण पाणिणं ।
सरणं गई पइट्ठा य
दीवं कं मन्नसी मुणी ?

—"मुने ! महान् जल-प्रवाह के वेग से बहते-डूबते हुए प्राणियों के लिए शरण, गति, प्रतिष्ठा और द्वीप तुम किसे मानते हो ?"

गणधर गौतम—

६६. अत्थि एगो महादीवो
वारिमज्झे महालओ ।
महाउदगवेगस्स
गई तत्थ न विज्जई ॥

—"जल के बीच एक विशाल महाद्वीप है । वहाँ महान् जल-प्रवाह के वेग की गति नहीं है ।"

केशी कुमार श्रमण—

६७. दीवे य इइ के वुत्ते ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

—"वह महाद्वीप कौन सा है ?" केशी ने गौतम को कहा ।

केशी के पूछने पर गौतम ने यह कहा—

गणधर गौतम—

६८. जरा—मरणवेगेणं
बुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य
गई सरणमुत्तमं ॥

—"जरा-मरण के वेग से बहते-डूबते हुए प्राणियों के लिए धर्म ही द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है ।"

केशीकुमार श्रमण—

६९. साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा ! ॥

—"गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है । तुमने मेरा यह संदेह दूर किया, मेरा एक और भी संदेह है । गौतम ! उसके विषय में भी मुझे कहें ।"

७०. अण्णवंसि महोहंसि
नावा विपरिधावई ।
जंसि गोयममारूढो
कहं पारं गमिस्ससि ? ।।

—"गौतम ! महाप्रवाह वाले समुद्र में नौका डगमगा रही है। तुम उस पर चढ़कर कैसे पार जा सकोगे ?"

गणधर गौतम—

७१. जा उ अस्साविणी नावा
न सा पारस्स गामिणी ।
जा निरस्साविणी नावा
सा उ पारस्स गामिणी ।।

—"जो नौका छिद्रयुक्त है, वह पार नहीं जा सकती है। जो छिद्ररहित है; वही नौका पार जाती है।"

केशी कुमार श्रमण—

७२. नावा य इइ का वुत्ता ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ।।

—"वह नौका कौन सी है ?" केशी ने गौतम को कहा।

केशी के पूछने पर गौतम ने यह कहा—

गणधर गौतम—

७३. सरीरमाहु नाव त्ति
जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो
जं तरन्ति महेसिणो ।।

—"शरीर नौका है, जीव नाविक—मल्लाह है और संसार समुद्र है, जिसे महर्षि तैर जाते हैं।"

केशी कुमार श्रमण—

७४. साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा ! ।।

—"गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह संदेह दूर किया। मेरा एक और भी संदेह है। गौतम ! उसके विषय में भी मुझे कहें।"

७५. अन्धयारे तमे घोरे
चिट्ठन्ति पाणिणो बहू ।
को करिस्सइ उज्जोयं
सव्वलोगंमि पाणिणं ? ।।

—"भयंकर गाढ अन्धकार में बहुत से प्राणी रह रहे हैं। सम्पूर्ण लोक में प्राणियों के लिए कौन प्रकाश करेगा ?"

गणधर गौतम—

७६. उग्गओ विमलो भाणू
सव्वलोगप्पभंकरो ।
सो करिस्सइ उज्जोयं
सव्वलोगंमि पाणिणं ॥

—"सम्पूर्ण जगत् में प्रकाश करने वाला निर्मल सूर्य उदित हो चुका है। वह सब प्राणियों के लिए प्रकाश करेगा।"

केशी कुमार श्रमण—

७७. भाणू य इइ के वुत्ते ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

—"वह सूर्य कौन है ?" केशी ने गौतम को कहा।

केशी के पूछने पर गौतम ने यह कहा—

गणधर गौतम—

७८. उग्गओ खीणसंसारो
सव्वन्नू जिणभक्खरो ।
सो करिस्सइ उज्जोयं
सव्वलोयंमि पाणिणं ॥

—"जिसका संसार क्षीण हो गया है, जो सर्वज्ञ है, ऐसा जिन-भास्कर उदित हो चुका है। वह सब प्राणियों के लिए प्रकाश करेगा।"

केशी कुमार श्रमण—

७९. साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा ! ॥

—"गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह संदेह दूर किया। मेरा एक और भी संदेह है। गौतम ! उसके विषय में भी मुझे कहें।"

८०. सारीर-माणसे दुक्खे
बज्झमाणाण पाणिणं ।
खेमं सिवमणाबाहं
ठाणं किं मन्नसी मुणी ? ॥

—"मुने ! शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित प्राणियों के लिए तुम क्षेम, शिव और अनाबाध—बाधारहित कौन-सा स्थान मानते हो ?"

गणधर गौतम—

८१. अत्थि एगं धुवं ठाणं
लोगग्गंमि दुरारुहं ।
जत्थ नत्थि जरा मच्चू
वाहिणो वेयणा तहा ॥

—"लोक के अग्र-भाग में एक ऐसा स्थान है, जहाँ जरा नहीं है, मृत्यु नहीं है, व्याधि और वेदना नहीं है। परन्तु वहाँ पहुँचना बहुत कठिन है।"

८२. ठाणे य इइ के वुत्ते ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

केशीकुमार श्रमण—

—"वह स्थान कौन सा है।" केशी ने गौतम को कहा ।

केशी के पूछने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—

८३. निव्वाणं ति अबाहं ति
सिद्धी लोगग्गमेव य ।
खेमं सिवं अणाबाहं
जं चरन्ति महेसिणो ॥

गणधर गौतम

—"जिस स्थान को महर्षि प्राप्त करते हैं, वह स्थान निर्वाण है, अबाध है, सिद्धि है, लोकाग्र है। क्षेम, शिव और अनाबाध है।"

८४. तं ठाणं सासयं वासं
लोगग्गंमि दुरारुहं ।
जं संपत्ता न सोयन्ति
भवोहन्तकरा मुणी ॥

—"भव-प्रवाह का अन्त करने वाले मुनि जिसे प्राप्त कर शोक से मुक्त हो जाते है, वह स्थान लोक के अग्रभाग में शाश्वत रूप से अवस्थित है, जहाँ पहुँच पाना कठिन है।"

केशी कुमार श्रमण—

८५. साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो ।
नमो ते संसयाईय
सव्वसुत्तमहोयही ! ॥

—"गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह सन्देह भी दूर किया। हे संशयातीत ! सर्व श्रुत के महोदधि ! तुम्हें मेरा नमस्कार है।"

उपसंहार—

८६. एवं तु संसए छिन्ने
केसी घोरपरक्कमे ।
अभिवन्दित्ता सिरसा
गोयमं तु महायसं ॥

इस प्रकार संशय के दूर होने पर घोर पराक्रमी केशीकुमार, महान् यशस्वी गौतम को शिर से वन्दना कर—

८७. पंचमहव्वयधम्मं
पडिवज्जइ भावओ ।
पुरिमस्स पच्छिमंमी
मग्गे तत्थ सुहावहे ॥

प्रथम और अन्तिम जिनों के द्वारा उपदिष्ट एवं सुखावह पंचमहाव्रतरूप धर्म के मार्ग में भाव से प्रविष्ट हुए।

८८. केसी गोयमओ निच्चं
तम्मि आसि समागमे।
सुय—सीलसमुक्करिसो
महत्थऽत्थविणिच्छओ ॥

वहाँ तिन्दुक उद्यान में केशी और गौतम दोनों का जो यह सतत समागम हुआ, उसमें श्रुत तथा शील का उत्कर्ष और महान् तत्त्वों के अर्थों का विनिश्चय हुआ।

८९. तोसिया परिसा सव्वा
सम्मग्गं समुवट्ठिया।
संथुया ते पसीयन्तु
भयवं केसिगोयमे ॥

समग्र सभा धर्मचर्चा से संतुष्ट हुई। अतः सन्मार्ग में समुपस्थित उसने भगवान् केशी और गौतम की स्तुति की कि वे दोनों प्रसन्न रहें।

—त्ति बेमि

—ऐसा मैं कहता हूँ।

२४

प्रवचन-माता

'समिति' का अर्थ है—'सम्यक् प्रवृत्ति।'
'गुप्ति' का अभिप्राय है—'अशुभ से निवृत्ति।'

माँ क्या करती है ? और क्या चाहती है ? वह अपने बेटे को सतत सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती है। वह गलत मार्ग पर कभी न चले, इसका ध्यान रखती है।

पाँच समिति और तीन गुप्ति को 'अष्ट प्रवचन-माता' कहा गया है। वह माँ की तरह साधक की देखभाल करती है। साधक विवेकपूर्वक गमनागमन करे। विवेक और संयम से बोले। मर्यादा के अनुसार आहार ग्रहण करे। अपने उपकरणों का सावधानी से उपयोग करे। उन्हें अहिंसक और व्यवस्थित रीति से रखे। मूल-मूत्र आदि के उत्सर्ग के लिए उचित स्थान की खोज करे। ये पाँच समितियाँ हैं।

मन से असत् विचार न करे, असत् चिन्तन न करे। वचन से असत्य तथा कटु भाषा न बोले। काया से असत् व्यवहार एवं आचरण न करे।

चलने के समय, बोलने के समय तथा अन्य किसी भी कार्य को करते समय उसकी ओर ही उन्मुख रहे, एकनिष्ठ रहे, और उस समय इधर-उधर के अन्य सब विकल्प छोड़ दे।

ये पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ पाँच महाव्रतों को सुरक्षित रखने के लिए हैं। इनका पालन साधु के लिए नितान्त आवश्यक है। और कुछ भी न करे, केवल पाँच समिति और तीन गुप्ति का विशुद्ध रूप से पालन करे, तो भी साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

●

चउवीसइमं अज्झयणं : चतुर्विंश अध्ययन

पवयण-माया : प्रवचन-माता

मूल — हिन्दी अनुवाद

**१. अट्ठ पवयणमायाओ
समिई गुत्ती तहेव य ।
पंचेव य समिईओ
तओ गुत्तीओ आहिया ॥**

समिति और गुप्ति-रूप आठ प्रवचन-माताएँ है। समितियाँ पाँच हैं। गुप्तियाँ तीन हैं।

**२. इरियाभासेसणादाणे
उच्चारे समिई इय ।
मणगुत्ती वयगुत्ती
कायगुत्ती य अट्ठमा ॥**

ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान समिति और उच्चार समिति। मनो-गुप्ति, वचन गुप्ति और आठवीं प्रवचन माता काय-गुप्ति है।

**३. एयाओ अट्ठ समिईओ
समासेण वियाहिया ।
दुवालसंगं जिणक्खायं
मायं जत्थ उ पवयणं ॥**

ये आठ समितियाँ संक्षेप में कही गई है। इनमें जिनेन्द्र—कथित द्वादशांग—रूप समग्र प्रवचन अन्तर्भूत है।

ईर्या समिति—

**४. आलम्बणेण कालेण
मग्गेण जयणाइ य ।
चउकारणपरिसुद्धं
संजए इरियं रिए ॥**

संयती साधक आलम्बन, काल, मार्ग और यतना—इन चार कारणों से परिशुद्ध ईर्या समिति से विचरण करे।

**५. तत्थ आलंबणं नाणं
दंसणं चरणं तहा ।
काले य दिवसे वुत्ते
मग्गे उप्पहवज्जिए ॥**

ईर्या समिति का आलम्बन—ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। काल दिवस है। और मार्ग उत्पथ का वर्जन है।

६. दव्वओ खेत्तओ चेव
कालओ भावओ तहा।
जयणा चउव्विहा वुत्ता
तं मे कित्तयओ सुण॥

द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा से यतना चार प्रकार की है। उसको मैं कहता हूं। सुनो।

७. दव्वओ चक्खुसा पेहे
जुगमित्तं च खेत्तओ।
कालओ जाव रीएज्जा
उवउत्ते य भावओ॥

द्रव्य से—आँखों से देखे।

क्षेत्र से—युगमात्र भूमि को देखे।

काल से—जब तक चलता रहे तब तक देखे।

भाव से —उपयोगपूर्वक गमन करे

८. इन्दियत्थे विवज्जित्ता
सज्झायं चेव पंचहा।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे
उवउत्ते इरियं रिए॥

इन्द्रियों के विषय और पाँच प्रकार के स्वाध्याय का कार्य छोड़कर मात्र गमन-क्रिया मे ही तन्मय हो, उसी को प्रमुख महत्त्व देकर उपयोगपूर्वक चले।

भाषा समिति—

९. कोहे माणे य मायाए
लोभे य उवउत्तया।
हासे भए मोहरिए
विगहासु तहेव य॥

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, वाचालता और विकथा के प्रति सतत उपयोगयुक्त रहे।

१०. एयाइं अट्ठ ठाणाइं
परिवज्जित्तु संजए।
असावज्जं मियं काले
भासं भासेज्ज पन्नवं॥

प्रज्ञावान् संयती इन आठ स्थानों को छोड़कर यथासमय निरवद्य—दोषरहित और परिमित भाषा बोले।

एषणा समिति—

११. गवेसणाए गहणे य
परिभोगेसणा य जा।
आहारोवहि-सेज्जाए
एए तिन्नि विसोहए॥

गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा से आहार, उपधि और शय्या का परिशोधन करे।

१२. उग्गमुप्पायणं पढमे
बीए सोहेज्ज एसणं।
परिभोयंमि चउक्कं
विसोहेज्ज जयं जई॥

यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने वाला यति प्रथम एषणा (आहारादि की गवेषणा) में उद्गम और उत्पादन दोषों का शोधन करे। दूसरी एषणा (ग्रहणैषणा) में आहारादि ग्रहण करने से सम्बन्धित दोषों का शोधन करे। परिभोगैषणा में दोष-चतुष्क का शोधन करे।

आदान निक्षेप समिति—

१३. ओहोवहोवग्गहियं
भण्डगं दुविहं मुणी।
गिण्हन्तो निक्खिवन्तो य
पउंजेज्ज इमं विहिं॥

मुनि ओघ-उपधि (सामान्य उपकरण) और औपग्रहिक उपधि (विशेष उपकरण) दोनों प्रकार के उपकरणों को लेने और रखने मे इस विधि का प्रयोग करे।

१४. चक्खुसा पडिलेहित्ता
पमज्जेज्ज जयं जई।
आइए निक्खिवेज्जा वा
दुहओ वि समिए सया॥

यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने वाला यति दोनो प्रकार के उपकरणो को आँखो से प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन करके ले और रखे।

पारिष्ठापना समिति—

१५. उच्चारं पासवणं
खेलं सिंघाण-जल्लियं।
आहारं उवहिं देहं
अन्नं वावि तहाविहं॥

उच्चार— मल, प्रस्रवण — मूत्र, श्लेष्म—कफ, सिंघानक—नाक का मैल, जल्ल—शरीर का मैल, आहार, उपधि—उपकरण, शरीर तथा अन्य कोई विसर्जन-योग्य वस्तु का विवेकपूर्वक स्थण्डिल भूमि में उत्सर्ग करे।

१६. अणावायमसंलोए
अणावाए चेव होइ संलोए।
आवायमसंलोए
आवाए चेव संलोए॥

(१) अनापात असंलोक—जहाँ लोगों का आवागमन न हो, और वे दूर से भी न दीखते हों।

(२) अनापात संलोक—लोगों का आवागमन न हो, किन्तु लोग दूर से दीखते हों।

(३) आपात असंलोक—लोगों का आवागमन हो, किन्तु वे दीखते न हों।

(४) आपात संलोक—लोगों का आवागमन हो और वे दिखाई भी देते हों।

इस प्रकार स्थण्डिल भूमि चार प्रकार से होती है।

१७. अणावायमसंलोए
परस्सऽणुवघाइए ।
समे अज्झुसिरे यावि
अचिरकालकयंमि य ॥

जो भूमि अनापात-असंलोक हो, परोपघात से रहित हो, सम हो, अशुषिर हो—पोली न हो, तथा कुछ समय पहले निर्जीव हुई हो—

१८. वित्थिण्णे दूरमोगाढे
नासन्ने बिलवज्जिए ।
तसपाण-बीयरहिए
उच्चाराईणि वोसिरे ॥

विस्तृत हो, गाँव से दूर हो, बहुत नीचे तक अचित्त हो, बिल से रहित हो, तथा त्रस प्राणी और बीजों से रहित हो, ऐसी भूमि में उच्चार (मल) आदि का उत्सर्ग करना चाहिए।

१९. एयाओ पंच समिईओ
समासेण वियाहिया ।
एत्तो य तओ गुत्तीओ
वोच्छामि अणुपुव्वसो ॥

ये पाँच समितियाँ संक्षेप से कही गई हैं। अब यहाँ से क्रमशः तीन गुप्तियाँ कहूँगा।

मनोगुप्ति—

२०. सच्चा तहेव मोसा य
सच्चामोसा तहेव य ।
चउत्थी असच्चमोसा
मणगुत्ती चउव्विहा ॥

मनोगुप्ति के चार प्रकार हैं—
सत्या (सच)
मृषा (झूठ)
सत्यामृषा (सच और झूठ से मिश्र)
चौथी असत्यमृषा है, जो न सच है, न झूठ। अर्थात् केवल लोक-व्यवहार है।

२१. संरम्भ—समारम्भे
आरम्भे य तहेव य ।
मणं पवत्तमाणं तु
नियत्तेज्ज जयं जई ॥

यतना-संपन्न यति संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त मन का निवर्तन करे।

२२. सच्चा तहेव मोसा य
सच्चामोसा तहेव य ।
चउत्थी असच्चमोसा
वइगुत्ती चउव्विहा ॥

वचन गुप्ति—

वचन गुप्ति के चार प्रकार हैं—
सत्या
मृषा
सत्यामृषा
चौथी असत्यामृषा

२३. संरम्भ-समारम्भे
आरम्भे य तहेव य ।
वयं पवत्तमाणं तु
नियत्तेज्ज जयं जई ॥

यतना-संपन्न यति संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवर्तमान वचन का निवर्तन करे ।

२४. ठाणे निसीयणे चेव
तहेव य तुयट्टणे ।
उल्लंघण-पल्लंघणे
इन्दियाण य जुंजणे ॥

काय गुप्ति—

खड़े होने में, बैठने में, त्वग्वर्तन में—लेटने मे, उल्लंघन मे—गर्त आदि के लांघने मे, प्रलंघन में—सामान्यतया चलने-फिरने मे, शब्दादि विषयो मे इन्द्रियो के प्रयोग मे—

२५. संरम्भ-समारम्भे
आरम्भम्मि तहेव य ।
कायं पवत्तमाणं तु
नियत्तेज्ज जयं जई ॥

संरम्भ में, समारम्भ मे और आरम्भ मे प्रवृत्त काया का निवर्तन करे ।

२६. एयाओ पंच समिईओ
चरणस्स य पवत्तणे ।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता
असुभत्थेसु सव्वसो ॥

समिति गुप्ति का लक्षण—

ये पांच समितियां चारित्र की प्रवृत्ति के लिए हैं । और तीन गुप्तियां सभी अशुभ विषयों से निवृत्ति के लिए हैं ।

२७. एसा पवयणमाया
जे सम्मं आयरे मुणी ।
से खिप्पं सव्वसंसारा
विप्पमुच्चइ पण्डिए ॥

—त्ति बेमि

उपसंहार—

जो पण्डित मुनि इन प्रवचन-माताओं का सम्यक् आचरण करता है, वह शीघ्र ही सर्व संसार से मुक्त हो जाता है ।

—ऐसा मैं कहता हूं ।

२५

यज्ञीय

वस्तुत. जाति का सम्बन्ध हमारे द्वारा आचरित कर्म से है।
जाति की परिकल्पना केवल हमारी सामाजिक व्यवस्था है।

भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास का प्रथम अध्याय यज्ञ और पूजा से प्रारम्भ होता है। भगवान् महावीर के समय तक इस विचारधारा का सर्व-व्यापक और गहरा प्रभुत्व छा गया था। विद्वान् ब्राह्मण प्रायः इसी कार्य में लगे रहते थे। भगवान् महावीर और उनके साधुओं ने जनता को वास्तविक यज्ञ क्या है, सच्चा ब्राह्मण कौन होता है, इस विषय में ठीक तरह समझाया था। इस अध्ययन में ऐसे ही एक प्रसंग का उल्लेख है।

वाराणसी नगरी में जयघोष और विजयघोष दो भाई थे। वे काश्यप-गोत्रीय ब्राह्मण थे, वेदों के ज्ञाता थे। एक बार जयघोष गंगा नदी में स्नान के लिए गया। वहाँ उसने एक सर्प को मेंढक निगलते हुए देखा। इतने में एक कुरर पक्षी आया, उसने साँप को पकड़ा। सांप मेंढक को निगल रहा है और कुरर साँप को। इस दृश्य को देखकर जयघोष विरक्त हो गया। वह जैन साधु बन गया।

एक बार जयघोष वाराणसी में भिक्षा की खोज में निकले। वे भ्रमण करते हुए उसी यज्ञ-मण्डप में पहुँच गए, जहाँ विजयघोष अनेक ब्राह्मणों के साथ यज्ञ कर रहा था। उग्र तप के कारण जयघोष का शरीर बहुत कृश-क्षीण हो गया था। विजयघोष ने उसे बिल्कुल भी नहीं पहचाना। जयघोष ने भिक्षा की याचना की, किन्तु विजयघोष ने इन्कार कर दिया। जयघोष को इन्कार से दुःख नहीं हुआ। वह पूर्णरूप से शान्त रहा। परिबोध के भाव से उसने

विजयघोष को कहा—"भिक्षा दो, इसलिए मैं तुम्हें कुछ नहीं कह रहा हूँ। मुझे तुम्हारी भिक्षा से कोई प्रयोजन नहीं है। किन्तु तुम्हें जानना चाहिए कि जो यज्ञ तुम कर रहे हो, वह वास्तविक यज्ञ नहीं है। सच्चा यज्ञ भावयज्ञ है। कषाय, विषय, वासनाओं को ज्ञानाग्नि में जलाना ही सच्चा यज्ञ है। सच्चारित्र से ही सच्चा ब्राह्मण होता है। जाति से कोई मानव ब्राह्मण नहीं होता है। न जाति से कोई क्षत्रिय है, न वैश्य है, और न शूद्र है। अपने-अपने समाचरित कार्यों से ही व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है।"

मुनि के उपदेश से विजयघोष को यथार्थ ज्ञान हुआ। वह भी विरक्त हुए और अन्त में सम्यक् आचरण से मुक्त भी।

प्रस्तुत अध्ययन में 'ब्राह्मण' की बड़ी ही मार्मिक व्याख्या है। यह वह सत्य है, जो शाश्वत है, अजर-अमर है। यह सत्य ही मानव को जाति और कुल की श्रेष्ठता के मिथ्या दर्प से मुक्त करता है।

●

पंचविसइमं अज्झयणं : पंचविंश अध्ययन

जन्नइज्जं : यज्ञीय

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. माहणकुलसंभूओ आसि विप्पो महायसो । जायाई जमजन्नंमि जयघोसे त्ति नामओ ॥	ब्राह्मण कुल में उत्पन्न, महान् यशस्वी जयघोष नाम का ब्राह्मण था, जो हिंसक यमरूप यज्ञ मे अनुरक्त यायाजी था ।
२. इन्दियग्गामनिग्गाही मग्गगामी महामुणी । गामाणुगामं रीयन्ते पत्तो वाणारसिं पुरिं ॥	वह इन्द्रिय-समूह का निग्रह करने वाला, मार्गगामी महामुनि हो गया था । एक दिन ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ वाराणसी पहुंच गया ।
३. वाणारसीए बहिया उज्जाणंमि मणोरमे । फासुए सेज्जसंथारे तत्थ वासमुवागए ॥	वाराणसी के बाहर मनोरम उद्यान में प्रासुक शय्या—वसति और संस्तारक—पीठ, फलक आदि आसन लेकर ठहर गया ।
४. अह तेणेव कालेणं पुरीए तत्थ माहणे । विजयघोसे त्ति नामेण जन्नं जयइ वेयवी ॥	उसी समय उस पुरी में वेदों का ज्ञाता, विजयघोष नाम का ब्राह्मण यज्ञ कर रहा था ।
५. अह से तत्थ अणगारे मासक्खमणपारणे । विजयघोसस्स जन्नंमि भिक्खस्सऽट्ठा उवट्ठिए ॥	एक मास की तपश्चर्या के पारणा के समय भिक्षा के लिए वह जयघोष मुनि विजय घोष के यज्ञ में उपस्थित हुआ ।

६. समुवट्ठियं तहिं सन्तं
जायगो पडिसेहए।
न हु दाहामि ते भिक्खं
भिक्खू ! जायाहि अन्नओ ॥

यज्ञकर्ता ब्राह्मण भिक्षा के लिए उपस्थित हुए मुनि को इन्कार करता है—"मैं तुम्हें भिक्षा नहीं दूंगा। भिक्षु ! अन्यत्र याचना करो।"

७. जे य वेयविऊ विप्पा
जन्नट्ठा य जे दिया।
जोइसंगविऊ जे य
जे य धम्माण पारगा ॥

जो वेदों के ज्ञाता विप्र-ब्राह्मण हैं, यज्ञ करने वाले द्विज हैं, और ज्योतिष के अंगों के ज्ञाता हैं एवं धर्मशास्त्रों के पारगामी हैं—

८. जे समत्था समुद्धत्तुं
परं अप्पाणमेव य।
तेसिं अन्नमिणं देयं
भो भिक्खू ! सव्वकामियं ॥

—"जो अपना और दूसरो का उद्धार करने मे समर्थ हैं, भिक्षु ! यह सर्वकामिक—सर्वरसयुक्त एवं सब को अभीष्ट अन्न उन्हीं को देना है।"

९. सो एवं तत्थ पडिसिद्धो
जायगेण महामुणी।
न वि रुट्ठो न वि तुट्ठो
उत्तमट्ठ—गवेसओ ॥

वहाँ इस प्रकार याजक के द्वारा इन्कार किए जाने पर उत्तम अर्थ की खोज करने वाला वह महामुनि न क्रुद्ध हुआ, न प्रसन्न हुआ।

१०. नऽन्नट्ठं पाणहेउं वा
न वि निव्वाहणाय वा।
तेसिं विमोक्खणट्ठाए
इमं वयणमब्बवी ॥

न अन्न के लिए, न जल के लिए, न जीवन-निर्वाह के लिए, किन्तु उनके विमोक्षण (मुक्ति) के लिए मुनि ने इस प्रकार कहा—

जयघोष मुनि—

११. न वि जाणासि वेयमुहं
न वि जन्नाण जं मुहं।
नक्खत्ताण मुहं जं च
जं च धम्माण वा मुहं ॥

—"तू वेद के मुख को नहीं जानता है, और न यज्ञों का जो मुख है, नक्षत्रों का जो मुख है और धर्मों का जो मुख है, उसे ही जानता है।"

१२. जे समत्था समुद्धत्तुं
परं अप्पाणमेव य।
न ते तुमं वियाणासि
अह जाणासि तो भण ॥

—"जो अपना और दूसरों का उद्धार करने में समर्थ हैं, उन्हें भी तू नहीं जानता है। यदि जानता है, तो बता।"

१३. तस्सऽक्खेवपमोक्खं च
अचयन्तो तहिं दिओ।
सपरिसो पंजली होउं
पुच्छई तं महामुणिं॥

उसके आक्षेपों का—प्रश्नों का प्रमोक्ष अर्थात् उत्तर देने में असमर्थ ब्राह्मण ने अपनी समग्र परिषदा के साथ हाथ जोड़कर उस महामुनि से पूछा—

विजय घोष ब्राह्मण—

१४. वेयाणं च मुहं बूहि
बूहि जन्नाण जं मुहं।
नक्खत्ताण मुहं बूहि
बूहि धम्माण वा मुहं॥

—"तुम कहो—वेदों का मुख क्या है? यज्ञों का जो मुख है, वह बतलाओ। नक्षत्रों का मुख बताइए और धर्मों का जो मुख है, उसे भी कहिए।"

१५. जे समत्था समुद्धत्तुं
परं अप्पाणमेव य।
एयं मे संसयं सव्वं
साहू! कहसु पुच्छिओ॥

—"और अपना तथा दूसरों का उद्धार करने मे जो समर्थ हैं, वे भी बतलाओ। मुझे यह सब संशय है। साधु! मैं पूछता हूं, आप बताइए।"

जयघोष मुनि—

१६. अग्गिहोत्तमुहा वेया
जन्नट्ठी वेयसां मुहं।
नक्खत्ताण मुहं चन्दो
धम्माणं कासवो मुहं॥

—"वेदों का मुख अग्नि-होत्र है, यज्ञों का मुख यज्ञार्थी है, नक्षत्रों का मुख चन्द्र है और धर्मों का मुख काश्यप (ऋषभदेव) है।"

१७. जहा चंदं गहाईया
चिट्ठन्ती पंजलीउडा।
वन्दमाणा नमंसन्ता
उत्तमं मणहारिणो॥

—"जैसे उत्तम एवं मनोहारी ग्रह आदि हाथ जोड़कर चन्द्र की वन्दना तथा नमस्कार करते हुए स्थित हैं, वैसे ही भगवान् ऋषभदेव हैं,—उनके समक्ष भी जनता विनयावनत है।"

१८. अजाणगा जन्नवाई
विज्जा माहणसंपया।
गूढा सज्झायतवसा
भासच्छन्ना इवऽग्गिणो॥

—"विद्या ब्राह्मण की सम्पदा है, यज्ञवादी इससे अनभिज्ञ हैं, वे बाहर में स्वाध्याय और तप से वैसे ही आच्छादित हैं, जैसे कि अग्नि राख से ढँकी हुई होती है।"

१९. जे लोए बम्भणो वुत्तो
अग्गी वा महिओ जहा।
सया कुसलसंदिट्ठं
तं वयं बूम माहणं॥

—"जिसे लोक में कुशल पुरुषों ने ब्राह्मण कहा है, जो अग्नि के समान सदा पूजनीय है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

२०. जो न सज्जइ आगन्तुं
पव्वयन्तो न सोयई।
रमए अज्जवयणंमि
तं वयं बूम माहणं॥

—"जो प्रिय स्वजनादि के आने पर आसक्त नहीं होता और न जाने पर शोक करता है। जो आर्य-वचन में—अर्हद्वाणी में रमण करता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

२१. जायरूवं जहामट्ठं
निद्धन्तमलपावगं।
राग-द्दोस-भयाईयं
तं वयं बूम माहणं॥

—"कसौटी पर कसे हुए और अग्नि के द्वारा दग्धमल हुए—शुद्ध किए गए जातरूप—सोने की तरह जो विशुद्ध है, जो राग से, द्वेष से और भय से मुक्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

२२. तवस्सियं किसं दन्तं
अवचियमंस-सोणियं।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं
तं वयं बूम माहणं॥

—"जो तपस्वी है, कृश है, दान्त है, जिसका मांस और रक्त अपचित (कम) हो गया है। जो सुव्रत है, शांत है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

२३. तसपाणे वियाणेत्ता
संगहेण य थावरे।
जो न हिंसइ तिविहेणं
तं वयं बूम माहणं॥

—"जो त्रस और स्थावर जीवों को सम्यक् प्रकार से जानकर उनकी मन, वचन और काया से हिंसा नहीं करता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

२४. कोहा वा जइ वा हासा
लोहा वा जइ वा भया।
मुसं न वयई जो उ
तं वयं बूम माहणं॥

—"जो क्रोध, हास्य, लोभ अथवा भय से झूठ नहीं बोलता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

२५. चित्तमन्तमचित्तं वा
अप्पं वा जइ वा बहुं।
न गेण्हइ अदत्तं जे
तं वयं बूम माहणं॥

—"जो सचित्त या अचित्त, थोड़ा या अधिक अदत्त नहीं लेता है, उसे हम ब्राह्मण कहते है।"

२६. दिव्व-माणुस-तेरिच्छं
जो न सेवइ मेहुणं।
मणसा काय-वक्केणं
तं वयं बूम माहणं॥

—"जो देव, मनुष्य और तिर्यञ्च-सम्बन्धी मैथुन का मन, वचन और शरीर से सेवन नहीं करता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

२७. जहा पोमं जले जायं
नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तो कामेहिं
तं वयं बूम माहणं ॥

—"जिस प्रकार जल में उत्पन्न हुआ कमल जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जो कामभोगों से अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

२८. अलोलुयं मुहाजीवी
अणगारं अकिंचणं ।
असंसत्तं गिहत्थेसु
तं वयं बूम माहणं ॥

—"जो रसादि में लोलुप नहीं है, जो निर्दोष भिक्षा से जीवन का निर्वाह करता है, जो गृह-त्यागी है, जो अकिंचन है, जो गृहस्थों में अनासक्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

२९. जहित्ता पुव्वसंजोगं
नाइसंगे य बन्धवे ।
जो न सज्जइ एएहिं
तं वयं बूम माहणं ॥

—"जो पूर्व संयोगों को, ज्ञातिजनों की आसक्ति और बान्धवों को छोड़कर फिर उनमें आसक्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

३०. पसुबन्धा सव्ववेया
जट्ठं च पावकम्मुणा ।
न तं तायन्ति दुस्सीलं
कम्माणि बलवन्ति ह ॥

—"उस दुःशील को पशुबंध (यज्ञ में वध के लिए पशुओं को बाँधना) के हेतु सर्व वेद और पाप-कर्मों से किए गए यज्ञ बचा नहीं सकते, क्योंकि कर्म बलवान् है।"

३१. न वि मुण्डिएण समणो
न ओंकारेण बम्भणो ।
न मुणी रण्णवासेणं
कुसचीरेण न तावसो ॥

—"केवल सिर मुँडाने से कोई श्रमण नहीं होता है, ओम् का जप करने से ब्राह्मण नहीं होता है, अरण्य में रहने से मुनि नहीं होता है, कुश का बना चीवर पहनने मात्र से कोई तपस्वी नहीं होता है।"

३२. समयाए समणो होइ
बम्भचेरेण बम्भणो ।
नाणेण य मुणी होइ
तवेण होइ तावसो ॥

—"समभाव से श्रमण होता है। ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है। ज्ञान से मुनि होता है। तप से तपस्वी होता है।"

३३. कम्मुणा बम्भणो होइ
कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वइस्से कम्मुणा होइ
सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥

—"कर्म से ब्राह्मण होता है। कर्म से क्षत्रिय होता है। कर्म से वैश्य होता है। कर्म से ही शूद्र होता है।"

३४. एए पाउकरे बुद्धे
जेहिं होइ सिणायओ।
सव्वकम्मविनिम्मुक्कं
तं वयं बूम माहणं॥

—"अर्हत् ने इन तत्त्वों का प्ररूपण किया है। इनके द्वारा जो साधक स्नातक—पूर्ण होता है, सब कर्मों से मुक्त होता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

३५. एवं गुणसमाउत्ता
जे भवन्ति दिउत्तमा।
ते समत्था उ उद्धत्तुं
परं अप्पाणमेव य॥

—"इस प्रकार जो गुण-सम्पन्न द्विजोत्तम होते हैं, वे ही अपना और दूसरों का उद्धार करने मे समर्थ हैं।"

३६. एवं तु संसए छिन्ने
विजयघोसे य माहणे।
समुदाय तयं तं तु
जयघोसं महामुणिं॥

इस प्रकार संशय मिट जाने पर विजयघोष ब्राह्मण ने महामुनि जयघोष की वाणी को सम्यक्रूप से स्वीकार किया।

३७. तुट्ठे य विजयघोसे
इणमुदाहु कयंजली।
माहणत्तं जहाभूयं
सुट्ठु मे उवदंसियं॥

संतुष्ट हुए विजयघोष ने हाथ जोड़-कर इस प्रकार कहा—

—"तुमने मुझे यथार्थ ब्राह्मणत्व का बहुत ही अच्छा उपदेश दिया है।"

विजयघोष ब्राह्मण—

३८. तुब्भे जइया जन्नाणं
तुब्भे वेयविऊ विऊ।
जोइसंगविऊ तुब्भे
तुब्भे धम्माण पारगा॥

—"तुम यज्ञों के यष्टा—यज्ञ-कर्त्ता हो, तुम वेदों को जानने वाले विद्वान् हो, तुम ज्योतिष के अंगो के ज्ञाता हो, तुम्हीं धर्मों के पारगामी हो।"

३९. तुब्भे समत्था उद्धत्तुं
परं अप्पाणमेव य।
तमणुग्गहं करेहऽम्हं
भिक्खेण भिक्खु उत्तमा॥

—"तुम अपना और दूसरों का उद्धार करने में समर्थ हो। अतः भिक्षु-श्रेष्ठ! भिक्षा स्वीकार कर हम पर अनुग्रह करो।"

जयघोष मुनि—

४०. न कज्जं मज्झ भिक्खेण
खिप्पं निक्खमसू दिया।
मा भमिहिसि भयावट्टे
घोरे संसारसागरे॥

—"मुझे भिक्षा से कोई प्रयोजन नहीं है। हे द्विज! शीघ्र ही अभिनिष्क्रमण कर अर्थात् श्रमणत्व स्वीकार कर। ताकि भय के आवर्तों वाले संसार सागर में तुझे भ्रमण न करना पड़े।"

४१. उवलेवो होइ भोगेसु
अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे
अभोगी विप्पमुच्चई॥

—"भोगों में कर्मका उपलेप होता है। अभोगी कर्मों से लिप्त नहीं होता है। भोगी संसार में भ्रमण करता है। अभोगी उससे विप्रमुक्त हो जाता है।"

४२. उल्लो सुक्को य दो छूढा
गोलया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे
जो उल्लो सो तत्थ लग्गई॥

—"एक गीला और एक सूखा, ऐसे दो मिट्टी के गोले फेंके गये। वे दोनों दिवार पर गिरे। जो गीला था, वह वहीं चिपक गया।"

४३. एवं लग्गन्ति दुम्मेहा
जे नरा कामलालसा।
विरत्ता उ न लग्गन्ति
जहा सुक्को उ गोलओ॥

—"इसी प्रकार जो मनुष्य दुर्बुद्धि और काम-भोगों मे आसक्त हैं, वे विषयों मे चिपक जाते हैं। विरक्त साधक सूखे गोले की भाँति नहीं लगते हैं।"

४४. एवं से विजयघोसे
जयघोसस्स अन्तिए।
अणगारस्स निक्खन्तो
धम्मं सोच्चा अणुत्तरं॥

उपसंहार—

इस प्रकार विजयघोष, जयघोष अनगार के समीप, अनुत्तर धर्म को सुनकर दीक्षित हो गया।

४५. खवित्ता पुव्वकम्माइं
संजमेण तवेण य।
जयघोस—विजयघोसा
सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं॥

जयघोष और विजयघोष ने संयम और तप के द्वारा पूर्वसंचित कर्मों को क्षीण कर अनुत्तर सिद्धि प्राप्त की।

—त्ति बेमि

—ऐसा मैं कहता हूँ।

२६

सामाचारी

सम्यक् व्यवस्था और काल-विभाजन से जीवन में नियमितता आती है और कार्य व्यवस्थित होता है।

प्रस्तुत अध्ययन में सामाचारी का विवेचन है। समाचारी का अर्थ है—'सम्यक् व्यवस्था।' अर्थात् इसमें जीवन की उस व्यवस्था का निरूपण है, जिसमें साधक के परस्पर के व्यवहारों और उसके कर्त्तव्यों का संकेत है। जैसे साधु कार्यवश बाहर कहीं जाए, तो गुरुजनों को सूचना देकर जाए। कार्य-पूर्ति के बाद वापिस लौटकर आए, तो आगमन की सूचना दे। अपने असद् व्यवहार के प्रति सजग रहे। श्रमशील बने। दूसरों के अनुग्रह को सहर्ष स्वीकार करे। गुरुजनों का योग्य सम्मान करे। नम्र और अनाग्रही बने।

'पर' से उपरति और 'स्व' की उपलब्धि के लिए साधक साधु-जीवन को स्वीकार करता है। उसका बाह्य आचार वस्तुतः अन्तरंग की सम्यक् साधना का सहज परिणाम है। पारिवारिक अथवा सामाजिक बन्धनों की तरह सामाचारी नही है। वह कोई विवशता नहीं है, जो कुण्ठा को जन्म देती है; फलतः प्रगति के पथ का रोड़ा बन जाती है। वह तो अन्तर्जगत् का सहज उत्स होने से साधक जीवन की प्रगति के लिए सहायक है। अतः जीवन का स्वयं निर्धारित-व्यवस्थित रूप साधक का आनन्द है, मजबूरी नही है।

इस अध्ययन में साधक जीवन की कालचर्या का विभागशः विधान किया है। दिन और रात के कुल मिलाकर आठ प्रहर होते हैं। उनमें चार

प्रहर स्वाध्याय के हैं, दो प्रहर ध्यान के हैं। दिन के एक प्रहर में भिक्षा और रात के एक प्रहर में निद्रा। आवश्यक कार्यों के लिए थोड़ा समय और भी दिया जा सकता है, किन्तु प्रमुखता स्वाध्याय और ध्यान की है। नींद केवल एक प्रहर है। स्वाध्याय और ध्यान से निद्रा स्वाभाविक ही कम होती जाती है। यह जागृत साधक का एक दिव्य साधना-चित्र है, जो आज भी जन-मन को रचनात्मक प्रेरणा देता है।

छवीसइमं अज्झयणं : षड्विंश अध्ययन

सामायारी : सामाचारी

मूल — हिन्दी अनुवाद

१. सामायारिं पवक्खामि
सव्वदुक्खविमोक्खणिं ।
जं चरित्ताण निग्गन्था
तिण्णा संसारसागरं ॥

सामाचारी सब दुःखों से मुक्त कराने वाली है, जिसका आचरण कर के निर्ग्रन्थ संसार सागर को तैर गए हैं। उस सामाचारी का मैं प्रतिपादन करता हूँ—

दश समाचारी—

२. पढमा आवस्सिया नाम
बिइया य निसीहिया ।
आपुच्छणा य तइया
चउत्थी पडिपुच्छणा ॥

पहली आवश्यकी, दूसरी नैषेधिकी, तीसरी आपृच्छना, चौथी प्रतिपृच्छना है—

३. पंचमा छन्दणा नाम
इच्छाकारो य छट्ठओ ।
सत्तमो मिच्छकारो य
तहक्कारो य अट्ठमो ॥

पाँचवी छन्दना, छठी इच्छाकार, सातवी मिथ्याकार, आठवीं तथाकार है—

४. अब्भुट्ठाणं नवमं
दसमा उवसंपदा ।
एसा दसंगा साहूणं
सामायारी पवेइया ॥

नौवीं अभ्युत्थान और दसवीं उपसंपदा है। इस प्रकार से दस अंगों वाली साधुओं की सामाचारी प्रतिपादन की गई है।

५. गमणे आवस्सियं कुज्जा
ठाणे कुज्जा निसीहियं।
आपुच्छणा सयंकरणे
परकरणे पडिपुच्छणा ॥

(१) अपने ठहरने के स्थान से बाहर निकलते समय "आवस्सियं" का उच्चारण करना, 'आवश्यकी' सामाचारी है।

(२) अपने स्थान में प्रवेश करते समय "निस्सिहियं" का उच्चारण करना, 'नैषेधिकी' सामाचारी है।

(३) अपने कार्य के लिए गुरु से अनुमति लेना, 'आपृच्छना' सामाचारी है।

(४) दूसरों के कार्य के लिए गुरु से अनुमति लेना 'प्रतिपृच्छना' सामाचारी है।

६. छन्दणा दव्वजाएणं
इच्छाकारो य सारणे।
मिच्छाकारो य निन्दाए
तहक्कारो य पडिस्सुए ॥

(५) पूर्वगृहीत द्रव्यों के लिए गुरु आदि को आमन्त्रित करना, 'छन्दना' सामाचारी है।

(६) दूसरों का कार्य अपनी सहज अभिरुचि से करना और अपना कार्य करने के लिए दूसरों को उनकी इच्छानुकूल विनम्र निवेदन करना, 'इच्छाकार' सामाचारी है।

(७) दोष की निवृत्ति के लिए आत्मनिन्दा करना, 'मिथ्याकार' सामाचारी है।

(८) गुरुजनों के उपदेश को स्वीकार करना, 'तथाकार' सामाचारी है।

७. अब्भुट्ठाणं गुरुपूया
अच्छणे उवसंपदा।
एवं दु-पंच—संजुत्ता
सामायारी पवेइया ॥

(९) गुरुजनों की पूजा अर्थात् सत्कार के लिए आसन से उठकर खड़ा होना, 'अभ्युत्थान' सामाचारी है।

(१०) किसी विशिष्ट प्रयोजन से दूसरे आचार्य के पास रहना, 'उपसम्पदा' सामाचारी है।

इस प्रकार दशांग-समाचारी का निरूपण किया गया है।

औत्सर्गिक दिनकृत्य—

८. पुव्विल्लंमि चउब्भाए
आइच्चंमि समुट्ठिए ।
भण्डयं पडिलेहित्ता
वन्दित्ता य तओ गुरुं ॥

सूर्योदय होने पर दिन के प्रथम प्रहर के प्रथम चतुर्थ भाग में भाण्ड—उपकरणों का प्रतिलेखन कर गुरु को वन्दना कर—

९. पुच्छेज्जा पंजलिउडो
किं कायव्वं मए इहं ? ।
इच्छं निओइउं भन्ते !
वेयावच्चे व सज्झाए ॥

हाथ जोड़कर पूछे कि—"अब मुझे क्या करना चाहिए ? भन्ते ! मैं चाहता हूँ, मुझे आप आज स्वाध्याय में नियुक्त करते हैं, अथवा वैयावृत्य—सेवा में।"

१०. वेयावच्चे निउत्तेणं
कायव्वं अगिलायओ ।
सज्झाए वा निउत्तेणं
सव्वदुक्खविमोक्खणे ॥

वैयावृत्य में नियुक्त किए जाने पर ग्लानि से रहित होकर सेवा करे। अथवा सभी दुःखों से मुक्त करने वाले स्वाध्याय में नियुक्त किए जाने पर ग्लानि से रहित होकर स्वाध्याय करे।

११. दिवसस्स चउरो भागे
कुज्जा भिक्खू वियक्खणो ।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा
दिणभागेसु चउसु वि ॥

विचक्षण भिक्षु दिन के चार भाग करे। उन चारों भागों में स्वाध्याय आदि गुणों की आराधना करे।

१२. पढमं पोरिसिं सज्झायं
बीयं झाणं झियायई ।
तइयाए भिक्खायरियं
पुणो चउत्थीए सज्झायं ॥

प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करे, दूसरे में ध्यान करे, तीसरे में भिक्षाचरी और चौथे में पुनः स्वाध्याय करे।

पौरुषी परिज्ञान—

१३. आसाढे मासे दुपया
पोसे मासे चउप्पया ।
चित्तासोएसु मासेसु
तिपया हवइ पोरिसी ॥

आषाढ़ महीने में द्विपदा (दो पैर की) पौरुषी होती है। पौष महीने में चतुष्पदा और चैत्र एवं आश्विन महीने में त्रिपदा पौरुषी होती है।

१४. अंगुलं सत्तरत्तेणं
पक्खेण य दुअंगुलं ।
वड्ढए हायए वावी
मासेणं चउरंगुलं ॥

सात रात में एक अंगुल, पक्ष में दो अंगुल और एक मास में चार अंगुल की वृद्धि और हानि होती है। (श्रावण से पौष मास तक वृद्धि होती है और माघ से आषाढ़ तक हानि होती है।)

१५. आसाढबहुलपक्खे
भद्दवए कत्तिए य पोसे य ।
फग्गुण-वइसाहेसु य
नायव्वा ओमरत्ताओ ॥

आषाढ़, भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन, और वैशाख के कृष्ण पक्ष में एक-एक अहो रात्रि (तिथि) का क्षय होता है।

१६. जेट्ठामूले आसाढ-सावणे
छहिं अंगुलेहिं पडिलेहा ।
अट्ठहिं बीय-तियंमी
तइए दस अट्ठहिं चउत्थे ॥

ज्येष्ठ, आषाढ़ और श्रावण—इस प्रथम त्रिक में छह अंगुल; भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक—इस द्वितीय त्रिक में आठ अंगुल, तथा मृगशिर, पौष और माघ—इस तृतीय त्रिक में दस अंगुल; और फाल्गुन, चैत्र, वैसाख—इस चतुर्थ त्रिक में आठ अंगुल की वृद्धि करने से प्रतिलेखन का पौरुषी समय होता है।

औत्सर्गिक रात्रिकृत्य—

१७. रत्तिं पि चउरो भागे
भिक्खू कुज्जा वियक्खणो ।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा
राइभाएसु चउसु वि ॥

विचक्षण भिक्षु रात्रि के भी चार भाग करे। उन चारों भागों में उत्तर-गुणों की आराधना करे।

१८. पढमं पोरिसि सज्झायं
बीयं झाणं झियायई ।
तइयाए निद्दमोक्खं तु
चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं ॥

प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में नींद और चौथे में पुनः स्वाध्याय करे।

१९. जं नेइ जया रत्तिं
नक्खत्तं तंमि नहचउब्भाए ।
संपत्ते विरमेज्जा
सज्झायं पओसकालम्मि ॥

जो नक्षत्र जिस रात्रि की पूर्ति करता हो, वह जब आकाश के प्रथम चतुर्थ भाग में आ जाता है, अर्थात् रात्रि का प्रथम प्रहर समाप्त होता है, तब वह 'प्रदोष-काल' होता है, उस काल में स्वाध्याय से

२०. तम्मेव य नक्खत्ते
गयणचउब्भागसावसेसंमि ।
वेरत्तियं पि कालं
पडिलेहित्ता मुणी कुज्जा ॥

वही नक्षत्र जब आकाश के अन्तिम चतुर्थ भाग में आता है, अर्थात् रात्रि का अन्तिम चौथा प्रहर आ जाता है, तब उसे 'वैरात्रिक काल' समझकर मुनि स्वाध्याय मे प्रवृत्त हो ।

विशेष दिनकृत्य—

२१. पुव्विल्लंमि चउब्भाए ।
पडिलेहित्ताण भण्डयं ।
गुरुं वन्दित्तु सज्झायं
कुज्जा दुक्खविमोक्खणं ॥

दिन के प्रथम प्रहर के प्रथम चतुर्थ भाग में पात्रादि उपकरणों का प्रतिलेखन कर, गुरु को वन्दना कर, दुःख से मुक्त करने वाला स्वाध्याय करे ।

२२. पोरिसीए चउब्भाए
वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
अपडिक्कमित्ता कालस्स
भायणं पडिलेहए ॥

पौरुषी के चतुर्थ भाग में, अर्थात् पौन पौरुषी बीत जाने पर गुरु को वन्दना कर, काल का प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) किए बिना ही भाजन का प्रतिलेखन करे ।

प्रतिलेखना की विधि—

३. मुहपोत्तियं पडिलेहित्ता
पडिलेहिज्ज गोच्छगं ।
गोच्छगलइयंगुलिओ
वत्थाइं पडिलेहए ॥

मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर गोच्छग का प्रतिलेखन करे । अंगुलियों से गोच्छग को पकड़कर वस्त्र का प्रतिलेखन करे ।

४. उड्ढं थिरं अतुरियं
पुव्वं ता वत्थमेव पडिलेहे ।
तो बिइयं पप्फोडे
तइयं च पुणो पमज्जेज्जा ॥

सर्वप्रथम ऊकडू आसन से बैठे, फिर वस्त्र को ऊँचा रखे, स्थिर रखे और शीघ्रता किए बिना उसका प्रतिलेखन करे—चक्षु से देखे । दूसरे में वस्त्र को धीरे से झटकाए और तीसरे में वस्त्र का प्रमार्जन करे ।

प्रतिलेखन के दोष—

. अणच्चावियं अवलियं
अणाणुबन्धि अमोसलिं चेव ॥
छप्पुरिमा नव खोडा
पाणीपाणविसोहणं ॥

प्रतिलेखन के समय वस्त्र या शरीर को न नचाए, न मोड़े, वस्त्र को दृष्टि से अलक्षित न करे, वस्त्र का दिवार आदि से स्पर्श न होने दे । वस्त्र के छह पूर्व और नौ खोटक करे । जो कोई प्राणी हो, उसका विशोधन करे ।

२६. आरभडा सम्मद्दा
वज्जेयव्वा य मोसली तइया।
पप्फोडणा चउत्थी
विक्खित्ता वेइया छट्ठा॥

प्रतिलेखन के छह दोष—

(१) आरभटा—निर्दिष्ट विधि से विपरीत प्रतिलेखन करना, अथवा एक वस्त्र का पूरी तरह प्रतिलेखन किए बिना ही बीच में दूसरे वस्त्र की प्रतिलेखना में लग जाना।

(२) सम्मर्दा—प्रतिलेखन करते समय वस्त्र को इस तरह पकड़ना कि उसके कोने हवा में हिलते रहें, उसमें सलवटें पड़ती रहें, अथवा उस पर बैठ हुए प्रतिलेखन करना।

(३) मोसली—प्रतिलेखन करते हुए वस्त्र को ऊपर-नीचे, इधर-उधर किसी अन्य वस्त्र या पदार्थ से संघट्टित करते रहना।

(४) प्रस्फोटना—धूलिधूसरित वस्त्र को जोर से झटकना।

(५) विक्षिप्ता—प्रतिलेखित वस्त्र को अप्रतिलेखित वस्त्रों में रख देना अथवा वस्त्र को इतना अधिक ऊँचा उठा लेना कि ठीक तरह प्रतिलेखना न हो सके।

(६) वेदिका—प्रतिलेखना करते हुए घुटनों के ऊपर-नीचे या बीच में दोनो हाथ रखना, अथवा दोनों भुजाओ के बीच घुटनों को रखना, या एक घुटना भुजाओं में और दूसरा बाहर रखना।

२७. पसिढिल-पलम्ब-लोला
एगामोसा अणेगरूवधुणा।
कुणइ पमाणि पमायं
संकिए गणणोवगं कुज्जा॥

(७) प्रशिथिल—वस्त्र को ढीला पकड़ना।

(८) प्रलम्ब—वस्त्र को इस तरह पकड़ना कि उसके कोने नीचे लटकते रहें।

(९) मोसली—प्रतिलेख्यमान वस्त्र को भूमि से या हाथ से संघर्षण करना।

(१०) एकामर्शा—वस्त्र को बीच में से पकड़ कर एक दृष्टि में ही समूचे वस्त्र को देख जाना।

(११) अनेकरूपधूनना—वस्त्र को अनेक बार (तीन बार से अधिक) झटकना अथवा अनेक वस्त्रों को एक साथ एक बार में ही झटकना।

(१२) प्रमाणप्रमाद — प्रस्फोटन (झटकना) और प्रमार्जन का जो प्रमाण (नौ-नौ बार) बताया है, उसमें प्रमाद करना।

(१३) गणनोपगणना—प्रस्फोटन और प्रमार्जन के निर्दिष्ट प्रमाण में शंका के कारण हाथ की अंगुलियों की पर्व रेखाओं से गिनती करना।

अणूणाइरित्तपडिलेहा
अविवच्चासा तहेव य।
पढमं पयं पसत्थं
सेसाणि उ अप्पसत्थाइं॥

प्रस्फोटन और प्रमार्जन के प्रमाण से अन्यून, अनतिरिक्त (न कम और न अधिक) तथा अविपरीत प्रतिलेखना ही शुद्ध होती है। उक्त तीन विकल्पों के आठ विकल्प होते हैं, उनमें प्रथम विकल्प—भेद ही शुद्ध है, शेष अशुद्ध हैं।

पडिलेहणं कुणन्तो
मिहोकहं कुणइ जणवयकहं वा।
देइ व पच्चक्खाणं
वाएइ सयं पडिच्छइ वा॥

प्रतिलेखन करते समय जो परस्पर वार्तालाप करता है, जनपद की कथा करता है, प्रत्याख्यान कराता है, दूसरों को पढ़ाता है अथवा स्वयं पढ़ता है—

पुढवीआउक्काए
तेऊवाऊवणस्सइतसाणं।
पडिलेहणापमत्तो
छण्हं पि विराहओ होइ॥

वह प्रतिलेखना में प्रमत्त मुनि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—छहों कायों का विराधक—हिंसक होता है।

३१. पुढवी-आउक्काए
तेऊ-वाऊ—वणस्सइ-तसाणं ।
पडिलेहणाआउत्तो
छण्हं आराहओ होइ ॥

प्रतिलेखन में अप्रमत्त मुनि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, तथा त्रस काय—छहों कायों का आराधक—रक्षक होता है।

तृतीय पौरुषी—

३२. तइयाए पोरिसीए
भत्तं पाणं गवेसए ।
छण्हं अन्नयरागम्मि
कारणंमि समुट्ठिए ॥

छह कारणों में से किसी एक कारण के उपस्थित होने पर तीसरे प्रहर में भक्त-पान की गवेषणा करे।

३३. वेयण—वेयावच्चे
इरियट्ठाए य संजमट्ठाए ।
तह पाणवत्तियाए
छट्ठं पुण धम्मचिन्ताए ॥

क्षुधा-वेदना की शान्ति के लिए, वैयावृत्य के लिए, ईर्यासमिति के पालन के लिए, संयम के लिए, प्राणों की रक्षा के लिए और धर्मचिंतन के लिए भक्तपान की गवेषणा करे।

३४. निग्गन्थो धिइमन्तो
निग्गन्थी वि न करेज्ज छहिं चेव ।
ठाणेहिं उ इमेहिं
अणइक्कमणा य से होइ ॥

धृति-सम्पन्न साधु और साध्वी इन छह कारणों से भक्त-पान की गवेषणा न करे, जिससे संयम का अतिक्रमण न हो।

३५. आयंके उवसग्गे
तितिक्खया बम्भचेरगुत्तीसु ।
पाणिदया तवहेउं
सरीर— वोच्छेयणट्ठाए ॥

रोग होने पर, उपसर्ग आने पर, ब्रह्मचर्य गुप्ति की सुरक्षा के लिए, प्राणियों की दया के लिए, तप के लिए और शरीर-विच्छेद के लिए मुनि भक्त-पान की गवेषणा न करे।

३६. अवसेसं भण्डगं गिज्झा
चक्खुसा पडिलेहए ।
परमद्धजोयणाओ
विहारं विहरए मुणी ॥

सब उपकरणों का आँखों से प्रतिलेखन करे, और उन्हें लेकर आवश्यक हो, तो दूसरे गाँव में मुनि आधे योजन की दूरी तक भिक्षा के लिए जाए।

चतुर्थ पौरुषी—

३७. चउत्थीए पोरिसीए
निक्खिवित्ताण भायणं ।
सज्झायं तओ कुज्जा
सव्वभावविभावणं ॥

चतुर्थ प्रहर में प्रतिलेखना कर सभी पात्रों को बाँध कर रख दे। उसके बाद जीवादि सब भावों का प्रकाशक स्वाध्याय करे।

३८. पोरिसीए चउब्भाए
वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
पडिक्कमित्ता कालस्स
सेज्जं तु पडिलेहए ॥

पौरुषी के चौथे भाग में गुरु को वन्दना कर, काल का प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) कर शय्या का प्रतिलेखन करे।

३९. पासवणुच्चारभूमिं च
पडिलेहिज्ज जयं जई ।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा
सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥

दैवसिक-प्रतिक्रमण—

यतना में प्रयत्नशील मुनि फिर प्रस्रवण और उच्चार-भूमिका प्रतिलेखन करे। उसके बाद सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

४०. देसियं च अईयारं
चिन्तिज्ज अणुपुव्वसो ।
नाणे य दंसणे चेव
चरित्तम्मि तहेव य ॥

ज्ञान, दर्शन और चारित्र से सम्बन्धित दिवस-सम्बन्धी अतिचारों का अनुक्रम से चिन्तन करे।

४१. पारियकाउस्सग्गो
वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
देसियं तु अईयारं
आलोएज्ज जहक्कमं ॥

कायोत्सर्ग को पूर्ण करके गुरु को वन्दना करे। तदनन्तर अनुक्रम से दिवस-सम्बन्धी अतिचारों की आलोचना करे।

४२. पडिक्कमित्तु निस्सल्लो
वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा
सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥

प्रतिक्रमण कर, निःशल्य होकर गुरु को वन्दना करे। उसके बाद सब दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

४३. पारियकाउस्सग्गो
वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
थुइमंगलं च काऊण
कालं संपडिलेहए ॥

कायोत्सर्ग पूरा करके गुरु को वन्दना करे। फिर स्तुतिमंगल (सिद्धस्तव) करके काल का प्रतिलेखन करे।

रात्रिक कृत्य एवं प्रतिक्रमण—

४४. पढमं पोरिसिं सज्झायं
बीयं झाणं झियायई ।
तइयाए निद्दमोक्खं तु
सज्झायं तु चउत्थिए ॥

प्रथम पहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में नींद और चौथे में पुनः स्वाध्याय करे।

४५. पोरिसीए चउत्थीए
कालं तु पडिलेहिया ।
सज्झायं तओ कुज्जा
अबोहेन्तो असंजए ॥

चौथे प्रहर में कालका प्रतिलेखन कर असंयत व्यक्तियों को न जगाता हुआ स्वाध्याय करे ।

४६. पोरिसीए चउब्भाए
वन्दिऊण तओ गुरुं ।
पडिक्कमित्तु कालस्स
कालं तु पडिलेहए ॥

चतुर्थ प्रहर के चौथे भाग में गुरु को वन्दना कर, काल का प्रतिक्रमण कर, काल का प्रतिलेखन करे ।

४७. आगए कायवोस्सग्गे
सव्वदुक्खविमोक्खणे ।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा
सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥

सब दुःखों से मुक्त करने वाले कायोत्सर्ग का समय होने पर सब दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे ।

४८. राइयं च अईयारं
चिन्तिज्ज अणुपुव्वसो ।
नाणंमि दंसणंमी
चरित्तंमि तवंमि य ॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप से सम्बन्धित रात्रि-सम्बन्धी अतिचारों का अनुक्रम से चिन्तन करे ।

४९. पारियकाउस्सग्गो
वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
राइयं तु अईयारं
आलोएज्ज जहक्कमं ॥

कायोत्सर्ग को पूरा कर, गुरु को को वन्दना करे । फिर अनुक्रम से रात्रि-सम्बन्धी अतिचारों की आलोचना करे ।

५०. पडिक्कमित्तु निस्सल्लो
वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा
सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥

प्रतिक्रमण कर, निःशल्य होकर गुरु को वन्दना करे । तदनन्तर सब दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे ।

५१. किं तवं पडिवज्जामि
एवं तत्थ विचिन्तए ।
काउस्सग्गं तु पारित्ता
वन्दई य तओ गुरुं ॥

कायोत्सर्ग में चिन्तन करे कि "मैं आज किस तप को स्वीकार करूं" ।

कायोत्सर्ग को समाप्त कर गुरु को वन्दना करे ।

५२. पारियकाउस्सग्गो
वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
तवं संपडिवज्जेत्ता
करेज्ज सिद्धाण संथवं ॥

कायोत्सर्ग पूरा होने पर गुरु को वन्दना करे। उसके बाद यथोचित तप को स्वीकार कर सिद्धों की स्तुति करे।

५३. एसा सामायारी
समासेण वियाहिया ।
जं चरित्ता बहू जीवा
तिण्णा संसारसागरं ॥

संक्षेप में यह सामाचारी कही है। इसका आचरण कर बहुत से जीव संसार-सागर को तैर गये हैं।

—त्ति बेमि ।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

●

२७

खलुंकीय

अनुशासन आवश्यक है—संघ-व्यवस्था के लिए !

गर्ग गोत्रीय 'गार्ग्य' मुनि अपने समय के योग्य आचार्य थे। संयम-साधना में निपुण थे। स्वाध्यायशील थे और योग्य गुरु थे। किन्तु उनके शिष्य उद्दण्ड, स्वच्छंदी और अविनीत थे। शिष्यों के अनुशासनहीन अभद्र व्यवहार से अपनी समत्व साधना में विघ्न आता देखकर गार्ग्य ने उन्हें छोड़ दिया और अकेले हो गए। आचार्य के समक्ष और कोई मार्ग नहीं था, क्योंकि समाधि और आत्मभाव में सहायक होना ही साधक के लिए साथी की उपयोगिता है।

प्रथम अध्ययन की तरह ही इसमें विनय और अविनय की व्याख्या दी है। वस्तुतः अनुशासन और अनुशासनहीनता क्रमशः विनय और अविनय का ही अंग है। जो साधक अनुशासन की उपेक्षा करता है, वह अपने समुज्ज्वल वर्तमान और भविष्य को खो देता है।

अनुशासनहीन अविनीत शिष्य उस खलुंक (दुष्ट) बैल की तरह होता है, जो मार्ग में गाड़ी को तोड़ देता है और मालिक को कष्ट पहुँचाता है। वह बात-बात पर आचार्य के साथ लड़ने-झगड़ने वाला और उनकी निंदा करने वाला होता है।

अविनीत शिष्य के लिए उत्तराध्ययन निर्युक्ति में दंशमसक, जलौका, वृश्चिक आदि की उपमाएँ दी हैं, जो उसके उच्छृंखल एवं पीडक-भाव को सूचित करती हैं।

●

सत्तावीसइमं अज्झयणं : सप्तविंश अध्ययन

खलुंकिज्जं : खलुंकीय

मूल

1. थेरे गणहरे गग्गे
मुणी आसि विसारए ।
आइण्णे गणिभावम्मि
समाहिं पडिसंधए ॥

2. वहणे वहमाणस्स
कन्तारं अइवत्तई ।
जोए वहमाणस्स
संसारो अइवत्तई ॥

3. खलुंके जो उ जोएइ
विहम्माणो किलिस्सई ।
असमाहिं च वेएइ
तोत्तओ य से भज्जई ॥

4. एगं डसइ पुच्छंमि
एगं विन्धइऽभिक्खणं ।
एगो भंजइ समिलं
एगो उप्पहपट्ठिओ ॥

हिन्दी अनुवाद

गर्ग कुल में उत्पन्न 'गार्ग्य' मुनि स्थविर, गणधर और विशारद था, गुणों से युक्त था। गणि-भाव में स्थित था और समाधि में अपने को जोड़े हुए था।

शकटादि वाहन को ठीक तरह वहन करने वाला बैल जैसे कान्तार—जंगल को सुखपूर्वक पार करता है, उसी तरह योग—संयम में संलग्न मुनि संसार को पार कर जाता है।

जो खलुंक (दुष्ट) बैलों को जोतता है, वह उन्हें मारता हुआ क्लेश पाता है, असमाधि का अनुभव करता है और अन्ततः उसका चाबुक भी टूट जाता है।

वह क्षुब्ध हुआ वाहक किसी की पूँछ काट देता है, तो किसी को बार-बार बींधता है। और उन बैलों में से कोई एक समिला—जुए की कील को तोड़ देता है, तो दूसरा उन्मार्ग पर चल पड़ता है।

५. एगे पडइ पासेणं
निवेसइ निवज्जई।
उक्कुद्दइ उप्फिडई
सढे बालगवी वए॥

कोई मार्ग के एक ओर पार्श्व (बगल) में गिर पड़ता है, कोई बैठ जाता है, कोई लेट जाता है। कोई कूदता है, कोई उछलता है, तो कोई शठ बालगवी—तरुण गाय के पीछे भाग जाता है।

६. माई मुद्धेण पडई
कुद्धे गच्छइ पडिप्पहं।
मयलक्खेण चिट्ठई
वेगेण य पहावई॥

कोई धूर्त बैल सिर को निढाल बनाकर भूमि पर गिर जाता है। कोई क्रोधित होकर प्रतिपथ-उन्मार्ग में चला जाता है। कोई मृतक-सा पड़ा रहता है, तो कोई वेग से दौड़ने लगता है।

७. छिन्नाले छिन्दई सेल्लिं
दुद्दन्तो भंजए जुगं।
से वि य सुस्सुयाइत्ता
उज्जाहित्ता पलायए॥

कोई छिन्नाल—दुष्ट बैल रास को छिन्न-भिन्न कर देता है। दुर्दान्त होकर जुए को तोड़ देता है। और सूं-सूं आवाज करके वाहन को छोड़कर भाग जाता है।

८. खलुंका जारिसा जोज्जा
दुस्सीसा वि हु तारिसा।
जोइया धम्मजाणम्मि
भज्जन्ति धिइदुब्बला॥

अयोग्य बैल जैसे वाहन को तोड़ देते हैं, वैसे ही धैर्य में कमजोर शिष्यों को धर्म-यान में जोतने पर वे भी उसे तोड़ देते हैं।

९. इड्ढीगारविए एगे
एगेऽत्थ रसगारवे।
सायागारविए एगे
एगे सुचिरकोहणे॥

कोई ऋद्धि—ऐश्वर्य का गौरव (अहंकार) करता है, कोई रस का गौरव करता है, कोई सात—सुख का गौरव करता है, तो कोई चिरकाल तक क्रोध करता है।

१०. भिक्खालसिए एगे
एगे ओमाणभीरुए थद्धे।
एगं च अणुसासम्मी
हेऊहिं कारणेहि य॥

कोई भिक्षाचरी में आलस्य करता है, कोई अपमान से डरता है, तो कोई स्तब्ध है—ढीठ है। हेतु और कारणों से गुरु कभी किसी को अनुशासित करता है तो—

११. सो वि अन्तरभासिल्लो
दोसमेव पकुव्वई।
आयरियाणं तं वयणं
पडिकूलेइ अभिक्खणं।

वह बीच में ही बोलने लगता है, आचार्य के वचन में दोष निकालता है। तथा बार-बार उनके वचनों के प्रतिकूल आचरण करता है।

१२. न सा ममं वियाणाइ
न वि सा मज्झ दाहिई।
निग्गया होहिई मन्ने
साहू अन्नोऽत्थ वच्चउ॥

भिक्षा लाने के समय कोई शिष्य गृहस्वामिनी के सम्बन्ध में कहता है—वह मुझे नहीं जानती है, वह मुझे नहीं देगी। मैं मानता हूँ—वह घर से बाहर गई होगी, अतः इसके लिए कोई दूसरा साधु चला जाए।

१३. पेसिया पलिउंचन्ति
ते परियन्ति समन्तओ।
रायवेट्ठिं व मन्नन्ता
करेन्ति भिउडिं मुहे॥

किसी प्रयोजनविशेष से भेजने पर वे बिना कार्य किए लौट आते हैं और अपलाप करते हैं। इधर-उधर घूमते हैं। गुरु की आज्ञा को राजा के द्वारा ली जाने वाली वेष्टि—बेगार की तरह मानकर मुख पर भृकुटि तान लेते हैं।

१४. वाइया संगहिया चेव
भत्तपाणे य पोसिया।
जायपक्खा जहा हंसा
पक्कमन्ति दिसोदिसिं॥

जैसे पंख आने पर हंस विभिन्न दिशाओं में उड़ जाते हैं, वैसे ही शिक्षित एवं दीक्षित किए गए, भक्त-पान से पोषित किए गए कुशिष्य भी अन्यत्र चले जाते हैं।

१५. अह सारही विचिन्तेइ
खलुंकेहिं समागओ।
किं मज्झ दुट्ठसीसेहिं
अप्पा मे अवसीयई॥

अविनीत शिष्यों से खिन्न होकर धर्मयान के सारथी आचार्य सोचते हैं—"मुझे इन दुष्ट शिष्यों से क्या लाभ? इनसे तो मेरी आत्मा अवसन्न—व्याकुल ही होती है।"

१६. जारिसा मम सीसाउ
तारिसा गलिगद्दहा।
गलिगद्दहे जहित्ताणं
दढं परिगिण्हइ तवं

जैसे गलिगर्दभ अर्थात् आलसी निकम्मे गधे होते हैं, वैसे ही ये मेरे शिष्य हैं।" यह विचार कर गर्गाचार्य गलिगर्दभ-रूप शिष्यों को छोड़कर दृढ़ता से तप-साधना में लग गए।

१७. मिउ — मद्दवसंपन्ने गम्भीरे सुसमाहिए । विहरइ महिं महप्पा सीलभूएण अप्पणा ॥	वह मृदु और मार्दव से सम्पन्न, गम्भीर, सुसमाहित और शील-सम्पन्न महान् आत्मा गर्ग पृथ्वी पर विचरने लगे ।
—त्ति बेमि ।	—ऐसा मैं कहता हूँ ।

२८

मोक्षमार्ग-गति

साधक की यात्रा दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप से आरम्भ होकर दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की पूर्णता में समाप्त होती है।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप मोक्षगति के साधन हैं और इन साधनों की पूर्णता ही मोक्ष है।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष—इन नव तत्त्वों के *यथार्थ स्वरूप की सम्यक् श्रद्धा 'दर्शन' है। नव तत्त्वों का सम्यक्* बोध 'ज्ञान' है। रागादि आश्रवों का निग्रह—संवरण होना 'चारित्र' है, और आत्मोन्मुख तपनक्रियारूप विशिष्ट जीवनशुद्धि तप है, जिससे पूर्व संचित कर्मों का अंशतः क्षय होता है। ज्ञान के पांच प्रकार हैं, दर्शन की दस रुचियाँ हैं, चारित्र के पांच प्रकार है तथा बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से तप के दो भेद है।

यह निरूपण व्यवहार की अपेक्षा से है। निश्चय नय की अपेक्षा से तो आत्मस्वरूप की प्रतीति दर्शन है। स्वरूप-बोध ज्ञान है। स्वयं में स्वयं की संलीनता चारित्र है। इच्छा-निरोध तप है।

प्रथम दर्शन होता है, उसके बाद ज्ञान होता है तथा दर्शन और ज्ञान के बाद ही चारित्र एवं तप आता है। चारित्र और तप के बाद मोक्ष होता है। मात्र ज्ञान से अथवा केवल आचार से मुक्ति नहीं होती है, किन्तु ज्ञान और आचार के सम्यक् समन्वय से मुक्ति होती है। कहीं-कहीं प्रथम ज्ञान का उल्लेख है, किन्तु विशुद्ध दार्शनिक मीमांसा के अनुसार प्रथम दर्शन का ही उल्लेख है, क्योंकि सम्यग् दर्शन से ही अज्ञान सम्यग् ज्ञान होता है।

●

अट्ठावीसइमं अज्झयणं : अष्टाविंश अध्ययन

मोक्खमग्गगई : मोक्ष-मार्ग-गति

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. मोक्खमग्गगइं तच्चं सुणेह जिणभासियं । चउकारणसंजुत्तं नाण-दंसणलक्खणं ॥	ज्ञानादि चार कारणो से युक्त, ज्ञान-दर्शन लक्षण स्वरूप, जिनभाषित, सत्य—सम्यक् मोक्ष-मार्ग की गति को सुनो ।
२. नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा । एस मग्गो त्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं ॥	वरदर्शी—सत्य के सम्यग् द्रष्टा जिन-वरों ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को मोक्ष का मार्ग बतलाया है ।
३. नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा । एयं मग्गमणुप्पत्ता जीवा गच्छन्ति सोग्गइं ॥	ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के मार्ग पर आरूढ हुए जीव सद्गति को—पवित्र स्थिति को प्राप्त करते हैं ।
४. तत्थ पंचविहं नाणं सुयं आभिनिबोहियं । ओहीनाणं तइयं मणनाणं च केवलं ॥	उन चारों मे ज्ञान पांच प्रकार का है—श्रुत ज्ञान, आभिनिबोधिक (मति) ज्ञान, अवधि ज्ञान, मनोज्ञान (मन: पर्याय ज्ञान) और केवल ज्ञान ।
५. एयं पंचविहं नाणं दव्वाण य गुणाण य । पज्जवाणं च सव्वेसिं नाणं नाणीहि देसियं ॥	यह पांच प्रकार का ज्ञान सब द्रव्य, गुण और पर्यायों का ज्ञान (अवबोधक) है, जानने वाला है—ऐसा ज्ञानियों ने कहा है ।

६. गुणाणमासओ दव्वं
एगदव्वस्सिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु ।
उभओ अस्सिया भवे ॥

द्रव्य गुणों का आश्रय है, आधार है। जो प्रत्येक द्रव्य के आश्रित रहते हैं, वे गुण होते हैं। पर्यव अर्थात् पर्यायों का लक्षण दोनों के अर्थात् द्रव्य और गुणों के आश्रित रहना है ।

७. धम्मो अहम्मो आगासं
कालो पुग्गल-जन्तवो ।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो
जिणेहिं वरदंसिहिं ॥

वरदर्शी जिनवरों ने धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव-यह छह द्रव्यात्मक लोक कहा है ।

८. धम्मो अहम्मो आगासं
दव्वं इक्किक्कमाहियं ।
अणन्ताणि य दव्वाणि
कालो पुग्गल-जन्तवो ॥

धर्म, अधर्म और आकाश-ये तीनों द्रव्य संख्या मे एक-एक हैं । काल, पुद्गल और जीव—ये तीनों द्रव्य अनन्त-अनन्त हैं।

९. गइलक्खणो उ धम्मो
अहम्मो ठाणलक्खणो ।
भायणं सव्वदव्वाणं
नहं ओगाहलक्खणं ॥

गति (गति मे हेतुता) धर्म का लक्षण है, स्थिति (स्थिति होने में हेतु) अधर्म का लक्षण है, सभी द्रव्यों का भाजन (आधार) अवगाहलक्षण आकाश है ।

१०. वत्तणालक्खणो कालो
जीवो उवओगलक्खणो ।
नाणेणं दंसणेणं च
सुहेण य दुहेण य ॥

वर्तना (परिवर्तन) काल का लक्षण है। उपयोग (चेतनाव्यापार) जीव का लक्षण है, जो ज्ञान (विशेष बोध), दर्शन (सामान्य बोध), सुख और दुःख से पहचाना जाता है ।

११. नाणं च दंसणं चेव
चरित्तं च तवो तहा ॥
वीरियं उवओगो य
एयं जीवस्स लक्खणं ॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग—ये जीव के लक्षण हैं ।

१२. सद्दऽन्धयार-उज्जोओ
पहा छायाऽऽतवे इ वा ।
वण्ण-रस-गन्ध-फासा
पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥

शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप, वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श—ये पुद्गल के लक्षण हैं।

१३. एगत्तं च पुहत्तं च
संखा संठाणमेव य ।
संजोगा य विभागा य
पज्जवाणं तु लक्खणं ॥

एकत्व, पृथक्त्व—भिन्नत्व, संख्या, संस्थान-आकार, संयोग और विभाग—ये पर्यायों के लक्षण हैं ।

१४. जीवाजीवा य बन्धो य
पुण्णं पावासवो तहा ।
संवरो निज्जरा मोक्खो
सन्तेए तहिया नव ॥

जीव, अजीव, बन्ध (जीव और कर्म का संश्लेष), पुण्य (शुभभाव), पाप (अशुभ भाव) आश्रव (शुभाशुभकर्म बन्ध के हेतु रागादि), संवर (आश्रव-निरोध), निर्जरा (पूर्वबद्ध कर्मों का देशक्षय) और मोक्ष (पूर्णरूप से कर्मक्षय)—ये नौ तत्त्व हैं ।

१५. तहियाणं तु भावाणं
सब्भावे उवएसणं ।
भावेणं सद्दहंतस्स
सम्मत्तं तं वियाहियं ॥

इन तथ्यस्वरूप भावों के सद्भाव (अस्तित्व) के निरूपण में जो भावपूर्वक श्रद्धा है, उसे सम्यक्त्व कहते हैं ।

१६. निसग्गुवएसरुई
आणारुई सुत्त-बीयरुइमेव ।
अभिगम-वित्थाररुई
किरिया-संखेव-धम्मरुई ॥

सम्यक्त्व के दस प्रकार हैं—निसर्ग-रुचि, उपदेश-रुचि, आज्ञा-रुचि, सूत्र-रुचि, बीज-रुचि, अभिगम-रुचि, विस्तार-रुचि, क्रिया-रुचि, संक्षेप-रुचि और धर्म-रुचि ।

१७. भूयत्थेणाहिगया
जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
सहसम्मुइयासवसंवरो य
रोएइ उ निसग्गो ॥

(१) परोपदेश के बिना सहसंमति से अर्थात् स्वयं के ही यथार्थ बोध से अवगत जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव और संवर आदि तत्त्वों की जो रुचि (श्रद्धा) है, वह 'निसर्ग रुचि' है ।

१८. जो जिणदिट्ठे भावे
चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव ।
एमेव नऽन्नह त्ति य
निसग्गरुइ त्ति नायव्वो ॥

जिन भगवान् द्वारा दृष्ट एवं उपदृष्ट भावों में, तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से विशिष्ट पदार्थों के विषय में—'यह ऐसा ही है, अन्यथा नहीं है'—ऐसी जो स्वतः स्फूर्त श्रद्धा है, वह 'निसर्ग रुचि' है ।

१९. एए चेव उ भावे
उवइट्ठे जो परेण सद्दहई।
छउमत्थेण जिणेण व
उवएसरुइ त्ति नायव्वो॥

(२) जो अन्य छद्मस्थ अथवा अर्हत् के उपदेश से जीवादि भावों में श्रद्धान करता है, वह 'उपदेशरुचि' जानना चाहिए।

२०. रागो दोसो मोहो
अन्नाणं जस्स अवगयं होइ।
आणाए रोयंतो
सो खलु आणारुई नाम॥

(३) राग, द्वेष, मोह और अज्ञान जिसके दूर हो गये हैं, उसकी आज्ञा में रुचि रखना, 'आज्ञा रुचि' है।

२१. जो सुत्तमहिज्जन्तो
सुएण ओगाहई उ सम्मत्तं।
अंगेण बाहिरेण व
सो सुत्तरुइ त्ति नायव्वो॥

(४) जो अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य श्रुत का अवगाहन करता हुआ श्रुत से सम्यक्त्व की प्राप्ति करता है, वह 'सूत्र रुचि' जानना चाहिए।

२२. एगेण अणेगाइं
पयाइं जो पसरई उ सम्मत्तं।
उदए व्व तेल्लबिन्दू
सो बीयरुइ त्ति नायव्वो॥

(५) जैसे जल में तेल की बूंद फैल जाती है, वैसे ही जो सम्यक्त्व एक पद (तत्त्व बोध) से अनेक पदों में फैलता है, वह 'बीज रुचि' है।

२३. सो होइ अभिगमरुई
सुयनाणं जेण अत्थओ दिट्ठं।
एक्कारस अंगाइं
पइण्णगं दिट्ठिवाओ य॥

(६) जिसने ग्यारह अंग, प्रकीर्णक, दृष्टिवाद आदि श्रुतज्ञान अर्थ-सहित प्राप्त किया है, वह 'अभिगम रुचि' है।

२४. दव्वाण सव्वभावा
सव्वपमाणेहि जस्स उवलद्धा।
सव्वाहि नयविहीहि य
वित्थाररुइ त्ति नायव्वो॥

(७) समग्र प्रमाणों और नयों से जो द्रव्यो के सभी भावों को जानता है, वह 'विस्तार रुचि' है।

२५. दंसण-नाण-चरित्ते
तव-विणए सच्च-समिइ-गुत्तीसु।
जो किरियाभावरुई
सो खलु किरियारुई नाम॥

(८) दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य, समिति और गुप्ति आदि क्रियाओं में जो भाव से रुचि है, वह 'क्रिया रुचि' है।

२६. अणभिग्गहिय—कुदिट्ठी
संखेवरुइ त्ति होइ नायव्वो।
अविसारओ पवयणे
अणभिग्गहिओ य सेसेसु॥

(९) जो निर्ग्रन्थ-प्रवचन में अकुशल है, साथ ही मिथ्या प्रवचनों से भी अनभिज्ञ है, किन्तु कुदृष्टि का आग्रह न होने के कारण अल्प-बोध से ही जो तत्त्व श्रद्धा वाला है, वह 'संक्षेप रुचि', है।

२७. जो अत्थिकायधम्मं
सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च।
सद्दहइ जिणाभिहियं
सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो॥

(१०) जिन-कथित अस्तिकाय धर्म (धर्मास्तिकाय आदि अस्तिकायों के गुण-स्वाभावादि धर्म) में, श्रुत-धर्म में और चारित्र-धर्म में श्रद्धा करता है, वह 'धर्म-रुचि' वाला है।

२८. परमत्थसंथवो वा
सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वा वि।
वावण्णकुदंसणवज्जणा
य सम्मत्तसद्दहणा॥

परमार्थ को जानना, परमार्थ के तत्त्वद्रष्टाओं की सेवा करना, व्यापन्नदर्शन (सम्यक्त्व भ्रष्ट) और कुदर्शन (मिथ्यात्वी-जनों) से दूर रहना, सम्यक्त्व का श्रद्धान है।

२९. नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं
दंसणे उ भइयव्वं।
सम्मत्त-चरित्ताइं
जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं॥

चारित्र सम्यक्त्व के बिना नहीं होता है, किन्तु सम्यक्त्व चारित्र के बिना हो सकता है। सम्यक्त्व और चारित्र युगपद्-एक साथ भी होते हैं। चारित्र से पूर्व सम्यक्त्व का होना आवश्यक है।

३०. नादंसणिस्स नाणं
नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो
नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥

सम्यकत्व के बिना ज्ञान नहीं होता है, ज्ञान के बिना चारित्र-गुण नहीं होता है। चारित्र-गुण के बिना मोक्ष (कर्मक्षय) नहीं होता है। और मोक्ष के बिना निर्वाण (अनन्त चिदानन्द) नहीं होता है।

३१. निस्संकिय निक्कंखिय
निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह थिरीकरणे
वच्छल्ल पभावणे अट्ठ॥

निःशंका, निष्कांक्षा, निर्विचिकित्सा (धर्म के फल के प्रति सन्देह), अमूढ-दृष्टि (देव, गुरु, शास्त्र और लोक मूढता आदि से रहित) उपबृंहण (गुणीजनों की प्रशंसा से गुणों का परिवर्धन), स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना—ये आठ सम्यक्त्व के अंग हैं।

३२. सामाइयत्थ पढमं
छेओवट्ठावणं भवे बीयं ।
परिहारविसुद्धीयं
सुहुमं तह संपरायं च ॥

चारित्र के पाँच प्रकार हैं—पहला सामायिक, दूसरा छेदोपस्थापनीय, तीसरा परिहारविशुद्धि, चौथा सूक्ष्मसम्पराय और—

३३. अकसायं अहक्खायं
छउमत्थस्स जिणस्स वा ।
एयं चयरित्तकरं
चारित्तं होइ आहियं ॥

पाँचवाँ यथाख्यात चारित्र है, जो सर्वथा कषायरहित होता है। वह छद्मस्थ और केवली—दोनों को होता है। ये चारित्र कर्म के चय (संचय) को रिक्त करते हैं, अतः इन्हें चारित्र कहते हैं।

३४. तवो य दुविहो वुत्तो
बाहिरऽब्भन्तरो तहा ।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो
एवमब्भन्तरो तवो ॥

तप के दो प्रकार हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप छह प्रकार का है, इसी प्रकार आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का है।

३५. नाणेण जाणई भावे
दंसणेण य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाइ
तवेण परिसुज्झई ॥

आत्मा ज्ञान से जीवादि भावों को जानता है, दर्शन से उनका श्रद्धान करता है, चारित्र से कर्म-आश्रव का निरोध करता है, और तप से विशुद्ध होता है।

३६. खवेत्ता पुव्वकम्माइं
संजमेण तवेण य ।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा
पक्कमन्ति महेसिणो ॥
—त्ति बेमि ।

सर्व दुःखों से मुक्त होने के लिए महर्षि संयम और तप के द्वारा पूर्व कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करते हैं।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

२६

सम्यक्त्व-पराक्रम

प्रश्न है, किस बिन्दु से साधना प्रारम्भ करें—संवेग से ? धर्म-श्रद्धा से ? अथवा स्वाध्याय से ? उत्तर है, किसी भी सम्यक् बिन्दु से प्रारम्भ की हुई साधना साध्य की परम ऊँचाई को प्राप्त कराती है। क्योंकि भीतर में साधना की जड़ें प्रत्येक महानता से जुड़ी हुई हैं।

एक सहज जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि संयम, स्वाध्याय, त्याग, संवेग, धर्म श्रद्धा, आलोचना आदि से जीव को क्या प्राप्त होता है ? इनके उद्देश्य क्या है ? प्रस्तुत अध्ययन में उक्त विषयों से सम्बन्धित ७१ प्रश्न और उनके समाधान दिए गए हैं। प्रायः उत्तराध्ययन में चर्चित सभी विषयों पर प्रश्न हैं। अतः कहा जा सकता है कि उत्तराध्ययन में प्ररूपित सम्पूर्ण विषयों का संकलन एक तरह से इस अध्ययन में समाहित है। प्रत्येक विषय की सूक्ष्म चिन्तन के साथ गंभीर चर्चा की गई है। प्रत्येक प्रश्न और उसका समाधान आध्यात्मिक भाव की दिशा में एक स्वतन्त्र विषय है। प्रश्न छोटे हैं, सूत्रात्मक है। उत्तर भी छोटे हैं, किन्तु गंभीर हैं, वैज्ञानिक हैं। जैसे कि प्रश्न है—

संवेग से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

संवेग का साक्षात् सीधा प्रत्यक्ष में कोई फल नहीं बताया है, किन्तु उसके फल की परम्परा का एक दीर्घ चक्र वर्णित है। पूर्व के प्रति उत्तर कार्य और उत्तर के प्रति पूर्व कारण बनता है। इस प्रकार दोनों में कार्य-कारण भाव है। इस प्रकार संवेग की फलश्रुति बहुत गहराई में जाकर स्पष्ट होती है। जैसे—

- संवेग से धर्मश्रद्धा आती है।

धर्मश्रद्धा से जीव तीव्र कषायों से मुक्त होता है।

तीव्र कषायों के अभाव में जीव मिथ्यात्व का बन्ध नहीं करता है।

और अन्त में उसी जन्म में अथवा तीसरे जन्म में मुक्त होता है।

यही बात निर्वेद के सम्बन्ध में है—

- निर्वेद से अनासक्ति आती है।

  इन्द्रियों के विषयों में विरक्ति आती है।

  और उससे आरम्भ एवं परिग्रह का सहज परित्याग होता है।

  अन्त में संसार परिभ्रमण के चक्र से आत्मा मुक्त होता है।

- धर्मश्रद्धा से जीव सुख-सुविधाओ के प्रति उपेक्षा-भाव प्राप्त करता है।

  सुख-सुविधाओं की उपेक्षा से अनगार धर्म को प्राप्त होता है।

  अनगार धर्म को स्वीकार करने से मानसिक दुःखों से मुक्त होता है।

  अन्त में निर्बाध सुख को प्राप्त होता है।

- गुरु और सार्धामिकों की सेवा से कर्तव्यों का पालन होता है।

  गुणग्राहकता आती है।

  गुणग्राहकता से सुगति प्राप्त होती है।

- आलोचना से जीव मिथ्यादर्शन-शल्य को दूर करता है।

  उससे सरलता आती है।

  सरलता से विकारी भावों का विलय होता है।

- आत्म-निन्दा से जीव को पश्चात्ताप होता है।

  पश्चात्ताप से जीव को विशुद्धभाव प्राप्त होता है।

  विशुद्धभाव से मोह नष्ट होता है।

यह प्रश्नोत्तरमाला उत्तराध्ययन सूत्र का सार है। इन ७१ बातों की केवल श्रद्धा, रुचि, प्रतीति ही पर्याप्त नहीं है। इन सब को जीवन के अन्त-स्तल तक गहराई में उतारने की अपेक्षा है। अध्यात्मभाव की अत्यन्त गहराई को स्पर्श करने वाली ये बातें हैं। अतः पूर्णरूप से सम्यक्तया उन्हें जानकर और उनका अपने 'स्व' के साथ प्रगाढ स्पर्श करके ही साधक पूर्णता को प्राप्त हो सकता है।

एगुणतीसइमं अज्झयणं : एकोनत्रिंश अध्ययन

सम्मत्तपरक्कमे : सम्यक्त्व-पराक्रम

मूल	हिन्दी अनुवाद
सू० १—सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं-इह खलु सम्मत्तपरक्कमे नाम अज्झयणे समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइए, जं सम्मं सद्दहित्ता, पत्तियाइत्ता, रोयइत्ता, फासइत्ता, पालइत्ता, तीरइत्ता, किट्टइत्ता, सोहइत्ता, आराहइत्ता, आणाए अणुपालइत्ता बहवे जीवा सिज्झन्ति, बुज्झन्ति, मुच्चन्ति, परिनिव्वायन्ति, सव्वदुक्खाणमन्तं करेन्ति।	आयुष्मन् ! भगवान ने जो कहा है, वह मैंने सुना है। इस 'सम्यकत्व पराक्रम' अध्ययन में काश्यप गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर ने जो प्ररूपणा की है, उसकी सम्यक् श्रद्धा से, प्रतीति से, रुचि से, स्पर्श से, पालन करने से, गहराई पूर्वक जानने से, कीर्तन से, शुद्ध करने से, आराधना करने से, आज्ञानुसार अनुपालन करने से बहुत से जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते है, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं, सब दुःखो का अन्त करते हैं।
तस्स णं अयमट्ठे एवमाहिज्जइ, तं जहा—	उसका यह अर्थ है, जो इस प्रकार कहा जाता है। जैसे कि—
१ संवेगे	संवेग
२ निव्वेए	निर्वेद
३ धम्मसद्धा	धर्म श्रद्धा
४ गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया	गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा
५ आलोयणया	आलोचना
६ निन्दणया	निन्दा

७ गरहणया	गर्हा
८ सामाइए	सामायिक
९ चउव्वीसत्थए	चतुर्विंशति-स्तव
१० वन्दणए	वन्दना
११ पडिक्कमणे	प्रतिक्रमण
१२ काउस्सग्गे	कायोत्सर्ग
१३ पच्चक्खाणे	प्रत्याख्यान
१४ थवथुइमंगले	स्तव-स्तुति मंगल
१५ कालपडिलेहणया	कालप्रतिलेखना
१६ पायच्छित्तकरणे	प्रायश्चित्त
१७ खमावणया	क्षामणा—क्षमापना
१८ सज्झाए	स्वाध्याय
१९ वायणया	वाचना
२० पडिपुच्छणया	प्रतिप्रच्छना
२१ परियट्टणया	परावर्तना—पुनरावृत्ति
२२ अणुप्पेहा	अनुप्रेक्षा—अनुचिन्तन
२३ धम्मकहा	धर्मकथा
२४ सुयस्स आराहणया	श्रुत आराधना
२५ एगग्गमणसंनिवेसणया	मन की एकाग्रता
२६ संजमे	संयम
२७ तवे	तप
२८ वोदाणे	व्यवदान—विशुद्धि
२९ सुहसाए	सुखशात
३० अप्पडिबद्धया	अप्रतिबद्धता
३१ विवित्तसयणासणसेवणया	विविक्त शयनासन सेवन
३२ विणियट्टणया	विनिवर्तना
३३ संभोगपच्चक्खाणे	संभोगप्रत्याख्यान
३४ उवहिपच्चक्खाणे	उपधि-प्रत्याख्यान
३५ आहारपच्चक्खाणे	आहार-प्रत्याख्यान
३६ कसायपच्चक्खाणे	कषाय-प्रत्याख्यान
३७ जोगपच्चक्खाणे	योग-प्रत्याख्यान
३८ सरीरपच्चक्खाणे	शरीर-प्रत्याख्यान
३९ सहायपच्चक्खाणे	सहाय-प्रत्याख्यान

४०	भत्तपच्चक्खाणे	भक्त-प्रत्याख्यान
४१	सब्भावपच्चक्खाणे	सद्भाव-प्रत्याख्यान
४२	पडिरूवया	प्रतिरूपता
४३	वेयावच्चे	वैयावृत्य
४४	सव्वगुणसंपण्णया	सर्वगुण-संपन्नता
४५	वीयरागया	वीतरागता
४६	खन्ती	क्षान्ति
४७	मुत्ती	निर्लोभता
४८	अज्जवे	आर्जव-ऋजुता
४९	मद्दवे	मार्दव-मृदुता
५०	भावसच्चे	भाव-सत्य
५१	करणसच्चे	करण-सत्य
५२	जोगसच्चे	योग-सत्य
५३	मणगुत्तया	मनोगुप्ति
५४	वयगुत्तया	वचन गुप्ति
५५	कायगुत्तया	काय गुप्ति
५६	मणसमाधारणया	मनः-समाधारणा
५७	वयसमाधारणया	वाक्-समाधारणा
५८	कायसमाधारणया	काय-समाधारणा
५९	नाणसंपन्नया	ज्ञानसंपन्नता
६०	दंसणसंपन्नया	दर्शनसंपन्नता
६१	चरित्तसंपन्नया	चारित्रसंपन्नता
६२	सोइन्दियनिग्गहे	श्रोत्र-इन्द्रिय-निग्रह
६३	चक्खिन्दियनिग्गहे	चक्षुष्-इन्द्रिय-निग्रह
६४	घाणिन्दियनिग्गहे	घ्राण-इन्द्रिय-निग्रह
६५	जिब्भिन्दियनिग्गहे	जिह्वा-इन्द्रिय-निग्रह
६६	फासिन्दियनिग्गहे	स्पर्शन-इन्द्रिय-निग्रह
६७	कोहविजए	क्रोधविजय
६८	माणविजए	मानविजय
६९	मायाविजए	मायाविजय
७०	लोहविजए	लोभविजय
७१	पेज्जदोसमिच्छादंसणविजए	प्रेय-द्वेष-मिथ्यादर्शन विजय

७२ सेलेसी

७३ अकम्मया

शैलेशी

अकर्मता

सू० २—संवेगेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

संवेगेणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ । अणुत्तराए धम्मसद्धाए संवेगं हव्वमागच्छइ । अणन्ताणुबन्धिकोह-माण-माया-लोभे खवेइ । नवं च कम्मं न बन्धइ । तप्पच्चइयं च णं मिच्छत्त-विसोहिं काऊण दंसणाराहए भवइ । दंसणविसोहीए य णं विसुद्धाए अत्थेगइए, तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ । सोहीए य णं विसुद्धाए तच्चं पुणो भवग्गहणं नाइक्कमइ ॥

भन्ते ! संवेग (मोक्षाभिरुचि) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

संवेग से जीव अनुत्तर-परम धर्म-श्रद्धा को प्राप्त होता है । परम धर्म श्रद्धा से शीघ्र ही संवेग आता है । अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ का क्षय करता है । नए कर्मों का बन्ध नहीं करता है । अनन्तानुबन्धी-रूप तीव्र कषाय के क्षीण होने से मिथ्यात्वविशुद्धि कर दर्शन का आराधक होता है । दर्शनविशोधि के द्वारा विशुद्ध होकर कई एक जीव उसी जन्म से सिद्ध होते हैं । और कुछ हैं, जो दर्शन-विशोधि-से विशुद्ध होने पर तीसरे भवका अतिक्रमण नही करते हैं ।

सू० ३—निव्वेएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

निव्वेएणं दिव्व-माणुस-तेरिच्छिएसु कामभोगेसु निव्वेयं हव्वमागच्छइ । सव्वविसएसु विरज्जइ । सव्वविसएसु विरज्जमाणे आरम्भ-परिच्चायं करेइ । आरम्भपरिच्चायं करेमाणे संसारमग्गं वोच्छिन्दइ, सिद्धिमग्गे पडिवन्ने य भवइ ॥

भन्ते ! निर्वेद (विषयविरक्ति) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

निर्वेद से जीव देव, मनुष्य और तिर्यंच-सम्बन्धी काम-भोगो में शीघ्र निर्वेद को प्राप्त होता है । सभी विषयों में विरक्त होता है । सभी विषयों में विरक्त होकर आरम्भ का परित्याग करता है । आरम्भ का परित्याग कर संसार-मार्ग का विच्छेद करता है और सिद्धि मार्ग को प्राप्त होता है ।

सू० ४—धम्मसद्धाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

धम्मसद्धाए णं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ । अगारधम्मं च

भन्ते ! धर्म-श्रद्धा से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

धर्मश्रद्धा से जीव सात-सुख अर्थात् साता वेदनीय कर्मजन्य वैषयिक सुखों की

णं चयइ । अणगारे णं जीवे सारीर-माणसाणं दुक्खाणं छेयण-भेयण-संजोगाईणं वोच्छेयं करेइ, अव्वाबाहं च सुहं निव्वत्तेइ ॥

आसक्ति से विरक्त होता है। अगार-धर्म को छोड़ता है। वह अनगार होकर छेदन, भेदन आदि शारीरिक तथा संयोगादि मानसिक दुःखों का विच्छेद करता है, अव्याबाध सुख को प्राप्त होता है।

सू० ५—गुरु-साहम्मियसुस्सूसणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

गुरु-साहम्मियसुस्सूसणयाए णं विणयपडिवत्तिं जणयइ। विणयपडिवन्ने य णं जीवे अणच्चासायणसीले नेरइय - तिरिक्खजोणिय-मणुस्स-देव-दोग्गईओ निरुम्भइ। वण्ण-संजलण-भत्ति-बहुमाणयाए मणुस्स-देवसोग्गईओ निबन्धइ, सिद्धिं सोग्गइं च विसोहेइ।

पसत्थाइं च णं विणयमूलाइं सव्वकज्जाइं साहेइ। अन्ने य बहवे जीवे विणइत्ता भवइ ॥

भन्ते ! गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा से जीव विनयप्रतिपत्ति को प्राप्त होता है। विनयप्रतिपन्न व्यक्ति गुरु की परिवादादि-रूप आशातना नहीं करता है। उससे वह नैरयिक, तिर्यग्, मनुष्य और देव सम्बन्धी दुर्गति का निरोध करता है। वर्ण (श्लाघा), संज्वलन (गुणों का प्रकाशन), भक्ति और बहुमान से मनुष्य और देव-सम्बन्धी सुगति का बन्ध करता है। और श्रेष्ठगतिस्वरूप सिद्धि को विशुद्ध करता है। विनयमूलक सभी प्रशस्त कार्यों को साधता है। बहुत से अन्य जीवों को भी विनयी बनाने वाला होता है।

सू० ६—आलोयणाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

आलोयणाए णं माया-नियाण-मिच्छादंसणसल्लाणं मोक्खमग्ग-विग्घाणं अणन्तसंसारवद्धणाणं उद्धरणं करेई। उज्जुभावं च जणयइ। उज्जुभावपडिवन्ने य णं जीवे अमाई इत्थीवेय-नपुंसगवेयं च न बन्धइ। पुव्वबद्धं च णं निज्जरेइ ॥

भन्ते ! आलोचना (गुरुजनों के समक्ष अपने दोषों का प्रकाशन) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

आलोचना से मोक्ष-मार्ग में विघ्न डालने वाले और अनन्त संसार को बढ़ाने वाले माया, निदान (तप आदि की वैषयिक फलाकांक्षा) और मिथ्यादर्शन रूप शल्यों को निकाल फेंकता है। ऋजु-भाव को प्राप्त होता है। ऋजु-भाव को प्राप्त जीव माया-रहित होता है। अतः वह स्त्री-वेद, नपुंसक-वेद का बन्ध नहीं करता है और पूर्वबद्ध की निर्जरा करता है।

सू० ७—निन्दणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! निन्दा (स्वयं के द्वारा स्वयं के दोषों का तिरस्कार) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

निन्दणयाए णं पच्छाणुतावं जणयइ । पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे करणगुणसेढिं पडिवज्जइ करणगुणसेढिं पडिवन्ने य णं अणगारे मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ ॥

निन्दा से पश्चात्ताप प्राप्त होता है । पश्चात्ताप से होने वाली विरक्ति से करण-गुण-श्रेणि प्राप्त होती है । करण-गुण-श्रेणि को प्राप्त अनगार मोहनीय कर्म को नष्ट करता है ।

सू० ८—गरहणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! गर्हा (दूसरों के समक्ष अपने दोषों को प्रकट करना) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

गरहणयाए णं अपुरक्कारं जणयइ । अपुरक्कारगए णं जीवे अप्पसत्थेहिंतो जोगेहिंतो नियत्तेइ । पसत्थजोग-पडिवन्ने य णं अणगारे अणन्तघाइपज्जवे खवेइ ॥

गर्हा से जीव को अपुरस्कार (अवज्ञा) प्राप्त होता है । अपुरस्कृत होने से वह अप्रशस्त कार्यों से निवृत्त होता है । प्रशस्त कार्यों से युक्त होता है । ऐसा अनगार ज्ञान-दर्शनादि अनन्त गुणो का घात करने वाले ज्ञाना वरणादि कर्मों की पर्यायों का क्षय करता है ।

सू० ९—सामाइए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! सामायिक (समभाव) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ ॥

सामायिक से जीव सावद्य योगों से—असत्प्रवृत्तियो से विरति को प्राप्त होता है ।

सू०. १०—चउव्वीसत्थएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! चतुर्विंशतिस्तव से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ ॥

चतुर्विंशति स्तव से—चौबीस वीतराग तीर्थङ्करों की स्तुति से जीव दर्शन-विशोधि को प्राप्त होता है ।

सू०. ११—वन्दणएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

वन्दणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ । उच्चागोयं निबन्धइ । सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ, दाहिणभावं च णं जणयइ ॥

भन्ते ! वन्दना से जीव को क्या प्राप्त होता है ? वन्दना से जीव नीचगोत्र कर्म का क्षय करता है। उच्च गोत्र का बन्ध करता है। वह अप्रतिहत सौभाग्य को प्राप्त कर सर्वजनप्रिय होता है। उसकी आज्ञा सर्वत्र मानी जाती है। वह जनता से दाक्षिण्य-अनुकूलता को प्राप्त होता है।

सू० १२—पडिक्कमणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

पडिक्कमणेणं वयछिद्दाइं पिहेइ । पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे, असबलचरित्ते, अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ ॥

भन्ते ! प्रतिक्रमण (दोषों के प्रतिनिवर्तन) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

प्रतिक्रमण से जीव स्वीकृत व्रतों के छिद्रों को बंद करता है। ऐसे व्रतों के छिद्रों को बंद कर देने वाला जीव आश्रवों का निरोध करता है, शुद्ध चारित्र का पालन करता है, समिति-गुप्ति रूप आठ प्रवचन-माताओं के आराधन में सतत उपयुक्त रहता है, संयम-योग में अपृथक्त्व (एकरस, तल्लीन) होता है और सन्मार्ग में सम्यक् समाधिस्थ होकर विचरण करता है।

सू०. १३—काउस्सग्गेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

काउस्सग्गेणं तीय-पडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ । विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभारो व्व भारवहे, पसत्थज्झाणोवगए, सुहंसुहेण विहरइ ॥

भन्ते ! कायोत्सर्ग (कुछ समय के लिए देहोत्सर्ग—देह-भाव के विसर्जन) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

कायोत्सर्ग से जीव अतीत और वर्तमान के प्रायश्चित्तयोग्य अतिचारों का विशोधन करता है। प्रायश्चित्त से विशुद्ध हुआ जीव अपने भार को हटा देने वाले भार-वाहक की तरह निर्वृतहृदय (शान्त) हो जाता है और प्रशस्त ध्यान में लीन होकर सुखपूर्वक विचरण करता है।

सू०. १४—पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! प्रत्याख्यान (संसारी विषयों के परित्याग) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुम्भइ।

प्रत्याख्यानसे जीव—आश्रवद्वारों का—कर्मबन्ध के रागादि हेतुओं का निरोध करता है।

सू० १५—थव-थुइमंगलेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

भन्ते! स्तवस्तुति मंगल से जीव को क्या प्राप्त होता है?

थवथुइमंगलेणं नाण-दंसण-चरित्त बोहिलाभं जणयइ। नाण-दंसण चरित्तबोहिलाभसंपन्ने य णं जीवे अन्तकिरियं कप्पविमाणोववत्तिगं आराहणं आराहेइ॥

स्तव-स्तुति मंगल से जीव को ज्ञान-दर्शन चारित्र-स्वरूप बोधि का लाभ होता है। ज्ञान-दर्शन—चारित्र स्वरूप बोधि के लाभ से संपन्न जीव अन्तक्रिया (मोक्ष) के योग्य अथवा वैमानिक देवों में उत्पन्न होने के योग्य आराधना करता है।

सू० १६—कालपडिलेहणयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

भन्ते! काल की प्रतिलेखना से जीव को क्या प्राप्त होता है?

कालपडिलेहणयाए णं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ॥

काल की प्रतिलेखना से (स्वाध्याय आदि धर्म-क्रिया के लिए उपयुक्त समय का ध्यान रखने से) जीव ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करता है।

सू० १७—पायच्छित्तकरणेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

भन्ते! प्रायश्चित्त (पापकर्मों की तप आदि के द्वारा विशुद्धि) से जीव को क्या प्राप्त होता है?

पायच्छित्तकरणेणं पावकम्मविसोहिं जणयइ, निरइयारे यावि भवइ। सम्मं च णं पायच्छित्तं पडिवज्जमाणे मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइ। आयारं च आयारफलं च आराहेइ॥

प्रायश्चित्त से जीव पापकर्मों को दूर करता है और धर्म-साधना को निरतिचार बनाता है। सम्यक् प्रकार से प्रायश्चित्त करने वाला साधक मार्ग (सम्यक्त्व) और मार्ग-फल (ज्ञान) को निर्मल करता है। आचार और आचार-फल (मुक्ति) की आराधना करता है।

सू० १८—खमावणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ। पल्हायणभावमुवगए य सव्वपाण-भूय-जीवसत्तेसु मित्तीभाव-मुप्पाएइ। मित्तीभावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काउण निब्भए भवइ ॥

भन्ते ! क्षामणा (क्षमापना) करने से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

क्षमापना करने से जीव प्रह्लाद भाव (चित्तप्रसत्तिरूप मानसिक प्रसन्नता) को प्राप्त होता है। प्रह्लाद भाव से सम्पन्न साधक सभी प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के साथ मैत्री भाव को प्राप्त होता है। मैत्रीभाव को प्राप्त जीव भाव-विशुद्धि कर निर्भय होता है।

सू० १९—सज्झाएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ॥

भन्ते ! स्वाध्याय से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

स्वाध्याय से जीव ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करता है।

सू० २०—वायणाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

वायणाए णं निज्जरं जणयइ। सुयस्स य अणासायणाए वट्टए। सुयस्स अणासायणाए वट्टमाणे तित्थधम्मं अवलम्बइ। तित्थधम्मं अवलम्बमाणे महानिज्जरे महापज्ज-वसाणे भवइ ॥

भन्ते ! वाचना (अध्यापन-पढ़ाना) से जीव को क्या प्राप्त होता ?

वाचना से जीव कर्मों की निर्जरा करता है, श्रुत ज्ञान की आशातना के दोष से दूर रहता है। श्रुत ज्ञान की आशातना के दोष से दूर रहने वाला तीर्थ धर्म का अवलम्बन करता है—गणधरों के समान जिज्ञासु शिष्यो को श्रुत प्रदान करता है। तीर्थ धर्म का अवलम्बन लेकर कर्मों की महानिर्जरा करता है। और महापर्यवसान (संसार का अन्त) करता है।

सू० २१—पडिपुच्छणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

पडिपुच्छणयाए णं सुत्तऽत्थ-तदुभयाइं विसोहेइ। कंखामोहणिज्जं कम्मं वोच्छिन्दइ ॥

भन्ते ! प्रतिप्रच्छना से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

प्रतिप्रच्छना (पूर्वपठित शास्त्र के सम्बन्ध में शंकानिवृत्ति के लिए प्रश्न करना) से जीव सूत्र, अर्थ और तदुभय-दोनों से सम्बन्धित कांक्षामोहनीय (संशय) का निराकरण करता है।

सू० २२—परियट्टणाए णं भन्ते !
जीवे किं जणयइ ?

परियट्टणाए णं वंजणाइं जणयइ, वंजणलद्धिं च उप्पाएइ ॥

भन्ते ! परावर्तना से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

परावर्तना से अर्थात् पठित पाठ के पुनरावर्तन से व्यंजन (शब्द पाठ) स्थिर होता है। और जीव पदानुसारिता आदि व्यंजन-लब्धि को प्राप्त होता है।

सू० २३—अणुप्पेहाए णं भन्ते !
जीवे किं जणयइ ?

अणुप्पेहाए णं आउयवज्जाओ सत्तकम्मप्पगडीओ धणियबन्धणबद्धाओ सिढिलबन्धणबद्धाओ पकरेइ। दीहकालट्ठिइयाओ हस्सकालट्ठिइयाओ पकरेइ। तिव्वाणुभावाओ मन्दाणुभावाओ पकरेइ। बहुपएसग्गाओ अप्पपएसग्गाओ पकरेइ। आउयं च णं कम्मं सिय बन्धइ, सिय नो बन्धइ। असायावेयणिज्जं च णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ। अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरन्तं संसारकन्तारं खिप्पामेव वीइवयइ ॥

भन्ते ! अनुप्रेक्षा से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

अनुप्रेक्षा से—सूत्रार्थ के चिन्तन मनन से जीव आयुष् कर्म को छोडकर शेष ज्ञानावरणादि सात कर्मों की प्रकृतियों के प्रगाढ बन्धन को शिथिल करता है। उनकी दीर्घकालीन स्थिति को अल्पकालीन करता है। उनके तीव्र रसानुभाव को मन्द करता है। बहुकर्म प्रदेशों को अल्प-प्रदेशों मे परिवर्तित करता है। आयुष् कर्म का बन्ध कदाचित् करता है, कदाचित् नहीं भी करता है। असातवेदनीय कर्म का पुनः पुनः उपचय नहीं करता है। जो संसार अटवी अनादि एवं अनवदग्र—अनन्त है, दीर्घ मार्ग से युक्त है, जिसके नरकादि गतिरूप चार अन्त (अवयव) हैं, उसे शीघ्र ही पार करता है।

सू० २४—धम्मकहाए णं भन्ते !
जीवे किं जणयइ ?

धम्मकहाए णं निज्जरं जणयइ। धम्मकहाए णं पवयणं पभावेइ। पवयणपभावे णं जीवे आगमिसस्स भद्दत्ताए कम्मं निबन्धइ ॥

भन्ते ! धर्मकथा (धर्मोपदेश) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

धर्म कथा से जीव कर्मों की निर्जरा करता है और प्रवचन (शासन एवं सिद्धान्त) की प्रभावना करता है। प्रवचन की प्रभावना करने वाला जीव भविष्य में शुभ फल देने वाले कर्मों का बन्ध करता है।

सू० २५—सुयस्स आराहणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! श्रुत की आराधना से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

सुयस्स आराहणयाएणं अन्नाणं खवेइ, न य संकिलिस्सइ ॥

श्रुत की आराधना से जीव अज्ञान का क्षय करता है और क्लेश को प्राप्त नहीं होता है ।

सू० २६—एगग्गमणसंनिवेसणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! मन को एकाग्रता में संनिवेशन—स्थापित करने से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

एगग्गमणसंनिवेसणाए णं चित्त-निरोहं करेइ ॥

मन को एकाग्रता में स्थापित करने से चित्त का निरोध होता है ।

सू० २७—संजमेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! संयम से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

संजमेण अणण्हयत्तं जणयइ ॥

संयम से अनंहस्कत्व अर्थात् अना-स्नवत्व को—आश्रव के निरोध को प्राप्त होता है ।

सू० २८—तवेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! तप से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

तवेणं वोदाणं जणयइ ॥

तप से जीव पूर्व संचित कर्मों का क्षय करके व्यवदान—विशुद्धि को प्राप्त होता है ।

सू० २९—वोदाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! व्यवदान से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

वोदाणेणं अकिरियं जणयइ । अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाणमन्तं करेइ ॥

व्यवदान से जीव को अक्रिया (मन, वचन, काय की प्रवृत्ति की निवृत्ति) प्राप्त होती है । अक्रिय होने के बाद वह सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होता है और सब दुःखों का अन्त करता है ।

सू० ३०—सुहसाएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! सुखशात से अर्थात् वैषयिक सुखों की स्पृहा के शमन—निवारण से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

सुहसाएणं अणुस्सुयत्तं जणयइ। अणुस्सुयाए णं जीवे अणुकम्पए, अणुब्भडे, विगयसोगे, चरित्तमोहणिज्जं कम्मं खवेइ ॥

सुख-शात से विषयों के प्रति अनुत्सुकता होती है। अनुत्सुकता से जीव अनुकम्पा करने वाला, अनुद्भट (प्रशान्त), शोकरहित होकर चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय करता है।

सू० ३१—अप्पडिबद्धयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! अप्रतिबद्धता (अनासक्ति) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

अप्पडिबद्धयाए णं निस्संगत्तं जणयइ। निस्संगत्तेणं जीवे एगे, एगग्गचित्ते, दिया य राओ य असज्जमाणे, अप्पडिबद्धे यावि विहरइ ॥

अप्रतिबद्धता से जीव निस्संग होता है। निस्संग होने से जीव एकाकी (आत्म-निष्ठ) होता है, एकाग्रचित्त होता है। दिन और रात सदा सर्वत्र विरक्त और अप्रतिबद्ध होकर विचरण करता है।

सू० ३२—विवित्तसयणासणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! विविक्त शयनासन से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

विवित्तसयणासणयाए णं चरित्तगुत्तिं जणयइ। चरित्तगुत्ते य णं जीवे विवित्ताहारे, दढचरित्ते, एगन्तरए, मोक्खभावपडिवन्ने अट्ठविहकम्मगंठिं निज्जरेइ ॥

विविक्त शयनासन से—अर्थात् जन-संमर्द से रहित एकान्त स्थान में निवास करने से जीव चारित्र की रक्षा करता है। चारित्र की रक्षा करने वाला विविक्ताहारी (वासना-वर्धक पौष्टिक आहार का त्यागी), दृढ चारित्री, एकान्तप्रिय, मोक्ष भाव से संपन्न जीव आठ प्रकार के कर्मों की ग्रन्थि का निर्जरण—क्षय करता है।

सू० ३३—विणियट्टणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

विणियट्टणयाए णं पावकम्माणं अकरणयाए अब्भुट्ठेइ। पुव्वबद्धाण य निज्जरणयाए तं नियत्तेइ, तओ पच्छा चाउरन्तं संसारकन्तारं वीइवयइ।

भन्ते ! विनिवर्तना से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

विनिवर्तना से—मन और इन्द्रियों को विषयों से अलग रखने की साधना से जीव पाप कर्म न करने के लिए उद्यत रहता है, पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा से कर्मों को निवृत्त करता है। तदनन्तर जिसके चार अन्त है, ऐसे संसार कान्तार को शीघ्र ही पार कर जाता है।

सू० ३४—संभोगपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

संभोगपच्चक्खाणेणं आलम्बणाइं खवेइ। निरालम्बणस्स य आययट्ठिया जोगा भवन्ति। सएणं लाभेणं संतुस्सइ, परलाभं नो आसाएइ, नो तक्केइ, नो पीहेइ, नो पत्थेइ, नो अभिलसइ। परलाभं अणासायमाणे, अतक्केमाणे, अपीहेमाणे, अपत्थेमाणे, अणभिलसमाणे दुच्चं सुहसेज्जं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।

भन्ते ! सम्भोग के प्रत्याख्यान से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

सम्भोग (एक-दूसरे के साथ सह-भोजन आदि के संपर्क) के प्रत्याख्यान से परावलम्बन से निरालम्ब होता है। निरालम्ब होने से उसके सारे प्रयत्न आयतार्थ (मोक्षार्थ) हो जाते हैं। स्वयं के उपार्जित लाभ से सन्तुष्ट होता है। दूसरों के लाभ का आस्वादन (उपभोग) नहीं करता है। उसकी कल्पना नही करता है, स्पृहा नही करता है, प्रार्थना नहीं करता है, अभिलाषा नही करता है। दूसरो के लाभ का आस्वादन, कल्पना, स्पृहा, प्रार्थना और अभिलाषा न करता हुआ दूसरी सुख-शय्या को प्राप्त होकर विहार करता है।

सू० ३५—उवहिपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उवहिपच्चक्खाणेणं अपलिमन्थं जणयइ। निरुवहिए णं जीवे निक्कंखे, उवहिमन्तरेण य न संकिलिस्सई।

भन्ते ! उपधि के प्रत्याख्यान से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

उपधि (उपकरण) के प्रत्याख्यान से जीव निर्विघ्न स्वाध्याय को प्राप्त होता है। उपधिरहित जीव आकांक्षा से मुक्त होकर उपधि के अभाव में क्लेश को प्राप्त नहीं होता है।

सू० ३६—आहारपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! आहार के प्रत्याख्यान से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

आहारपच्चक्खाणेणं जीवियासंसप्पओगं वोच्छिन्दइ। जीवियासंसप्पओगं वोच्छिन्दित्ता जीवे आहारमन्तरेणं न संकिलिस्सइ।

आहार के प्रत्याख्यान से जीव जीवन की आशंसा—कामना के प्रयत्नो को विच्छिन्न कर देता है। जीवन की कामना के प्रयत्नो को छोड़कर वह आहार के अभाव में भी क्लेश को प्राप्त नहीं होता है।

सू० ३७—कसायपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! कषाय के प्रत्याख्यान से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

कसायपच्चक्खाणेणं वीयरागभावं जणयइ। वीयरागभावपडिवन्ने वि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ॥

कषाय के प्रत्याख्यान से वीतराग-भाव को प्राप्त होता है। वीतरागभाव को प्राप्त जीव सुख-दुःख मे सम होजाता है।

सू० ३८—जोगपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! योग के प्रत्याख्यान से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

जोगपच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ। अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

मन, वचन, काय से सम्बन्धित योगों—व्यापारों के प्रत्याख्यान से अयोगत्व को प्राप्त होता है। अयोगी जीव नए कर्मों का बन्ध नहीं करता है, पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

सू० ३९—सरीरपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! शरीर के प्रत्याख्यान से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

सरीरपच्चक्खाणेणं सिद्धाइसयगुणत्तणं निव्वत्तेइ। सिद्धाइसयगुणसंपन्ने य णं जीवे लोगग्गमुवगए परमसुही भवइ।

शरीर के प्रत्याख्यान से जीव सिद्धों के विशिष्ट गुणो को प्राप्त होता है। सिद्धों के विशिष्ट गुणों से सम्पन्न जीव लोकाग्र में पहुँचकर परम सुख को प्राप्त होता है।

सू० ४०—सहायपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! सहाय-प्रत्याख्यान से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

सहायपच्चक्खाणेणं एगीभावं जणयइ। एगीभावभूए वि य णं जीवे एगग्गं भावेमाणे अप्पसद्दे, अप्पझंझे, अप्पकलहे, अप्पकसाए, अप्पतुमंतुमे, संजमबहुले, संवरबहुले, समाहिए यावि भवइ।

सहायता के प्रत्याख्यान से जीव एकीभाव को प्राप्त होता है। एकीभाव को प्राप्त साधक एकाग्रता की भावना करता हुआ विग्रहकारी शब्द, वाक्कलह-झगड़ा-टंटा, क्रोधादि कषाय तथा तू, तू मैं, मैं आदि से मुक्त रहता है। संयम और संवर मे व्यापकता प्राप्त कर समाधि-सम्पन्न होता है।

सू० ४१—भत्तपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! भक्त प्रत्याख्यान (भक्त परिज्ञानरूप आमरण अनशन, संथारा) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

भत्तपच्चक्खाणेणं अणेगाइं भवसयाइं निरुम्भइ।

भक्त-प्रत्याख्यान से जीव अनेक प्रकार के सैकडों भवों का, जन्म-मरणों का निरोध करता है।

सू० ४२—सब्भावपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! सद्भाव प्रत्याख्यान से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

सब्भावपच्चक्खाणेणं अनियट्टिं जणयइ। अनियट्टिपडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ। तं जहा-वेयणिज्जं, आउयं, नामं, गोयं। तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाणमन्तं करेइ।

सद्भाव प्रत्याख्यान (सर्वसंवरस्वरूप शैलेशी भाव) से जीव अनिवृत्ति (शुक्लध्यान का चतुर्थ भेद) को प्राप्त होता है। अनिवृत्ति को प्राप्त अनगार केवली के शेष रहे हुए वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र—इन चार भवोपग्राही कर्मों का क्षय करता है। उसके पश्चात् वह सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होता है, सर्व दुःखों का अन्त करता है।

सू० ४३—पडिरूवयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! प्रतिरूपता से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

पडिरूवयाए णं लाघवियं जणयइ। लहुभूए णं जीवे अप्पमत्ते, पागडलिंगे, पसत्थलिंगे, विसुद्धसम्मत्ते, सत्तसमिइसमत्ते, सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु वीससणिज्जरूवे, अप्पडिलेहे, जिइन्दिए, विउलतवसमिइसमन्नागए यावि भवइ।

प्रतिरूपता से—जिन-कल्प जैसे आचार के पालन से जीव उपकरणों की लघुता को प्राप्त होता है। लघु भूत होकर जीव अप्रमत्त, प्रकट लिंग (वेष) वाला, प्रशस्त लिंग वाला, विशुद्ध सम्यकत्व से सम्पन्न, सत्त्व (धैर्य) और समिति से परिपूर्ण, सर्व प्राण, भूत जीव और सत्त्वों के लिए विश्वसनीय, अल्प प्रतिलेखन वाला, जितेन्द्रिय, विपुलतप और समितियों का सर्वत्र प्रयोग करने वाला होता है।

सू० ४४—वेयावच्चेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! वैयावृत्य से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

वेयावच्चेणं तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निबन्धइ ॥

वैयावृत्य से जीव तीर्थंकर नाम-गोत्र का उपार्जन करता है ?

सू० ४५—सव्वगुणसंपन्नयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! सर्वगुणसंपन्नता से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

सव्वगुणसंपन्नयाए णं अपुणरावत्ति जणयइ। अपुणरावत्ति पत्तए य णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं नो भागी भवइ।

सर्वगुणसंपन्नता से जीव अपुनरावृत्ति (मुक्ति) को प्राप्त होता है। अपुनरावृत्ति को प्राप्त जीव शारीरिक और मानसिक दुःखों का भागी नहीं होता है।

सू० ४६—वीयरागयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! वीतरागता से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

वीयरागयाए णं नेहाणुबन्धणाणि, तण्हाणुबन्धणाणि य वोच्छिन्दइ। मणुन्नेसु सद्द-फरिस-रस-रूव-गन्धेसु चेव विरज्जइ।

वीतरागता से जीव स्नेह और तृष्णा के अनुबन्धनों का विच्छेद करता है। मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध से विरक्त होता है।

सू० ४७—खन्तीए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

खन्तीए णं परीसहे जिणइ ।

भन्ते ! क्षान्ति (क्षमा, तितिक्षा) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

क्षान्ति से जीव परीषहों पर विजय प्राप्त करता है ।

सू० ४८—मुत्तीए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

मुत्तीए णं अकिंचणं जणयइ । अकिंचणे य जीवे अत्थलोलाणं अपत्थणिज्जो भवइ ।

भन्ते ! मुक्ति (निर्लोभता) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

मुक्ति से जीव अकिंचनता (अपरिग्रह) को प्राप्त होता है । अकिंचन जीव अर्थ के लोभी जनों से अप्रार्थनीय हो जाता है ।

सू० ४९—अज्जवयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

अज्जवयाए णं काउज्जुययं, भावुज्जुययं, भासुज्जुययं अविसंवायणं जणयइ । अविसंवायण-संपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ।

भन्ते ! ऋजुता (सरलता) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

ऋजुता से जीव काय की सरलता, भाव (मन) की सरलता, भाषा की सरलता और अविसंवाद (अवंचकता) को प्राप्त होता है । अविसंवाद-सम्पन्न जीव धर्म का आराधक होता है ।

सू० ५०—मद्दवयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

मद्दवयाए णं अणुस्सियत्तं जणयइ । अणुस्सियत्ते णं जीवे मिउमद्दवसंपन्ने अट्ठ मयट्ठाणाइं निट्ठवेइ ।

भन्ते ! मृदुता से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

मृदुता से जीव अनुद्धत भाव को प्राप्त होता है । अनुद्धत जीव मृदु-मार्दव-भाव से सम्पन्न होता है । आठ मद-स्थानों को विनष्ट करता है ।

सू० ५१—भावसच्चेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भावसच्चेणं भावविसोहिं जणयइ । भावविसोहीए वट्टमाणे जीवे अरहन्तपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठेइ । अरहन्तपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठित्ता परलोग-धम्मस्स आराहए हवइ ।

भन्ते ! भाव-सत्य (अन्तरात्मा की सचाई) से जीव को क्या प्राप्त होता है ।

भाव-सत्य से जीव भाव-विशुद्धि को प्राप्त होता है । भाव-विशुद्धि में वर्तमान जीव अर्हत्प्रज्ञप्त धर्म की आराधना में उद्यत होता है । अर्हत्प्रज्ञप्त धर्म की आराधना में उद्यत होकर परलोक में भी धर्म का आराधक होता है ।

सू० ५२—करणसच्चेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! करण सत्य (कार्य की सचाई) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

करणसच्चेणं करणसत्तिं जणयइ। करणसच्चे वट्टमाणे जीवे जहावाई तहाकारी यावि भवइ ।

करण सत्य से जीव करणशक्ति (प्राप्त कार्य को सम्यक्तया संपन्न करने का सामर्थ्य) को प्राप्त होता है। करण-सत्य में वर्तमान जीव 'यथावादी तथाकारी' (जैसा बोलता है, वैसा ही करने वाला) होता है।

सू० ५३—जोगसच्चेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! योग-सत्य से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

जोगसच्चेणं जोगं विसोहेइ।

योग सत्य से—मन वचन, और काय के प्रयत्नों की सचाई से जीव योग को विशुद्ध करता है।

सू० ५४—मणगुत्तयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! मनोगुप्ति से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

मणगुत्तयाए णं जीवे एगग्गं जणयइ। एगग्गचित्ते णं जीवे मण-गुत्ते संजमाराहए भवइ।

मनोगुप्ति से जीव एकाग्रता को प्राप्त होता है। एकाग्र चित्त वाला जीव अशुभ विकल्पों से मन की रक्षा करता है, और संयम का आराधक होता है।

सू० ५५—वयगुत्तयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! वचन गुप्ति से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

वयगुत्तयाए णं निव्वियारं जणयइ। निव्वियारे णं जीवे वइगुत्ते अज्झप्पजोगज्झाणगुत्ते यावि भवइ।

वचनगुप्ति से जीव निर्विकार भाव को प्राप्त होता है। निर्विकार जीव सर्वथा वाग्गुप्त तथा अध्यात्म योग के साधनभूत-ध्यान से युक्त होता है।

सू० ५६—कायगुत्तयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! कायगुप्ति से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

कायगुत्तयाए णं संवरं जणयइ। संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासव-निरोहं करेइ।

काय गुप्ति से जीव संवर (अशुभ-प्रवृत्ति के निरोध) को प्राप्त होता है। संवर से काय गुप्त होकर फिर से होनेवाले पापास्रव का निरोध करता है।

सू० ५७—मणसमाहारणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! मन की समाधारणा (मन को आगमोक्त भावों के चिन्तन में भली भाँति संलग्न रखने) से जीवको क्या प्राप्त होता है?

मणसमाहारणयाए णं एगग्गं जणयइ। एगग्गं जणइत्ता नाणपज्जवे जणयइ। नाणपज्जवे जणइत्ता सम्मत्तं विसोहेइ, मिच्छत्तं च निज्जरेइ।

मन की समाधारणा से जीव एकाग्रता को प्राप्त होता है ! एकाग्रता को प्राप्त होकर ज्ञानपर्यवों को—ज्ञान के विविध तत्त्व-बोधरूप प्रकारों को प्राप्त होता है। ज्ञान-पर्यवों को प्राप्त होकर सम्यग्-दर्शन को विशुद्ध करता है और मिथ्या दर्शन की निर्जरा करता है।

सू० ५८—वयसमाहारणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! वाक् समाधारणा (वचन को स्वाध्याय में भली भाँति संलग्न रखने) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

वयसमाहारणयाए णं वयसाहारणदंसणपज्जवे विसोहेइ। वयसाहारणदंसणपज्जवे विसोहेत्ता सुलहबोहियत्तं निव्वत्तेइ, दुल्लहबोहियत्तं निज्जरेइ।

वाक् समाधारणा से जीव वाणी के विषय भूत दर्शन के पर्यवों को—विविध प्रकारों को विशुद्ध करता है। वाणी के विषयभूत दर्शन के पर्यवों को विशुद्ध करके सुलभता से बोधि को प्राप्त करता है। बोधि की दुर्लभता को क्षीण करता है।

सू० ५९—कायसमाहारणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! काय समाधारणा (संयम की शुद्ध प्रवृत्तियों में काया को भली-भाँति संलग्न रखने) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

कायसमाहारणयाए णं चरित्तपज्जवे विसोहेइ। चरित्तपज्जवे विसोहेत्ता अहक्खायचरित्तं विसोहेइ। अहक्खायचरित्तं विसोहेत्ता चत्तारि-केवलिकम्मंसे खवेइ। तओ पच्छा-सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परि-निव्वाएइ, सव्वदुक्खाणमन्तं करेइ।

काय समाधारणा से जीव चारित्र के पर्यवों को—विविध प्रकारों को विशुद्ध करता है। चारित्र के पर्यवों को विशुद्ध करके यथाख्यात चारित्र को विशुद्ध करता है। यथाख्यात चारित्र को विशुद्ध करके केवलिसत्क वेदनीय आदि चार कर्मों का क्षय करता है। उसके बाद सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है। परिनिर्वाण को प्राप्त होता है, सब दुःखों का अन्त करता है।

सू० ६०—नाणसंपन्नयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

नाणसंपन्नयाए णं जीवे सव्वभावाहिगमं जणयइ। नाणसंपन्ने णं जीवे चाउरन्ते संसारकन्तारे न विणस्सइ।

जहा सूई ससुत्ता
पडिया वि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते
संसारे न विणस्सइ॥

नाण-विणय-तव-चरित्तजोगे संपाउणइ, ससमय-परसमयसंघायणिज्जे भवइ।

भन्ते ! ज्ञान-सम्पन्नता से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

ज्ञानसम्पन्नता से जीव सब भावों को जानता है। ज्ञान-सम्पन्न जीव चार गतिरूप अन्तों वाले संसार वन में नष्ट नहीं होता है।

जिस प्रकार ससूत्र (धागे से युक्त) सुई कहीं गिर जाने पर भी विनष्ट (गुम) नहीं होती, उसी प्रकार ससूत्र (श्रुत-सम्पन्न) जीव भी संसार मे विनष्ट नहीं होता।

ज्ञान, विनय, तप और चारित्र के योगों को प्राप्त होता है। तथा स्वसमय और परसमय मे, अर्थात् स्वमत-परमत की व्याख्याओं में संघातनीय—प्रामाणिक माना जाता है।

सू० ६१—दंसणसंपन्नयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

दंसणसंपन्नयाए णं भवमिच्छत्तछेयणं करेइ, परं न विज्झायइ। अणुत्तरेणं नाणदंसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे, सम्मं भावेमाणे विहरइ।

भन्ते ! दर्शन-संपन्नता से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

दर्शन सम्पन्नता से संसार के हेतु मिथ्यात्व का छेदन करता है, उसके बाद सम्यक्त्व का प्रकाश बुझता नहीं है। श्रेष्ठ ज्ञान-दर्शन से आत्मा को संयोजित कर उन्हे सम्यक् प्रकार से आत्मसात् करता हुआ विचरण करता है।

सू० ६२—चरित्तसंपन्नयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

चरित्तसंपन्नयाए णं सेलेसीभावं जणयइ। सेलेसिं पडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ। तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ।

भन्ते ! चारित्र-सम्पन्नता से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

चारित्र-सम्पन्नता से जीव शैलेशीभाव को—शैलेश अर्थात् मेरुपर्वत के समान सर्वथा अकम्प स्थिरता को प्राप्त होता है। शैलेशी भाव को प्राप्त अनगार चार केवलि-सत्क कर्मों का क्षय करता है। तत्पश्चात् वह सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होता है और सब दुःखों का अन्त करता है।

सू० ६३—सोइन्दियनिग्गहेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! श्रोत्रेन्द्रिय के निग्रह से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

सोइन्दियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु सद्देसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

श्रोत्रेन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। फिर तत्-प्रत्ययिक अर्थात् शब्दनिमित्तक कर्म का बन्ध नहीं करता है, पूर्व-बद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

सू० ६४—चक्खिन्दियनिग्गहेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! चक्षुष्-इन्द्रिय के निग्रह से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

चक्खिन्दिय निग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु रूवेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

चक्षुष्-इन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपो में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। फिर रूपनिमित्तक कर्म का बंध नहीं करता है, पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

सू० ६५—घाणिन्दियनिग्गहेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! घ्राण-इन्द्रिय के निग्रह से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

घाणिन्दियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु गन्धेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

घ्राण-इन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्धों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। फिर गन्ध-निमित्तक कर्म का बंध नहीं करता है। पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

सू० ६६—जिब्भिन्दियनिग्गहेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भन्ते ! जिह्वा-इन्द्रिय के निग्रह से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

जिब्भिन्दियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु रसेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

जिह्वा-इन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ रसो में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। फिर रसनिमित्तक कर्म का बन्ध नहीं करता है। पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

सू० ६७—फासिन्दियनिग्गहेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

फासिन्दियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु फासेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ।

भन्ते ! स्पर्शन-इन्द्रिय के निग्रह से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

स्पर्शन-इन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्शों में होने वाले राग-द्वेष का निग्रह करता है। फिर स्पर्श-निमित्तक कर्म का बन्ध नहीं करता है, पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

सू० ६८—कोहविजएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

कोहविजएणं खन्तिं जणयइ, कोहवेयणिज्जं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ।

भन्ते ! क्रोध-विजय से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

क्रोध-विजय से जीव क्षान्ति को प्राप्त होता है। क्रोध-वेदनीय कर्म का बन्ध नहीं करता है। पूर्व-बद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

सू० ६९—माणविजएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

माणविजएणं मद्दवं जणयइ, माणवेयणिज्जं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ।

भन्ते ! मान-विजय से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

मान-विजय से जीव मृदुता को प्राप्त होता है। मान-वेदनीय कर्म का बन्ध नहीं करता है। पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

सू० ७०—मायाविजएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

माया विजएणं उज्जुभावं जणयइ, मायावेयणिज्जं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ।।

भन्ते ! माया-विजय से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

मायाविजय से ऋजुता को प्राप्त होता है। माया-वेदनीय कर्म का बंध नहीं करता है। पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

सू० ७१—लोभविजएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

लोभविजएणं संतोसीभावं जणयइ, लोभवेयणिज्जं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ।।

भन्ते ! लोभ-विजय से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

लोभ-विजय से जीव सन्तोष-भाव को प्राप्त होता है। लोभ-वेदनीय कर्म का बन्ध नहीं करता है। पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

सू० ७२—पेज्ज-दोस-मिच्छादंसण-विजएणं भन्ते जीवे किं जणयइ ?

पेज्ज-दोस-मिच्छादंसणविजएणं नाण-दंसण — चरित्ताराहणयाए अब्भुट्ठेइ। अट्ठविहस्स कम्मस्स कम्मगण्ठिविमोयणयाए तप्पढमयाए जहाणुपुव्वि अट्ठवीसइविहं मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ, पंचविहं नाणावरणिज्जं, नवविहं दंसणावरणिज्जं, पंचविहं अन्तरायं-एए तिन्नि वि कम्मंसे जुगवं खवेइ। तओ पच्छा अणुत्तरं, अणंतं, कसिणं, पडिपुण्णं, निरावरणं, वितिमिरं, विसुद्धं, लोगालोगप्पभावगं, केवल-वरनाणदंसणं समुप्पाडेइ।

जाव सजोगी भवइ ताव य इरियावहियं कम्मं बन्धइ सुहफरिसं, दुसमयठिइयं। तं पढमसमए बद्धं, बिइयसमए वेइयं, तइयसमए निज्जिण्णं।

तं बद्धं, पुट्ठं, उदीरियं, वेइयं, निज्जिण्णं सेयाले य अकम्मं चावि भवइ॥

भन्ते ! प्रेय—राग, द्वेष और मिथ्या-दर्शन के विजय से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

प्रेय, द्वेष और मिथ्या-दर्शन के विजय से जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए उद्यत होता है। आठ प्रकार के कर्मों की कर्म-ग्रन्थि को खोलने के लिए सर्वप्रथम मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों का क्रमशः क्षय करता है। अनन्तर ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच, दर्शना-वरणीय कर्म की नौ, और अन्तराय कर्म की पाँच—इन तीनों कर्मों की प्रकृतियों का एक साथ क्षय करता है। तदनन्तर वह अनुत्तर, अनन्त, कृत्स्न—सर्ववस्तुविषयक, प्रतिपूर्ण, निरावरण, अज्ञानतिमिर से रहित, विशुद्ध और लोकालोक के प्रकाशक केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन को प्राप्त होता है। जब तक वह सयोगी रहता है, तब तक ऐर्या-पथिक कर्म का बन्ध होता है। वह बन्ध भी सुख-स्पर्शी (सातवेदनीय रूप पुण्य कर्म) है, उसकी स्थिति दो समय की है। प्रथम समय में बन्ध होता है, द्वितीय समय में उदय होता है, तृतीय समय में निर्जरा होती है। वह कर्म क्रमशः बद्ध होता है, स्पृष्ट होता है, उदय में आता है, भोगा जाता है, नष्ट होता है, फलतः आगामी काल में अर्थात् अन्त में वह कर्म अकर्म हो जाता है।

सू० ७३—अहाउयं पालइत्ता अन्तो-मुहुत्तद्धावसेसाउए जोगनिरोहं करेमाणे सुहुमकिरियं अप्पडिवाइ सुक्कज्झाणं झायमाणे, तप्पढमयाए मणजोगं निरुम्भइ, मणजोगं निरुम्भइत्ता वइजोगं निरुम्भइ, वइजोगं निरुम्भइत्ता, आणापाणुनिरोहं करेइ, आणापाणु निरोहं करेइत्ता ईसि पंचरहस्सक्खरुच्चारद्धाए य णं अणगारे समुच्छिन्नकिरियं अनियट्टिसुक्कज्झाणं झियायमाणे वेयणिज्जं, आउयं, नामं, गोत्तं च एए चत्तारि वि कम्मंसे जुगवं खवेइ ॥

केवल ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् शेष आयु को भोगता हुआ, जब अन्तर्मुहूर्त-परिमाण आयु शेष रहती है, तब वह योग निरोध में प्रवृत्त होता है। तब 'सूक्ष्म क्रिया-प्रतिपाति' नामक शुक्ल-ध्यान को ध्याता हुआ प्रथम मनोयोग का निरोध करता है, अनन्तर वचन योग का निरोध करता है, उसके पश्चात् आनापान—श्वासोच्छ्वास का निरोध करता है। श्वासोच्छ्वास का निरोध करके स्वल्प काल तक—पांच ह्रस्वअक्षरों के उच्चारण काल तक 'समुच्छिन्न-क्रिया-अनवृत्ति' नामक शुक्ल ध्यान में लीन हुआ अनगार वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र—इन चार कर्मों का एक साथ क्षय करता है।

सू० ७४—तओ ओरालियकम्माइं च सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहित्ता उज्जुसेढिपत्ते, अफुसमाणगई, उड्ढं एगसमएणं अविग्गहेणं तत्थ गन्ता, सागारोवउत्ते सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाण-मन्तं करेइ ॥

उसके बाद वह औदारिक और कार्मण शरीर को सदा के लिए पूर्णरूप से छोड़ता है। पूर्ण-रूप से शरीर को छोड़कर ऋजु श्रेणि को प्राप्त होता है और एक समय में अस्पृशद्गतिरूप ऊर्ध्वगति से बिना मोड़ लिए सीधे लोकाग्र में जाकर साकारोपयुक्त-ज्ञानोपयोगी सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है। सभी दुःखों का अन्त करता है।

एस खलु सम्मत्तपरक्कमस्स अज्झयणस्स अट्ठे समणेणं भगवया महावीरेणं आघविए, पन्नविए, परूविए, दंसिए, उवदंसिए ॥

श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा सम्यक्त्व-पराक्रम अध्ययन का यह पूर्वोक्त अर्थ आख्यात है, प्रज्ञापित है, प्ररूपित है, दर्शित है और उपदर्शित है।

—त्ति बेमि।

—ऐसा मैं कहता हूं।

३०

तपो-मार्ग-गति

तप एक दिव्य रसायन है, जो शरीर और आत्मा के यौगिक भाव को मिटाकर आत्मा को अपने मूल स्वभाव में स्थापित करता है।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र की तरह तप भी मुक्ति का मार्ग है। वस्तुतः तप चारित्र का ही एक अंग है। तप स्वतः प्रेरणा से प्रतिकूलता में स्वयं को उपस्थित करके स्वयं के निरीक्षण का एक अवसर उपस्थित करता है।

आत्मा का अनादि संस्कार के कारण शरीर के साथ तादात्म्य हो गया है। तादात्म्य को तोड़ने से ही मुक्ति हो सकती है। इस तादात्म्य को तोड़ने में तप भी एक अमोघ उपाय है।

वस्तुतः शरीर को कष्ट देना, पीड़ित करना तप का उद्देश्य नहीं है। किन्तु शरीर से सर्वथा स्वतन्त्र 'स्व' का बोध और 'स्व' का स्वरूपावस्थित होना ही तप का लक्ष्य है। उसकी प्राप्ति के दो मार्ग हैं। एक है—स्वयं की अनुभूति में से शरीर का लुप्त हो जाना; अर्थात् उसके कर्तापन के भार का हट जाना। दूसरा मार्ग है—शरीर को झकझोर कर, जो भीतर है उसको जानने का प्रयत्न करना, उसकी खोज करना, उसको ढूंढ निकालना। तप यही करता है। उसके दो भेद हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप का लक्ष्य आभ्यन्तर तप है। वस्तुतः आभ्यन्तर तप के लिए ही बाह्य तप है। बाह्य तप से यदि आभ्यन्तर तप की प्रेरणा मिलती है, तो वह तप है, अन्यथा मात्र देहदण्ड है। आभ्यन्तर तप का विशुद्ध भाव जगाए बिना बाह्य तप कर्मबन्ध का हेतु ही होता है, कर्मनिर्जरा का नहीं। अतः बाह्य तप आध्यात्मिक [illegible] आन्तरिक तप की परिबृंहणा के लिए है।

तीसइमं अज्झयणं : त्रिंश अध्ययन

तवमग्गगई : तपो-मार्ग-गति

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. जहा उ पावगं कम्मं राग-दोससमज्जियं । खवेइ तवसा भिक्खू तमेगग्गमणो सुण ॥	भिक्षु राग और द्वेष से अर्जित पाप-कर्म का तप के द्वारा जिस पद्धति से क्षय करता है, उस पद्धति को तुम एकाग्र मन से सुनो ।
२. पाणवह-मुसावाया अदत्त-मेहुण-परिग्गहा विरओ । राईभोयणविरओ जीवो भवइ अणासवो ॥	प्राण-वध, मृषावाद, अदत्त, मैथुन, परिग्रह और रात्रि भोजन की विरति से जीव अनाश्रव—आश्रवरहित होता है ।
३. पंचसमिओ तिगुत्तो अकसाओ जिइन्दिओ । अगारवो य निस्सल्लो जीवो होइ अणासवो ॥	पाँच समिति और तीन गुप्ति से-सहित, कषाय से रहित, जितेंद्रिय, निरभिमानी, निःशल्य जीव अनाश्रव होता है ।
४. एएसिं तु विवच्चासे राग-द्दोससमज्जियं । जहा खवयइ भिक्खू तं मे एगमणो सुण ॥	उक्त धर्म-साधना से विपरीत आचरण करने पर राग-द्वेष से अर्जित कर्मों को भिक्षु किस प्रकार क्षीण करता है, उसे एकाग्र मन से सुनो ।
५. जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे । उस्सिंचणाए तवणाए कमेणं सोसणा भवे ॥	किसी बड़े तालाब का जल, जल आने के मार्ग को रोकने से, पहले के जल को उलीचने से और सूर्य के ताप से क्रमशः जैसे सूख जाता है—

६. एवं तु संजयस्सावि
पावकम्मनिरासवे ।
भवकोडीसंचियं कम्मं
तवसा निज्जरिज्जई ॥

उसी प्रकार संयमी के करोड़ों भवों के संचित कर्म, पाप कर्मों के आने के मार्ग को रोकने पर तप से नष्ट होते हैं।

७. सो तवो दुविहो वुत्तो
बाहिरब्भन्तरो तहा ।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो
एवमब्भन्तरो तवो ॥

वह तप दो प्रकार का है—
बाह्य और आभ्यन्तर।
बाह्य तप छह प्रकार का है। इसप्रकार आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का कहा है।

८. अणसणमूणोयरिया
भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया य
बज्झो तवो होइ ॥

अनशन, ऊनोदरिका, भिक्षाचर्या, रस-परित्याग, काय-क्लेश और संलीनता—यह बाह्य तप है।

९. इत्तिरिया मरणकाले
दुविहा अणसणा भवे ।
इत्तिरिया सावकंखा
निरवकंखा बिइज्जिया ॥

अनशन तप के दो प्रकार हैं—
इत्वरिक और मरणकाल।
इत्वरिक सावकांक्ष (निर्धारित अनशन के बाद पुनः भोजन की आकांक्षा वाला) होता है। मरणकाल निरवकांक्ष (भोजन की आकांक्षा से सर्वथा रहित) होता है।

१०. जो सो इत्तरियतवो
सो समासेण छव्विहो ।
सेढितवो पयरतवो
घणो य तह होइ वग्गो य ॥

संक्षेप से इत्वरिक-तप छह प्रकार का है—
श्रेणि तप, प्रतर तप, घन-तप और वर्ग-तप—

११. तत्तो य वग्गवग्गो उ
पंचमो छट्ठओ पइण्णतवो ।
मणइच्छियचित्तत्थो
नायव्वो होइ इत्तरिओ ॥

पाँचवाँ वर्ग-वर्ग तप और छठा प्रकीर्ण तप। इस प्रकार मनोवांछित नाना प्रकार के फल को देने वाला 'इत्वरिक' अनशन तप जानना चाहिए।

१२. जा सा अणसणा मरणे
दुविहा सा वियाहिया ।
सवियार—अवियारा
कायचिट्ठं पई भवे ॥

कायचेष्टा के आधार पर मरणकाल-सम्बन्धी अनशन के दो भेद हैं—सविचार (करवट बदलने आदि चेष्टाओं से सहित) और अविचार (उक्त चेष्टाओं से रहित)।

१३. अहवा सपरिकम्मा
अपरिकम्मा य आहिया।
नीहारिमणीहारी
आहारच्छेओ य दोसु वि॥

अथवा मरणकाल अनशन के सपरिकर्म और अपरिकर्म ये दो भेद हैं।

अविचार अनशन के निर्हारी और अनिर्हारी— ये दो भेद भी होते हैं। दोनों में आहार का त्याग होता है।

१४. ओमोयरियं पंचहा
समासेण वियाहियं।
दव्वओ खेत्त-कालेणं
भावेणं पज्जवेहि य॥

संक्षेप मे अवमौदर्य (ऊनोदरिका) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्यायों की अपेक्षा से पाँच प्रकार का है।

१५. जो जस्स उ आहारो
तत्तो ओमं तु जो करे।
जहन्नेणेगसित्थाई
एवं दव्वेण ऊ भवे॥

जो जितना भोजन कर सकता है, उसमे से कम-से-कम एक सिक्थ अर्थात् एक कण तथा एक ग्रास आदि के रूप मे कम भोजन करना, द्रव्य से 'ऊणोदरी' तप है।

१६. गामे नगरे तह रायहाणि-
निगमे य आगरे पल्ली।
खेडे कब्बड—दोणमुह-
पट्टण—मडम्ब—संबाहे॥

ग्राम, नगर, राजधानी, निगम, आकर, पल्ली, खेड़, कर्बट, द्रोणमुख, पत्तन, मण्डप, संबाध—

१७. आसमपए विहारे
सन्निवेसे समाय—घोसे य।
थलि—सेणाखन्धारे
सत्थे संवट्ट कोट्टे य॥

आश्रम-पद, विहार, सन्निवेश, समाज, घोष, स्थली, सेना का शिविर, सार्थ, संवर्त, कोट—

१८. वाडेसु व रच्छासु व
घरेसु वा एवमित्तियं खेत्तं।
कप्पइ उ एवमाई
एवं खेत्तेण ऊ भवे॥

वाट—पाडा, रथ्या—गली और घर—इन क्षेत्रों में तथा इसी प्रकार के दूसरे क्षेत्रों मे निर्धारित क्षेत्र-प्रमाण के अनुसार भिक्षा के लिए जाना, क्षेत्र से 'ऊणोदरी' तप है।

१९. पेडा य अद्धपेडा
गोमुत्ति पयंगवीहिया चेव।
सम्बुक्कावट्टा ऽऽययगन्तुं
पच्चागया छट्ठा॥

अथवा पेटा, अर्ध-पेटा, गोमूत्रिका, पतंग-वीथिका, शम्बूकावर्ता और आयत-गत्वा-प्रत्यागता—यह छह प्रकार का क्षेत्र से 'ऊणोदरी' तप है।

२०. दिवसस्स पोरुसीणं
चउण्हं पि उ जत्तिओ भवे कालो।
एवं चरमाणो खलु
कालोमाणं मुणेयव्वो ॥

दिवस के चार प्रहर होते हैं। उन चार प्रहरों में भिक्षा का जो नियत समय है, तदनुसार भिक्षा के लिए जाना, यह काल से 'ऊणोदरी' तप है।

२१. अहवा तइयाए पोरिसीए
ऊणाइ घासमेसन्तो।
चउभागूणाए वा
एवं कालेण ऊ भवे ॥

अथवा कुछ (चतुर्थ भाग आदि) भाग-न्यून तृतीय प्रहर में भिक्षा की एषणा करना, काल की अपेक्षा से 'ऊणोदरी' तप है।

२२. इत्थी वा पुरिसो वा
अलंकिओ वाऽणलंकिओ वा वि।
अन्नयरवयत्थो वा
अन्नयरेणं व वत्थेणं ॥

स्त्री अथवा पुरुष, अलंकृत अथवा अनलंकृत, विशिष्ट आयु और अमुक वर्ण के वस्त्र—

२३. अन्नेण विसेसेणं
वण्णेणं भावमणुमुयन्ते उ।
एवं चरमाणो खलु
भावोमाणं मुणेयव्वो ॥

अथवा अमुक विशिष्ट वर्ण एवं भाव से युक्त दाता से ही भिक्षा ग्रहण करना, अन्यथा नहीं—इस प्रकार की चर्या वाले मुनि को भाव से 'ऊणोदरी' तप है।

२४. दव्वे खेत्ते काले
भावम्मि य आहिया उ
जे भावा।
एएहि ओमचरओ
पज्जवचरओ भवे भिक्खू ॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में जो-जो पर्याय (भाव) कथन किये हैं, उन सबसे ऊणोदरी तप करने वाला 'पर्यव-चरक' होता है।

२५. अट्ठविहगोयरग्गं तु
तहा सत्तेव एसणा।
अभिग्गहा य जे अन्ने
भिक्खायरियमाहिया ॥

आठ प्रकार के गोचराग्र, सप्तविध एषणाएँ और अन्य अनेक प्रकार के अभिग्रह—'भिक्षाचर्या' तप है।

२६. खीर—दहि—सप्पिमाई
पणीयं पाणभोयणं।
परिवज्जणं रसाणं तु
भणियं रसविवज्जणं ॥

दूध, दही, घी आदि प्रणीत (पौष्टिक) पान, भोजन तथा रसों का त्याग, 'रस-परित्याग' तप है।

२७. ठाणा वीरासणाईया जीवस्स उ सुहावहा। उग्गा जहा धरिज्जन्ति कायकिलेसं तमाहियं॥	आत्मा को सुखावह अर्थात् सुखकर वीरासनादि उग्र आसनों का अभ्यास, 'कायक्लेश' तप है।
२८. एगन्तमणावाए इत्थी पसुविवज्जिए। सयणासणसेवणया विवित्तसयणासणं॥	एकान्त, अनापात (जहाँ कोई आता-जाता न हो) तथा स्त्री-पशु आदि से रहित शयन एवं आसन ग्रहण करना, 'विविक्त-शयनासन' (प्रति संलीनता) तप है।
२९. एसो बाहिरंगतवो समासेण वियाहिओ। अब्भिन्तरं तवं एत्तो वुच्छामि अणुपुव्वसो॥	संक्षेप मे यह बाह्य तप का व्याख्यान है। अब क्रमशः आभ्यन्तर तप का निरूपण करूँगा।
३०. पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ। झाणं च विउस्सग्गो एसो अब्भिन्तरो तवो॥	प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग—यह आभ्यन्तर तप है।
३१. आलोयणारिहाईयं पायच्छित्तं तु दसविहं। जे भिक्खू वहई सम्मं पायच्छित्तं तमाहियं॥	आलोचनार्ह आदि दस प्रकार का प्रायश्चित्त, जिसका भिक्षु सम्यक् प्रकार से पालन करता है, 'प्रायश्चित्त' तप है।
३२. अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं तहेवासणदायणं। गुरुभत्ति-भावसुस्सूसा विणओ एस वियाहिओ॥	खड़े होना, हाथ जोड़ना, आसन देना, गुरुजनों की भक्ति तथा भाव-पूर्वक शुश्रूषा करना, 'विनय' तप है।
३३. आयरियमाइयम्मि य वेयावच्चम्मि दसविहे। आसेवणं जहाथामं वेयावच्चं तमाहियं॥	आचार्य आदि से सम्बन्धित दस प्रकार के वैयावृत्य का यथाशक्ति आसेवन करना, 'वैयावृत्य' तप है।
३४. वायणा पुच्छणा चेव तहेव परियट्टणा। अणुप्पेहा धम्मकहा सज्झाओ पंचहा भवे॥	वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा—यह पंचविध 'स्वाध्याय' तप है।

३५. अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता
झाएज्जा सुसमाहिए ।
धम्मसुक्काइं झाणाइं
झाणं तं तु बुहा वए ।।

आर्त और रौद्र ध्यान को छोड़कर सुसमाहित मुनि जो धर्म और शुक्ल ध्यान ध्याता है, ज्ञानीजन उसे ही 'ध्यान' तप कहते हैं ।

३६. सयणासण-ठाणे वा
जे उ भिक्खू न वावरे ।
कायस्स विउस्सग्गो
छट्ठो सो परिकित्तिओ ।।

सोने, बैठने तथा खड़े होने में जो भिक्षु शरीर से व्यर्थ की चेष्टा नहीं करता है, यह शरीर का व्युत्सर्ग— 'व्युत्सर्ग' नामक छठा तप है ।

३७. एयं तवं तु दुविहं
जे सम्मं आयरे मुणी ।
से खिप्पं सव्वसंसारा
विप्पमुच्चइ पण्डिए ।।

—त्ति बेमि ।

जो पण्डित मुनि दोनों प्रकार के तप का सम्यक् आचरण करता है, वह शीघ्र ही सर्व संसार से विमुक्त हो जाता है ।

—ऐसा मैं कहता हूं ।

३१

चरण-विधि

सम्यक् प्रवृत्ति ही अन्त में अप्रवृत्ति का कारण बनती है।

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'चरण-विधि' है। चरण-विधि का अर्थ है—विवेकपूर्वक प्रवृत्ति। विवेकपूर्वक प्रवृत्ति ही संयम है और अविवेकपूर्वक प्रवृत्ति असंयम। अविवेकपूर्वक प्रवृत्ति में संयम की सुरक्षा असंभव है। अतः यह जान लेना आवश्यक है कि —अविवेक पूर्वक प्रवृत्तियाँ कौन-सी हैं ? वे किस प्रकार होती हैं ? और उनसे बचने का कौन-सा उपाय है ? इसीका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकरण में है।

साधक संज्ञा अर्थात्—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह के विषय की रागात्मक चित्तवृत्ति से मुक्त रहे। हिंसक व्यापार से दूर रहे। चित्त का उद्वेग भय है। भय के सात स्थान हैं। इन भय स्थानों में भी साधु भय को प्राप्त न हो। जिन कार्यों से आश्रव होता है, उन कार्यों को क्रियास्थान कहते हैं। साधु उन क्रियास्थानों से भी अलग रहे। असंयम अविवेक है। अविवेक से अनर्थ होते हैं। अतः साधु असंयम में न रहे। स्वसंलीनता समाधि है। समाधिस्थ साधक का प्रत्येक कार्य अक्रिय अर्थात् अकर्म स्थिति को प्राप्त करने में सहायक होता है। इसलिए समाधिस्थ साधक उन तमाम असमाधि-स्थानों से अलग रहे। इसी प्रकार साधना की पवित्रता के विघातक शबल दोष होते हैं। साधु शबल दोषों से दूर रहता है। और जिन कारणों से मोह होता है, उन मोहस्थानों से भी दूर रहता है। उसे निरन्तर साधना में, अध्ययन में एवं धर्म-चिन्तन में लीन रहना चाहिए। इस प्रकार साधु दुष्प्रवृत्तियों से अलग रहकर सत्प्रवृत्तियों में अपना जीवन व्यतीत करता है। अन्त में इसका परिणाम उसे संसार-चक्र के परिभ्रमण से मुक्ति के रूप में प्राप्त होता है।

एगतीसइमं अज्झयणं : एकत्रिंश अध्ययन

चरणविही : चरण-विधि

मूल — **हिन्दी अनुवाद**

१. चरणविहिं पवक्खामि
जीवस्स उ सुहावहं
जं चरित्ता बहू जीवा
तिण्णा संसारसागरं

जीव को सुख प्रदान करने वाली उस चरण-विधि का कथन करूँगा, जिसका आचरण करके बहुत से जीव संसार-सागर को तैर गए है।

२. एगओ विरइं कुज्जा
एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियत्तिं च
संजमे य पवत्तणं॥

साधक को एक ओर से निवृत्ति और एक ओर प्रवृत्ति करनी चाहिए।

असंयम से निवृत्ति और संयम मे प्रवृत्ति।

३. रागद्दोसे य दो पावे
पावकम्मपवत्तणे।
जे भिक्खू रुम्भई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले॥

पाप कर्म के प्रवर्तक राग और द्वेष हैं। इन दो पाप कर्मों का जो भिक्षु सदा निरोध करता है, वह मंडल में अर्थात् संसार में नहीं रुकता है।

४. दण्डाणं गारवाणं च
सल्लाणं च तियं तियं।
जे भिक्खू चयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले॥

तीन दण्ड, तीन गौरव और तीन शल्यों का जो भिक्षु सदैव त्याग करता है, वह संसार में नहीं रुकता है।

५. दिव्वे य जे उवसग्गे
तहा तेरिच्छ-माणुसे।
जे भिक्खू सहई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले॥

देव, तिर्यंच और मनुष्य-सम्बन्धी उपसर्गों को जो भिक्षु सदा सहन करता है, वह संसार में नहीं रुकता है।

६. विगहा-कसाय-सन्नाणं
झाणाणं च दुयं तहा ।
जे भिक्खू वज्जई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ।

जो भिक्षु विकथाओं का, कषायों का, संज्ञाओं का और आर्तध्यान तथा रौद्र-ध्यान—दो ध्यानों का सदा वर्जन—त्याग रखता है, वह संसार में नहीं रुकता है ।

७. वएसु इन्दियत्थेसु
समिईसु किरियासु य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ।।

जो भिक्षु व्रतों और समितियों के पालन मे तथा इन्द्रिय-विषयों और क्रियाओं के परिहार में सदा यत्नशील रहता है, वह संसार में नही रुकता है ।

८. लेसासु छसु काएसु
छक्के आहारकारणे ।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ।।

जो भिक्षु छह लेश्याओं, पृथ्वी काय आदि छह कायों और आहार के छह कारणो मे सदा उपयोग रखता है, वह संसार मे नहीं रुकता है ।

९. पिण्डोग्गहपडिमासु
भयट्ठाणे सु सत्तसु ।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले

पिण्डावग्रहों में, आहार ग्रहण की सात प्रतिमाओं में और सात भय-स्थानों में जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, वह संसार मे नहीं रुकता है ।

१०. मयेसु बम्भगुत्तीसु
भिक्खुधम्मंमि दसविहे ।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ।।

मद-स्थानों में, ब्रह्मचर्य की गुप्तियों मे और दस प्रकार के भिक्षु-धर्मों में जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, वह संसार मे नही रुकता है ।

११. उवासगाणं पडिमासु
भिक्खूणं पडिमासु य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ।।

उपासकों की प्रतिमाओं में, भिक्षुओं की प्रतिमाओं में जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, वह संसार में नहीं रुकता है ।

१२. किरियासु भूयगामेसु
परमाहम्मिएसु य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ।।

क्रियाओ में, जीव-समुदायों में और परमाधार्मिक देवों में जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, वह संसार में नहीं रुकता है ।

१३. गाहासोलसएहिं
तहा असंजमम्मि य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

गाथा-षोडशक में और असंयम में जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, वह संसार में नहीं रुकता है ।

१४. बम्भम्मि नायज्झयणेसु
ठाणेसु य ऽसमाहिए ।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

ब्रह्मचर्य में, ज्ञात अध्ययनों में, असमाधि-स्थानों में जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, वह संसार में नहीं रुकता है ।

१५. एगवीसाए सबलेसु
बावीसाए परीसहे ।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

इक्कीस शबल दोषों में और बाईस परीषहों में जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, वह संसार में नहीं रुकता है ।

१६. तेवीसइ सूयगडे
रूवाहिएसु सुरेसु अ ।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

सूत्रकृतांग के तेईस अध्ययनों में, रूपाधिक अर्थात् चौबीस देवों में जो भिक्षु सदा उपयोग रखता वह संसार में नहीं रुकता है ।

१७. पणवीस—भावणाहिं
उद्देसेसु दसाइणं ।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

पच्चीस भावनाओं में, दशा आदि (दशाश्रुत स्कन्ध, व्यवहार और बृहत्कल्प) के उद्देशों में जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, वह संसार में नहीं रुकता है ।

१८. अणगारगुणेहिं च
पकप्पम्मि तहेव य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

अनगार-गुणों में और तथैव प्रकल्प (आचारांग) के २८ अध्ययनों में जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, वह संसार में नहीं रुकता है ।

१९. पावसुयपसंगेसु
मोहट्ठाणेसु चेव य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

पाप-श्रुत-प्रसंगों में और मोह-स्थानों में जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, वह संसार में नहीं रुकता है ।

२०. सिद्धाइगुणजोगेसु
तेत्तीसासायणासु य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

सिद्धों के ३१ अतिशायी गुणों में, योग-संग्रहों में, तेंतीस आशातनाओं में जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, वह संसार में नहीं रुकता है ।

२१. इइ एएसु ठाणेसु
जे भिक्खू जयई सया ।
खिप्पं से सव्वसंसारा
विप्पमुच्चइ पण्डिओ ॥

इस प्रकार जो पण्डित भिक्षु इन स्थानों में सतत उपयोग रखता है, वह शीघ्र ही सर्व संसार से मुक्त हो जाता है ।

—त्ति बेमि ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

३२

अप्रमाद स्थान

साधक की जीवन-यात्रा में प्रमाद सबसे बड़ा बाधक है,
अतः वह प्रमाद के स्थानों में सतत सावधान रहे।

साधन साधन हैं। वे अपने आप में न शुभ हैं, और न अशुभ। प्राप्त साधनों का उपयोग किस प्रकार से किया जाता है, इसी पर सब कुछ निर्भर है। वीतरागता जितेन्द्रिय बनने पर ही प्रगट होती है। और सरागता इन्द्रियों की दासता में से आती है। इन्द्रियाँ अगर न हों, तो न वीतरागता संभव है, और न सरागता। इसका स्पष्ट अर्थ है—साधनों का उपयोक्ता ही सब कुछ है। उसी पर निर्भर है कि वह किस दृष्टि से साधनों का शुभ अथवा अशुभ उपयोग करता है।

इस अध्ययन में समग्र अशुभ अध्यवसायों, अशुभ विचारों तथा अशुभ कार्यों से निवृत्ति के लिए साधक को आदेश है। अशुभ प्रवृत्तियाँ प्रमाद-स्थान हैं। प्रमाद-स्थान का अर्थ है—वे कार्य, जिन कार्यों से साधना में विघ्न उपस्थित होता है और साधक की प्रगति रुक जाती है। जैसे भोजन शरीर के लिए आवश्यक है। भोजन साधना में भी उपयोगी होता है। किन्तु अधिक भोजन से अनेक विकृतियाँ पैदा हो सकती हैं, अतः साधु अधिक भोजन न करे। संयत, नियमित और नियंत्रित जीवन ही श्रेष्ठ जीवन है। जो अपनी अनियंत्रित इच्छाओं के अनुसार चलता है, इन्द्रियों का अर्थात् उनकी अमर्यादित वृत्तियों का स्वच्छन्द उपयोग करता है, उसका भविष्य अच्छा नहीं है। वह दुःखों के दारुण परिणामों से बच नहीं सकता है। अतः साधु सदा अप्रमत्त रहे। मूल में राग और द्वेष ही संसार परिभ्रमण के हेतु हैं, अतः उनसे दूर रहकर ही अपने शाश्वत लक्ष्य-मुक्ति तक पहुँचा जा सकता है।

●

बत्तीसइमं अज्झयणं : द्वात्रिंश अध्ययन

पमायट्ठाणं : प्रमाद-स्थान

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. अच्चन्तकालस्स समूलगस्स सव्वस्स दुक्खस्स उ जो पमोक्खो तं भासओ मे पडिपुण्णचित्ता सुणेह एगंतहियं हियत्थं ॥	अत्यन्त (अनन्त अनादि) काल से सभी दु:खों और उनके मूल कारणों से मुक्ति का उपाय मैं कह रहा हूँ। उसे पूरे मन से सुनो। वह एकान्त हितरूप है, कल्याण के लिए है।
२. नाणस्स सव्वस्स पगासणाए अन्नाण-मोहस्स विवज्जणाए। रागस्स दोसस्स य संखएणं एगन्तसोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥	सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाशन से, अज्ञान और मोह के परिहार से, राग-द्वेष के पूर्ण क्षय से—जीव एकान्त सुख-रूप मोक्ष को प्राप्त करता है।
३. तस्सेस मग्गो गुरु-विद्धसेवा विवज्जणा बालजणस्स दूरा। सज्झाय-एगन्तनिसेवणा य सुत्तऽत्थसंचिन्तणया धिई य ॥	गुरुजनों की और वृद्धों की सेवा करना, अज्ञानी लोगों के सम्पर्क से दूर रहना, स्वाध्याय करना, एकान्त में निवास करना, सूत्र और अर्थ का चिन्तन करना, धैर्य रखना, यह दु:खों से मुक्ति का उपाय है।
४. आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धिं। निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं समाहिकामे समणे तवस्सी ॥	अगर श्रमण तपस्वी समाधि की आकांक्षा रखता है तो वह परिमित और एषणीय आहार की इच्छा करे, तत्त्वार्थों को जानने में निपुण बुद्धिवाला साथी खोजे, तथा स्त्री आदि से विवेक के योग्य—एकान्त घर में निवास करे।

५. न वा लभेज्जा निउणं सहायं गुणाहियं वा गुणओ समं वा। एक्को वि पावाइ विवज्जयन्तो विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥	यदि अपने से अधिक गुणों वाला अथवा अपने समान गुणों वाला निपुण साथी न मिले, तो पापों का वर्जन करता हुआ तथा काम-भोगों में अनासक्त रहता हुआ अकेला ही विचरण करे।
६. जहा य अण्डप्पभवा बलागा अण्डं बलागप्पभवं जहा य। एमेव मोहाययणं खु तण्हा मोहं च तण्हाययणं वयन्ति ॥	जिस प्रकार अण्डे से बलाका (बगुली) पैदा होती है और बलाका से अण्डा उत्पन्न होता है, उसी प्रकार मोह का जन्म-स्थान तृष्णा है, और तृष्णा का जन्म-स्थान मोह है।
७. रागो य दोसो वि य कम्मबीयं कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति। कम्मं च जाई-मरणस्स मूलं दुक्खं च जाई-मरणं वयन्ति ॥	कर्म के बीज राग और द्वेष हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है। वह कर्म जन्म और मरण का मूल है और जन्म एवं मरण ही दुःख है।
८. दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा। तण्हा हया जस्स न होइ लोहो लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥	उसने दुःख को समाप्त कर दिया है, जिसे मोह नहीं है। उसने मोह को मिटा दिया है,। जिसे तृष्णा नहीं है। उसने तृष्णा का नाश कर दिया है, जिसे लोभ नहीं है। उसने लोभ को समाप्त कर दिया है, जिसके पास कुछ भी परिग्रह नहीं है, अर्थात् जो अकिंचन है।
९. रागं च दोसं च तहेव मोहं उद्धत्तुकामेण समूलजालं। जे जे उवाया पडिवज्जियव्वा ते कित्तइस्सामि अहाणुपुव्विं ॥	जो राग, द्वेष और मोह का मूल से उन्मूलन चाहता है, उसे जिन-जिन उपायों को उपयोग मे लाना चाहिए, उन्हें मैं क्रमशः कहूँगा।
१०. रसा पगामं न निसेवियव्वा पायं रसा दित्तिकरा नराणं। दित्तं च कामा समभिद्दवन्ति दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥	रसों का उपयोग प्रकाम (अधिक) नहीं करना चाहिए। रस प्रायः मनुष्य के लिए दृप्तिकर, अर्थात् उन्माद बढ़ाने वाले होते हैं। विषयासक्त मनुष्य को काम वैसे ही उत्पीड़ित करते हैं, जैसे स्वादु-फल वाले वृक्ष को पक्षी।

११. जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे
समारुओ नोवसमं उवेइ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो
न बम्भयारिस्स हियाय कस्सई॥

जैसे प्रचण्ड पवन के साथ प्रचुर ईन्धन वाले वन में लगा दावानल शान्त नहीं होता है, उसी प्रकार प्रकाम-भोजी—यथेच्छ भोजन करने वाले की इन्द्रियाग्नि (वासना) शान्त नहीं होती। ब्रह्मचारी के लिए प्रकाम भोजन कभी भी हितकर नहीं है।

१२. विवित्तसेज्जासणजन्तियाणं
ओमासणाणं दमिइन्दियाणं।
न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं
पराइओ वाहिरिवोसहेहिं॥

जो विविक्त (स्त्री आदि से रहित) शय्यासन से यंत्रित (युक्त) है, जो अल्पभोजी है, जो जितेन्द्रिय है, उनके चित्त को राग-द्वेष पराजित नहीं कर सकते है, जैसे औषधि से पराजित (विनष्ट) व्याधि पुन: शरीर को आक्रान्त नहीं करती है।

१३. जहा बिरालावसहस्स मूले
न मूसगाणं वसही पसत्था।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे
न बम्भयारिस्स खमो निवासो॥

जिस प्रकार बिडालों (बिलाव या बिल्ली) के निवास-स्थान के पास चूहों का रहना प्रशस्त—हितकर नहीं है, उसी प्रकार स्त्रियों के निवास-स्थान के पास ब्रह्मचारी का रहना भी प्रशस्त नहीं है।

१४. न रूव-लावण्ण-विलास-हासं
न जंपियं इंगिय-पेहियं वा।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता
दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी॥

श्रमण तपस्वी स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, आलाप, इंगित (चेष्टा) और कटाक्ष को मन में निविष्ट कर देखने का प्रयत्न न करे।

१५. अदंसणं चेव अपत्थणं च
अचिन्तणं चेव अकित्तणं च।
इत्थीजणस्सारियझाणजोग्गं
हियं सया बम्भवए रयाणं॥

जो सदा ब्रह्मचर्य में लीन हैं, उनके लिए स्त्रियों का अवलोकन न करना, उनकी इच्छा न करना, चिन्तन न करना, वर्णन न करना हितकर है, तथा आर्य (सम्यक्) ध्यान साधना के लिए उपयुक्त है।

१६. कामं तु देवीहि विभूसियाहिं
न चाइया खोभइउं तिगुत्ता।
तहा वि एगन्तहियं ति नच्चा
विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो॥

यद्यपि तीन गुप्तियों से गुप्त मुनि को अलंकृत देवियाँ (अप्सराएँ) भी विचलित नहीं कर सकतीं, तथापि एकान्त हित की दृष्टि से मुनि के लिए विविक्तवास—स्त्रियों के सम्पर्क से रहित एकान्त निवास ही प्रशस्त है।

१७. मोक्खाभिकंखिस्स वि माणवस्स
संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे।
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए
जहित्थिओ बालमणोहराओ॥

मोक्षाभिकांक्षी, संसारभीरु और धर्म में स्थित मनुष्य के लिए लोक में ऐसा कुछ भी दुस्तर नहीं है, जैसे कि अज्ञानियों के मन को हरण करने वाली स्त्रियाँ दुस्तर है।

१८. एए य संगे समइक्कमित्ता
सुहुत्तरा चेव भवन्ति सेसा।
जहा महासागरमुत्तरित्ता
नई भवे अवि गंगासमाणा॥

स्त्री-विषयक इन उपर्युक्त संसर्गों का सम्यक् अतिक्रमण करने पर शेष सम्बन्धों का अतिक्रमण वैसे ही सुखोत्तर (सहज सुख से तैरना) हो जाता है, जैसे कि महासागर को तैरने के बाद गंगा जैसी नदियों को तैर जाना आसान है।

१६. कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइयं माणसियं च किंचि
तस्सऽन्तगं गच्छइ वीयरागो॥

समस्त लोक के, यहाँ तक कि देवताओं के भी, जो कुछ भी शारीरिक और मानसिक दुःख हैं, वे सब कामासक्ति से पैदा होते हैं। वीतराग आत्मा ही उन दुःखों का अन्त कर पाते हैं।

२०. जहा य किंपागफला मणोरमा
रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा
एओवमा कामगुणा विवागे॥

जैसे किंपाक फल रस और रूप-रंग की दृष्टि से देखने और खाने में मनोरम होते हैं, किन्तु परिणाम में जीवन का अन्त कर देते हैं, काम-गुण भी अन्तिम परिणाम में ऐसे ही होते हैं।

२१. जे इन्दियाणं विसया मणुन्ना
न तेसु भावं निसिरे कयाइ।
न याऽमणुन्नेसु मणं पि कुज्जा
समाहिकामे समणे तवस्सी॥

समाधि की भावना वाला तपस्वी श्रमण इन्द्रियों के शब्द-रूपादि मनोज्ञ विषयों में रागभाव न करे, और इन्द्रियों के अमनोज्ञ विषयों में मन से भी द्वेष-भाव न करे।

२२. चक्खुस्स रूवं गहणं वयन्ति
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु
समो य जो तेसु य वीयरागो ॥

चक्षु का ग्रहण (ग्राह्य विषय) रूप है। जो रूप राग का कारण होता है, उसे मनोज्ञ कहते हैं और जो रूप द्वेष का कारण होता है, उसे अमनोज्ञ कहते है। इन दोनों में जो सम (न रागी, न द्वेषी) रहता है, वह वीतराग है।

२३. रूवस्स चक्खुं गहणं वयन्ति
चक्खुस्स रूवं गहणं वयन्ति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥

चक्षु रूप का ग्रहण—ग्राहक है। रूप चक्षु का ग्रहण—ग्राह्य विषय है। जो राग का कारण है, उसे मनोज्ञ कहते है और जो द्वेष का कारण है, उसे अमनोज्ञ कहते है।

२४. रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं
अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे से जह वा पयंगे
आलोयलोले समुवेइ मच्चुं ॥

जो मनोज्ञरूपों में तीव्र रूप से गृद्धि। आसक्ति रखता है, वह रागातुर अकाल मे ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे प्रकाश-लोलुप पतंगा प्रकाश के रूप मे आसक्त होकर मृत्यु को प्राप्त होता है।

२५. जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू
न किंचि रूवं अवरज्झई से ॥

जो अमनोज्ञ रूप के प्रति तीव्र रूप से द्वेष करता है, वह उसी क्षण अपने दुर्दान्त (दुर्दम) द्वेष से दुःख को प्राप्त होता है। इसमें रूप का कोई अपराध नही है।

२६. एगन्तरत्ते रुइरंसि रूवे
अतालिसे से कुणई पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ।

जो सुन्दर रूप में एकान्त (अतीव) आसक्त होता है और अतादृश—कुरूप में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दु.ख की पीड़ा को प्राप्त होता है। विरक्त मुनि उनमें लिप्त (रागी, द्वेषी) नहीं होता है।

२७. रूवाणुगासाणुगए य जीवे
चराचरे हिंसइ णेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥

मनोज्ञ रूप की आशा (इच्छा) का अनुगमन करने वाला व्यक्ति अनेकरूप चराचर अर्थात् त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को ही अधिक महत्त्व देने वाला क्लिष्ट (राग से बाधित) अज्ञानी विविध प्रकार से उन्हे परिताप देता है, पीड़ा पहुंचाता है।

२८. रूवाणुवाएण परिग्गहेण
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहिं सुहं से ?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे॥

रूप में अनुपात (अनुराग) और परिग्रह (ममत्त्व) के कारण रूप के उत्पादन में, संरक्षण में, और सन्नियोग (व्यापार) में तथा व्यय और वियोग में उसे सुख कहाँ ? उसे उपभोग काल में भी तृप्ति नही मिलती।

२९. रूवे अतित्ते य परिग्गहे य
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययई अदत्तं॥

रूप में अतृप्त तथा परिग्रह मे आसक्त और उपसक्त (अत्यन्त आसक्त) व्यक्ति सन्तोष को प्राप्त नहीं होता। वह असंतोष के दोष से दुःखी एवं लोभ से आविल (कलुषित, व्याकुल) व्यक्ति दूसरों की वस्तुएँ चुराता है।

३०. तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो
रूवे अतित्तस्स परिग्गहे य।
माया-मुसं वड्ढइ लोभदोसा
तत्थाऽवि दुक्खा न विमुच्चई से॥

रूप और परिग्रह में अतृप्त तथा तृष्णा से अभिभूत होकर वह दूसरों की वस्तुओ का अपहरण करता है। लोभ के दोष से उसका कपट और झूठ बढ़ता है। परन्तु कपट और झूठ का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता है।

३१. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य
पओगकाले य दुही दुरन्ते।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो
रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो॥

झूठ बोलने के पहले, उसके पश्चात् और बोलने के समय में भी वह दुःखी होता है। उसका अन्त भी दुःखरूप होता है। इस प्रकार रूप से अतृप्त होकर वह चोरी करने वाला दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।

३२. रूवाणुरत्तस्स नरस्स एवं
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ?।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं॥

इस प्रकार रूप में अनुरक्त मनुष्य को कहाँ, कब और कितना सुख होगा ? जिसे पाने के लिए मनुष्य दुःख उठाता है, उसके उपभोग में भी क्लेश और दुःख ही होता है।

३३. एमेव रूवम्मि गओ पओसं उवेइ दुक्खोहपरंपराओ । पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥	इस प्रकार रूप के प्रति द्वेष करने वाला भी उत्तरोत्तर अनेक दुःखों की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेषयुक्त चित्त से जिन कर्मों का उपार्जन करता है, वे विपाक के समय में दुःख के कारण बनते हैं।
३४. रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो एएण दुक्खोहपरंपरेण । न लिप्पए भवमज्झे वि सन्तो जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥	रूप मे विरक्त मनुष्य शोकरहित होता है। वह संसार में रहता हुआ भी लिप्त नहीं होता है, जैसे जलाशय में कमल का पत्ता जल से।
३५. सोयस्स सद्दं गहणं वयन्ति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु । तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो ॥	श्रोत्र का ग्रहण (विषय) शब्द है। जो शब्द राग मे कारण है, उसे मनोज्ञ कहते है। जो शब्द द्वेष का कारण है, उसे अमनोज्ञ कहते हैं।
३६. सद्दस्स सोयं गहणं वयन्ति सोयस्स सद्दं गहणं वयन्ति । रागस्स हेउं समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥	श्रोत्र शब्द का ग्राहक है, शब्द श्रोत्र का ग्राह्य है। जो राग का कारण है उसे मनोज्ञ कहते हैं और जो द्वेष का कारण है उसे अमनोज्ञ कहते है।
३७. सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं । रागाउरे हरिणमिगे व मुद्धे सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं ॥	जो मनोज्ञ शब्दों में तीव्र रूप से आसक्त है, वह रागातुर अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है, जैसे शब्द मे अतृप्त मुग्ध हरिण मृत्यु को प्राप्त होता है
३८. जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं । दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू न किंचि सद्दं अवरज्झई से ॥	जो अमनोज्ञ शब्द के प्रति तीव्र द्वेष करता है, वह उसी क्षण अपने दुर्दान्त द्वेष से दुःखी होता है। इसमें शब्द का कोई अपराध नहीं है।
३९. एगन्तरत्ते रुइरंसि सद्दे अतालिसे से कुणई पओसं । दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥	जो प्रिय शब्द में एकान्त आसक्त होता है और अप्रिय शब्द में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःख की पीड़ा को प्राप्त होता है। विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता है।

४०. सद्दाणुगासाणुगए य जीवे
चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे॥

शब्द की आशा का अनुगामी अनेक-रूप चराचर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को ही मुख्य मानने वाला क्लिष्ट अज्ञानी विविध प्रकार से उन्हें परिताप देता है, पीड़ा पहुँचाता है।

४१. सद्दाणुवाएण परिग्गहेण
उप्पायणे रक्खण-सन्निओगे।
वए विओगे य कहिं सुहं से?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे॥

शब्द में अनुराग और ममत्व के कारण शब्द के उत्पादन में, संरक्षण में, सन्नियोग में तथा व्यय और वियोग में, उसको सुख कहाँ है? उसे उपभोग काल में भी तृप्ति नहीं मिलती है।

४२. सद्दे अतित्ते य परिग्गहे य
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययई अदत्तं॥

शब्द में अतृप्त तथा परिग्रह में आसक्त और उपसक्त व्यक्ति संतोष को प्राप्त नहीं होता। वह असंतोष के दोष से दुःखी व लोभग्रस्त व्यक्ति दूसरों की वस्तुएँ चुराता है।

४३. तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो
सद्दे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से॥

शब्द और परिग्रह में अतृप्त, तृष्णा से पराजित व्यक्ति दूसरों की वस्तुओं का अपहरण करता है। लोभ के दोष से उसका कपट और झूठ बढ़ता है। कपट और झूठ से भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता है।

४४. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य
पओगकाले य दुही दुरन्ते।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो
सद्दे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो॥

झूठ बोलने के पहले, उसके बाद और बोलने के समय भी वह दुःखी होता है। उसका अन्त भी दुःखमय है। इस प्रकार शब्द में अतृप्त व्यक्ति चोरी करता हुआ दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।

४५. सद्दाणुरत्तस्स नरस्स एवं
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि?।
तत्थोवभोगे वि किलेस दुक्खं
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं॥

इस प्रकार शब्द में अनुरक्त व्यक्ति को कहाँ, कब और कितना सुख होगा? जिस उपभोग के लिए व्यक्ति दुःख उठाता है, उस उपभोग में भी क्लेश और दुःख ही होता है।

४६. एमेव सद्दम्मि गओ पओसं
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥

इसी प्रकार जो अमनोज्ञ शब्द के प्रति द्वेष करता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखों की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेषयुक्त चित्त से जिन कर्मों का उपार्जन करता है, वे ही विपाक के समय में दुःख के कारण बनते है।

४७. सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो
एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पए भवमज्झे वि सन्तो
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥

शब्द में विरक्त मनुष्य शोकरहित होता है। वह संसार में रहता हुआ भी लिप्त नहीं होता है, जैसे—जलाशय में कमल का पत्ता जल से।

४८. घाणस्स गन्धं गहणं वयन्ति
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥

घ्राण का विषय गन्ध है। जो गन्ध राग में कारण है उसे मनोज्ञ कहते है और जो गन्ध द्वेष में कारण होती है, उसे अमनोज्ञ कहते है।

४९. गन्धस्स घाणं गहणं वयन्ति
घाणस्स गन्धं गहणं वयन्ति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥

घ्राण गन्ध का ग्राहक है। गन्ध घ्राण का ग्राह्य है। जो राग का कारण है, उसे मनोज्ञ कहते हैं। और जो द्वेष का कारण है, उसे अमनोज्ञ कहते है।

५०. गन्धेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं
अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे ओसहिगन्धगिद्धे
सप्पे बिलाओ विव निक्खमन्ते ॥

जो मनोज्ञ गन्ध मे तीव्र रूप से आसक्त है, वह अकाल में विनाश को प्राप्त होता है। जैसे औषधि की गन्ध में आसक्त रागानुरक्त सर्प बिल से निकलकर विनाश को प्राप्त होता है।

५१. जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू
न किंचि गन्धं अवरज्झई से ॥

जो अमनोज्ञ गन्ध के प्रति तीव्र रूप से द्वेष करता है, वह जीव उसी क्षण अपने दुर्दान्त द्वेष से दुःखी होता है। इसमें गन्ध का कोई अपराध नहीं है।

५२. एगन्तरत्ते रुइरंसि गन्धे
अतालिसे से कुणई पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥

जो सुरभि गन्ध में एकान्त आसक्त होता है, और दुर्गन्ध में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःख की पीड़ा को प्राप्त होता है। विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता है।

५३. गन्धाणुगासाणुगए य जीवे
चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे॥

गन्ध की आशा का अनुगामी अनेक-रूप त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है, अपने प्रयोजन को ही मुख्य मानने वाला अज्ञानी विविध प्रकार से उन्हें परिताप देता है, पीड़ा पहुँचाता है।

५४. गन्धाणुवाएण परिग्गहेण
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहिं सुहं से ?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे॥

गन्ध में अनुराग और परिग्रह में ममत्व के कारण गन्ध के उत्पादन में, संरक्षण मे और सन्नियोग में तथा व्यय और वियोग में उसे सुख कहाँ ? उसे उपभोग काल में भी तृप्ति नहीं मिलती है।

५५. गन्धे अतित्ते य परिग्गहे य
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययई अदत्तं॥

गन्ध में अतृप्त तथा परिग्रह में आसक्त तथा उपसक्त व्यक्ति संतोष को प्राप्त नहीं होता है। वह असंतोष के दोष से दुःखी, लोभग्रस्त व्यक्ति दूसरों की वस्तुएँ चुराता है।

५६. तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो
गन्धे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से॥

गन्ध और परिग्रह में अतृप्त तथा तृष्णा से पराजित व्यक्ति दूसरो की वस्तुओं का अपहरण करता है। लोभ के दोष से उसका कपट और झूठ बढ़ता है। कपट और झूठ से भी वह दुःख से मुक्त नही हो पाता है।

५७. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य
पओगकाले य दुही दुरन्ते।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो
गन्धे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो॥

झूठ बोलने के पहले, उसके बाद और बोलने के समय वह दुःखी होता है। उसका अन्त भी दुःखमय है। इस प्रकार गन्ध से अतृप्त होकर वह चोरी करने वाला दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।

५८. गन्धाणुरत्तस्स नरस्स एवं
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ?।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं॥

इस प्रकार गन्ध में अनुरक्त व्यक्ति को कहाँ, कब, कितना सुख होगा ? जिसके उपभोग के लिए दुःख उठाता है, उसके उपभोग में भी दुःख और क्लेश ही होता है।

५९. एमेव गन्धम्मि गओ पओसं उवेइ दुक्खोहपरंपराओ । पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥	इसी प्रकार जो गन्ध के प्रति द्वेष करता है, वह उत्तरोत्तर दुःख की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेषयुक्त चित्त से जिन कर्मों का उपार्जन करता है, वे ही विपाक के समय में दुःख के कारण बनते है।
६०. गन्धे विरत्तो मणुओ विसोगो एएण दुक्खोहपरंपरेण । न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो जलेण वा पोक्खरिणी-पलासं ॥	गन्ध में विरक्त मनुष्य शोकरहित होता है। वह संसार में रहता हुआ भी लिप्त नहीं होता है, जैसे—जलाशय में कमल का पत्ता जल से।
६१. जिहाए रसं गहणं वयन्ति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु । तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो ॥	जिह्वा का विषय रस है। जो रस राग में कारण है, उसे मनोज्ञ कहते हैं। और जो रस द्वेष का कारण होता है, उसे अमनोज्ञ कहते हैं।
६२. रसस्स जिब्भं गहणं वयन्ति जिब्भाए रसं गहणं वयन्ति । रागस्स हेउं समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥	जिह्वा रस की ग्राहक है। रस जिह्वा का ग्राह्य है। जो राग का कारण है, उसे मनोज्ञ कहते हैं और जो द्वेष का कारण है उसे अमनोज्ञ कहते हैं।
६३. रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं । रागाउरे बडिसविभिन्नकाए मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे ॥	जो मनोज्ञ रसों में तीव्र रूप से आसक्त है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे मांस खाने में आसक्त रागातुर मत्स्य कांटे से बीधा जाता है।
६४. जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं । दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू रसं न किंचि अवरज्झई से ॥	जो अमनोज्ञ रस के प्रति तीव्र रूप से द्वेष करता है, वह उसी क्षण अपने दुर्दान्त द्वेष से दुःखी होता है। इस में रस का कोई अपराध नहीं है।
६५. एगन्तरत्ते रुइरे रसम्मि अतालिसे से कुणई पओसं । दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥	जो मनोज्ञ रस में एकान्त आसक्त होता है और अमनोज्ञ रस में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःख की पीड़ा को प्राप्त होता है। विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता है।

६६. रसाणुगासाणुगए य जीवे
चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे॥

रस की आशा का अनुगामी अनेक रूप त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को ही मुख्य मानने वाला क्लिष्ट अज्ञानी विविध प्रकार से उन्हें परिताप देता है, पीड़ा पहुँचाता है।

६७. रसाणुवाएण परिग्गहेण
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहिं सुहं से ?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे॥

रस में अनुरक्ति और ममत्व के कारण रस के उत्पादन में, संरक्षण में और सन्नियोग में तथा व्यय और वियोग में उसे सुख कहाँ ? उसे उपभोग-काल में भी तृप्ति नहीं मिलती है।

६८. रसे अतित्ते य परिग्गहे य
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययई अदत्तं॥

रस में अतृप्त और परिग्रह में आसक्त-उपसक्त व्यक्ति संतोष को प्राप्त नहीं होता। वह असन्तोष के दोष से दुःखी तथा लोभ से व्याकुल दूसरों की वस्तुएँ चुराता है।

६९. तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो
रसे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से॥

रस और परिग्रह में अतृप्त तथा तृष्णा से पराजित व्यक्ति दूसरों की वस्तुओं का अपहरण करता है। लोभ के दोष से उसका कपट और झूठ बढ़ता है। कपट और झूठ से भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता है।

७०. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य
पओगकाले य दुही दुरन्ते।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो
रसे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो॥

झूठ बोलने के पहले, उसके बाद और बोलने के समय भी वह दुःखी होता है। उसका अन्त भी दुःखरूप है। इस प्रकार रस में अतृप्त होकर चोरी करने वाला वह दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।

७१. रसाणुरत्तस्स नरस्स एवं
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ?।
तत्थोवभोगे वि किलेस दुक्खं
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं॥

इस प्रकार रस में अनुरक्त पुरुष को कहाँ, कब, कितना सुख होगा ? जिसे पाने के लिए व्यक्ति दुःख उठाता है, उस के उपभोग में भी क्लेश और दुःख ही होता है।

७२. एमेव रसम्मि गओ पओसं उवेइ दुक्खोहपरंपराओ। पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं जं से पुणो होइ दुहं विवागे॥	इसी प्रकार जो रस के प्रति द्वेष करता है, वह उत्तरोत्तर दुःख की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेष युक्त चित्त से जिन कर्मों का उपार्जन करता है, वे ही विपाक के समय दुःख के कारण बनते है।
७३. रसे विरत्तो मणुओ विसोगो एएण दुक्खोहपरंपरेण। न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो जलेण वा पोक्खरिणीपलासं॥	रस में विरक्त मनुष्य शोकरहित होता है। वह संसार में रहता हुआ भी लिप्त नहीं होता है, जैसे—जलाशय में कमल का पत्ता जल से।
७४. कायस्स फासं गहणं वयन्ति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु। तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो॥	काय का विषय स्पर्श है। जो स्पर्श राग मे कारण है उसे मनोज्ञ कहते है। जो स्पर्श द्वेष का कारण होता है उसे अमनोज्ञ कहते हैं।
७५. फासस्स कायं गहणं वयन्ति कायस्स फासं गहणं वयन्ति। रागस्स हेउं समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु॥	काय स्पर्श का ग्राहक है, स्पर्श काय का ग्राह्य है। जो राग का कारण है उसे मनोज्ञ कहते हैं और जो द्वेष का कारण है, उसे अमनोज्ञ कहते है।
७६. फासेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं। रागाउरे सीयजलावसन्ने गाहग्गहीए महिसे व ऽरन्ने॥	जो मनोज्ञ स्पर्श में तीव्र रूप से आसक्त है, वह अकाल मे ही बिनाश को प्राप्त होता है। जैसे—वन में जलाशय के शीतल स्पर्श मे आसक्त रागातुर भैंसा मगर के द्वारा पकड़ा जाता है।
७७. जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं। दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू न किंचि फासं अवरज्झई से॥	जो अमनोज्ञ स्पर्श के प्रति तीव्र रूप से द्वेष करता है, वह जीव उसी क्षण अपने दुर्दान्त द्वेष से दुःखी होता है। इसमें स्पर्श का कोई अपराध नही है।
७८. एगन्तरत्ते रुइरंसि फासे अतालिसे से कुणई पओसं। दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले न लिप्पई तेण मुणी विरागो॥	जो मनोहर स्पर्श में अत्यधिक आसक्त होता है और अमनोहर स्पर्श में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःख की पीड़ा को प्राप्त होता है। विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता है।

७९. फासाणुगासाणुगए य जीवे
चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥

स्पर्श की आशा का अनुगामी अनेक-रूप त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को ही मुख्य मानने वाला क्लिष्ट अज्ञानी विविध प्रकार से उन्हें परिताप देता है, पीड़ा पहुँचाता है।

८०. फासाणुवाएण परिग्गहेण
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे ।
वए विओगे य कहिं सुहं से ?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥

स्पर्श मे अनुरक्ति और ममत्व के कारण स्पर्श के उत्पादन मे, संरक्षण में, संनियोग मे ; तथा व्यय और वियोग में उसे सुख कहाँ ? उसे उपभोग-काल में भी तृप्ति नहीं मिलती है।

८१. फासे अतित्ते य परिग्गहे य
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययई अदत्तं ॥

स्पर्श मे अतृप्त तथा परिग्रह में आसक्त और उपसक्त व्यक्ति संतोष को प्राप्त नहीं होता है। वह असंतोष के दोष से दुःखी और लोभ से व्याकुल होकर दूसरों की वस्तुएँ चुराता है।

८२. तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो
फासे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥

स्पर्श और परिग्रह मे अतृप्त तथा तृष्णा से अभिभूत वह दूसरो की वस्तुओं का अपहरण करता है। लोभ के दोष से उसका कपट और झूठ बढ़ता है। कपट और झूठ से भी वह दुःख से मुक्त नही हो पाता है।

८३. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य
पओगकाले य दुही दुरन्ते ।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो
फासे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥

झूठ बोलने के पहले, उसके बाद और बोलने के समय में भी वह दुःखी होता है। उसका अन्त भी दुःख रूप है। इस प्रकार रूप में अतृप्त होकर वह चोरी करने वाला दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।

८४. फासाणुरत्तस्स नरस्स एवं
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ?
तत्थोवभोगे वि किलेस दुक्खं
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥

इस प्रकार स्पर्श में अनुरक्त पुरुष को कहाँ, कब, कितना सुख होगा ? जिसे पाने के लिए दुःख उठाया जाता है, उसके उपभोग में भी क्लेश और दुःख ही होता है।

८५. एमेव फासम्मि गओ पओसं
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥

इसी प्रकार जो स्पर्श के प्रति द्वेष करता है, वह भी उत्तरोत्तर अनेक दुःखों की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेषयुक्त चित्त से जिन कर्मों का उपार्जन करता है, वे ही विपाक के समय में दुःख के कारण बनते हैं।

८६. फासे विरत्तो मणुओ विसोगो
एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥

स्पर्श में विरक्त मनुष्य शोकरहित होता है। वह संसार में रहता हुआ भी लिप्त नही होता है। जैसे जलाशय में कमल का पत्ता जल से।

८७. मणस्स भावं गहणं वयन्ति
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥

मन का विषय भाव (अभिप्राय, विचार) है। जो भाव राग में कारण है, उसे मनोज्ञ कहते है और जो भाव द्वेष का कारण होता है, उसे अमनोज्ञ कहते हैं।

८८. भावस्स मणं गहणं वयन्ति
मणस्स भावं गहणं वयन्ति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु।

मन भाव का ग्राहक है। भाव मन का ग्राह्य है। जो राग का कारण है, उसे मनोज्ञ कहते है। और जो द्वेष का कारण है, उसे अमनोज्ञ कहते है।

८९. भावेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे कामगुणेसु गिद्धे
करेणुमग्गावहिए व नागे ॥

जो मनोज्ञ भावों में तीव्र रूप से आसक्त है, वह अकाल में विनाश को प्राप्त होता है। जैसे हथिनी के प्रति आकृष्ट, काम गुणों में आसक्त रागातुर हाथी विनाश को प्राप्त होता है।

९०. जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू
न किंचि भावं अवरज्झई से ॥

जो अमनोज्ञ भाव के प्रति तीव्ररूप से द्वेष करता है, वह उसी क्षण अपने दुर्दान्त द्वेष से दुःखी होता है। इसमें भाव का कोई अपराध नहीं है।

९१. एगन्तरत्ते रुइरंसि भावे
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले
न लिप्पई तेण मुणी विरागो॥

जो मनोज्ञ भाव में एकान्त आसक्त होता है, और अमनोज्ञ में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःख की पीड़ा को प्राप्त होता है। विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता।

९२. भावाणुगासाणुगए य जीवे
चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे॥

भाव की आशा का अनुगामी व्यक्ति अनेक रूप त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को ही मुख्य मानने वाला क्लिष्ट अज्ञानी जीव विवध प्रकार से उन्हें परिताप देता है, पीड़ा पहुंचाता है।

९३. भावाणुवाएण परिग्गहेण
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहिं सुहं से ?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे॥

भाव में अनुरक्त और ममत्व के कारण भाव के उत्पादन में, संरक्षण में, सन्नियोग मे तथा व्यय और वियोग में उसे सुख कहाँ ? उसे उपभोगकाल में भी तृप्ति नही मिलती है।

९४. भावे अतित्ते य परिग्गहे य
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययई अदत्तं॥

भाव मे अतृप्त तथा परिग्रह में आसक्त और उपसक्त व्यक्ति संतोष को प्राप्त नहीं होता। वह असंतोष के दोष से दुःखी तथा लोभ से व्याकुल होकर दूसरों की वस्तु चुराता है।

९५. तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो
भावे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से॥

भाव और परिग्रह में अतृप्त तथा तृष्णा से अभिभूत होकर वह दूसरों की वस्तुओं का अपहरण करता है। लोभ के दोष से उसका कपट और झूठ बढ़ता है। कपट और झूठ से भी वह दुःख से मुक्त नहीं हो पाता है।

९६. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य
पओगकाले य दुही दुरन्ते॥
एवं अदत्ताणि समाययन्तो
भावे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो।

झूठ बोलने के पहले, उसके बाद, और बोलने के समय वह दुःखी होता है। उसका अन्त भी दुःखरूप है। इस प्रकार भाव में अतृप्त होकर वह चोरी करता है, दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।

९७. भावाणुरत्तस्स नरस्स एवं
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ?
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥

इस प्रकार भाव में अनुरक्त पुरुष को कहाँ, कब और कितना सुख होगा ? जिसे पाने के लिए दुःख उठाता है। उसके उपभोग में भी क्लेश और दुःख ही होता है।

९८. एमेव भावम्मि गओ पओसं
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥

इसी प्रकार जो भाव के प्रति द्वेष करता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखों की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेष-युक्त चित्त से जिन कर्मों का उपार्जन करता है, वे ही विपाक के समय में दुःख के कारण बनते हैं।

९९. भावे विरत्तो मणुओ विसोगो
एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥

भाव मे विरक्त मनुष्य शोक-रहित होता है। वह संसार मे रहता हुआ भी लिप्त नही होता है, जैसे जलाशय मे कमल का पत्ता जल से।

१००. एविन्दियत्था य मणस्स अत्था
दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं
न वीयरागस्स करेन्ति किंचि ॥

इस प्रकार रागी मनुष्य के लिए इन्द्रिय और मन के जो विषय दुःख के हेतु है, वे ही वीतराग के लिए कभी भी किंचित् मात्र भी दुःख के कारण नहीं होते हैं।

१०१. न कामभोगा समयं उवेन्ति
न यावि भोगा विगइं उवेन्ति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य
सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥

काम-भोग न समता—समभाव लाते हैं, और न विकृति लाते हैं। जो उनके प्रति द्वेष और ममत्व रखता है, वह उनमे मोह के कारण विकृति को प्राप्त होता है।

१०२. कोहं च माणं च तहेव मायं
लोहं दुगुंछं अरइं रइं च।
हासं भयं सोगपुमित्थिवेयं
नपुंसवेयं विविहे य भावे ॥

क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, अरति, रति, हास्य, भय, शोक, पुरुष-वेद, स्त्री वेद, नपुंसक वेद, तथा हर्ष-विषाद आदि विविध भावो को—

१०३. आवज्जई एवमणेगरूवे
एवंविहे कामगुणेसु सत्तो।
अन्ने य एयप्पभवे विसेसे
कारुण्णदीणे हिरिमे वइस्से॥

अनेक प्रकार के विकारों को, उनसे उत्पन्न अन्य अनेक कुपरिणामों को वह प्राप्त होता है, जो कामगुणों में आसक्त है। और वह करुणास्पद, दीन, लज्जित और अप्रिय भी होता है।

१०४. कप्पं न इच्छिज्ज सहायलिच्छू
पच्छाणुतावेय तवप्पभावं।
एवं वियारे अमियप्पयारे
आवज्जई इन्दियचोरवस्से॥

शरीर की सेवारूप सहायता आदि की लिप्सा से कल्पयोग्य शिष्य की भी इच्छा न करे। दीक्षित होने के बाद अनुतप्त होकर तप के प्रभाव की इच्छा न करे। इन्द्रियरूपी चोरों के वशीभूत जीव अनेक प्रकार के अपरिमित विकारों को प्राप्त करता है।

१०५. तओ से जायन्ति पओयणाइं
निमज्जिउं मोहमहण्णवम्मि।
सुहेसिणो दुक्खविणोयणट्ठा
तप्पच्चयं उज्जमए य रागी॥

विकारों के होने के बाद मोहरूपी महासागर में डुबाने के लिए विषयासेवन एवं हिंसादि अनेक प्रयोजन उपस्थित होते हैं। तब वह सुखाभिलाषी रागी व्यक्ति दुःख से मुक्त होने के लिए प्रयत्न करता है।

१०६. विरज्जमाणस्स य इन्दियत्था
सद्दाइया तावइयप्पगारा।
न तस्स सव्वे वि मणुन्नयं वा
निव्वत्तयन्ती अमणुन्नयं वा॥

इन्द्रियों के जितने भी शब्दादि विषय हैं, वे सभी विरक्त व्यक्ति के मन मे मनोज्ञता अथवा अमनोज्ञता उत्पन्न नहीं करते हैं।

१०७. एवं ससंकप्पविकप्पणासु
संजायई समयमुवट्ठियस्स।
अत्थे य संकप्पयओ तओ से
पहीयए कामगुणेसु तण्हा॥

"अपने ही संकल्प-विकल्प सब दोषों के कारण हैं, इन्द्रियों के विषय नहीं"—ऐसा जो संकल्प करता है, उसके मन में समता जागृत होती है और उससे उसकी काम-गुणों की तृष्णा क्षीण होती है।

१०८. स वीयरागो कयसव्वकिच्चो
खवेइ नाणावरणं खणेणं।
तहेव जं दंसणमावरेइ
जं चऽन्तरायं पकरेइ कम्मं॥

वह कृतकृत्य वीतराग आत्मा क्षण-भर में ज्ञानावरण का क्षय करता है। दर्शन के आवरणों को हटाता है और अन्तराय कर्म को दूर करता है।

१०९. सव्वं तओ जाणइ पासए य
अमोहणे होइ निरन्तराए।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते
आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे॥

उसके बाद वह सब जानता है और देखता है, तथा मोह और अन्तराय से रहित होता है। निराश्रव और शुद्ध होता है। ध्यान-समाधि से सम्पन्न होता है। आयुष्य के क्षय होने पर मोक्ष को प्राप्त होता है।

११०. सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को
जं बाहई सययं जन्तुमेयं।
दीहामयविप्पमुक्को पसत्थो
तो होइ अच्चन्तसुही कयत्थो॥

जो जीव को सदैव बाधा—पीड़ा देते रहते हैं, उन समस्त दुःखों से तथा दीर्घकालीन कर्मों से मुक्त होता है। तब वह प्रशस्त, अत्यन्त सुखी तथा कृतार्थ होता है।

१११. अणाइकालप्पभवस्स एसो
सव्वस्स दुक्खस्स पमोक्खमग्गो।
वियाहिओ जं समुविच्च सत्ता
कमेण अच्चन्तसुही भवन्ति॥

अनादि काल से उत्पन्न होते आए सर्व दुःखों से मुक्ति का यह मार्ग बताया है। उसे सम्यक् प्रकार से स्वीकार कर जीव क्रमशः अत्यन्त (अनन्त) सुखी होते हैं।

—त्ति बेमि। —ऐसा मैं कहता हूँ।

३३

कर्म-प्रकृति

विभाव में कर्मबन्ध होता है और स्वभाव में कर्मबन्ध से मुक्ति होती है।

स्वरूप की अपेक्षा से विश्व के तमाम जीव समान हैं। उनमें मूलतः कोई भेद नहीं है। जो भेद है वह कर्मों के होने तथा न होने के कारण है। कर्म जड़ है, पुद्गल है। रागादि विभाव परिणति के कारण जीव का कर्म के साथ बन्ध होता है। बन्ध अनादि है। वह कब हुआ ? यह नहीं बताया जा सकता, क्योंकि अबन्ध स्थिति पूर्व में कभी थी ही नहीं।

कर्म आठ हैं। वस्तुतः कर्मवर्गणा के परमाणुओं में कोई भिन्नता नहीं है। किन्तु जीव के भिन्न-भिन्न अध्यवसायों के कारण कर्मों की प्रकृति में तथा स्थिति में भिन्नता आती है। जैसे ज्ञानी के ज्ञान की अवहेलनारूप अध्यवसाय में जीव ज्ञानावरण-रूप में कर्म-पुद्गलों को अपनी ओर आकृष्ट करता है। अवहेलना के अध्यवसाय में तीव्र एवं मन्द आदि अनेक भावनाएँ समाविष्ट हैं। अनेक प्रकार की उत्तेजनाएँ हैं। अध्यवसाय की स्थिति में भिन्नता है। अतः जिन कर्मपुद्गलों को जीव ग्रहण करता है, उनका अध्यवसाय की प्रमुखता से तीव्रता तथा मन्दता में वर्गीकरण होता है।

विशिष्ट बोधरूप ज्ञान को आच्छादित करने वाला ज्ञानावरणीय कर्म होता है। इसी प्रकार अन्य कर्मों के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए। सामान्य बोध को ढांक देने वाला दर्शनावरणीय कर्म होता है। जो सुख और दुःख का हेतु बनता है, वह वेदनीय कर्म है। जो दर्शन और चारित्र में विकृति पैदा करता है, वह मोहनीय कर्म है। जीवन-काल का निर्धारण आयु-कर्म

करता है। ऊँच अथवा नीच गोत्र का कारण गोत्र-कर्म है। शक्ति का अव-रोधक कर्म अन्तराय है। इनकी उत्तर प्रकृतियाँ १४८ हैं।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस क्रोडाक्रोड सागर है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त। मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर क्रोडाक्रोड सागर है तथा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त। आयु-कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेंतीस सागर है तथा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त। नाम और गोत्र-कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस क्रोडाक्रोड सागर है और जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है।

कर्मों का अनुभाव अर्थात् फल तीव्र और मन्द परिणामों से बद्ध हुए कर्मों के अनुसार होता है।

●

तेत्तीसइमं अज्झयणं : त्रयस्त्रिंश अध्ययन

कम्मपयडी : कर्म-प्रकृति

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. अट्ठ कम्माइं वोच्छामि आणुपुव्विं जहक्कमं । जेहिं बद्धो अयं जीवो संसारे परिवत्तए ॥	मैं अनुपूर्वी के क्रमानुसार आठ कर्मों का वर्णन करूँगा, जिनसे बँधा हुआ यह जीव संसार में परिवर्तन—परिभ्रमण करता है ।
२. नाणस्सावरणिज्जं दंसणावरणं तहा । वेयणिज्जं तहा मोहं आउकम्मं तहेव य ॥	ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोह तथा आयु कर्म—
३. नामकम्मं च गोयं च अन्तरायं तहेव य । एवमेयाइ कम्माइं अट्ठेव उ समासओ ॥	नाम-कर्म, गोत्र और अन्तराय-संक्षेप से ये आठ कर्म हैं ।
४. नाणावरणं पंचविहं सुयं आभिणिबोहियं । ओहिनाणं तइयं । मणनाणं च केवलं ॥	ज्ञानावरण कर्म पाँच प्रकार का है—श्रुत-ज्ञानावरण, आभिनिबोधिक-ज्ञानावरण, अवधि-ज्ञानावरण, मनो-ज्ञानावरण, और केवल-ज्ञानावरण ।
५. निद्दा तहेव पयला निद्दानिद्दा य पयलपयला य । तत्तो य थीणगिद्धी उ पंचमा होइ नायव्वा ॥	निद्रा, प्रचला, निद्रा-निद्रा, प्रचला प्रचला और पाँचवीं स्त्यानगृद्धि ।

६. चक्खुमचक्खु-ओहिस्स
दंसणे केवले य आवरणे ।
एवं तु नवविगप्पं
नायव्वं दंसणावरणं ॥

चक्षु-दर्शनावरण, अचक्षु-दर्शनावरण, अवधि-दर्शनावरण और केवल-दर्शनावरण-ये नौ दर्शनावरण कर्म के विकल्प-भेद हैं ।

७. वेयणीयं पि य दुविहं
सायमसायं च आहियं ।
सायस्स उ बहू भेया
एमेव असायस्स वि ॥

वेदनीय कर्म के दो भेद हैं—सात वेदनीय और असात वेदनीय । सात और असात वेदनीय के अनेक भेद हैं ।

८. मोहणिज्जं पि दुविहं
दंसणे चरणे तहा ।
दंसणं तिविहं वुत्तं
चरणे दुविहं भवे ॥

मोहनीय कर्म के भी दो भेद हैं—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय । दर्शन मोहनीय के तीन और चारित्र-मोहनीय के दो भेद हैं ।

९. सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं
सम्मामिच्छत्तमेव य ।
एयाओ तिन्नि पयडीओ
मोहणिज्जस्स दंसणे ॥

सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्-मिथ्यात्व—ये तीन दर्शन मोहनीय की प्रकृतियाँ हैं ।

१०. चरित्तमोहणं कम्मं
दुविहं तु वियाहियं ।
कसायमोहणिज्जं तु
नोकसायं तहेव य ॥

चारित्र मोहनीय के दो भेद हैं—कषाय मोहनीय और नोकषाय मोहनीय ।

११. सोलसविहभेएणं
कम्मं तु कसायजं ।
सत्तविहं नवविहं वा
कम्मं नोकसायजं ॥

कषाय मोहनीय कर्म के सोलह भेद हैं । नोकषाय मोहनीय कर्म के सात अथवा नौ भेद हैं ।

१२. नेरइय-तिरिक्खाउ
मणुस्साउ तहेव य ।
देवाउयं चउत्थं तु
आउकम्मं चउव्विहं ॥

आयु कर्म के चार भेद हैं—नैरयिक आयु, तिर्यग् आयु, मनुष्य आयु और देव-आयु ।

१३. नामं कम्मं तु दुविहं
सुहमसुहं च आहियं ।
सुहस्स उ बहू भेया
एमेव असुहस्स वि ॥

नाम कर्म के दो भेद हैं—शुभ नाम और अशुभ-नाम । शुभ के अनेक भेद हैं । इसी प्रकार अशुभ के भी ।

१४. गोयं कम्मं दुविहं
उच्चं नीयं च आहियं ।
उच्चं अट्ठविहं होइ
एवं नीयं पि आहियं ॥

गोत्र कर्म के दो भेद हैं—उच्च गोत्र और नीच गोत्र । इन दोनों के आठ-आठ भेद हैं ।

१५. दाणे लाभे य भोगे य
उवभोगे वीरिए तहा ।
पंचविहमन्तरायं
समासेण वियाहियं ॥

संक्षेप से अन्तराय कर्म के पाँच भेद हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ।

१६. एयाओ मूलपयडीओ
उत्तराओ य आहिया ।
पएसग्गं खेत्तकाले य
भावं चादुत्तरं सुण ॥

ये कर्मों की मूल प्रकृतियाँ और उत्तर प्रकृतियाँ कही गई हैं । इसके आगे उनके प्रदेशाग्र—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को सुनो ।

१७. सव्वेसिं चेव कम्माणं
पएसग्गमणन्तगं ।
गण्ठिय-सत्ताईयं
अन्तो सिद्धाण आहियं ॥

एक समय में ग्राह्य-बद्ध होने वाले सभी कर्मों का प्रदेशाग्र-कर्मपुद्गलरूप द्रव्य अनन्त होता है । वह ग्रन्थिग सत्त्वों से—अर्थात् ग्रन्थिभेद न करने वाले अनन्त अभव्य जीवों से अनन्त गुण अधिक और सिद्धों के अनन्तवें भाग जितना होता है ।

१८. सव्वजीवाण कम्मं तु
संगहे छद्दिसागयं ।
सव्वेसु वि पएसेसु
सव्वं सव्वेण बद्धगं ॥

सभी जीवों के लिए संग्रह—बद्ध करने योग्य कर्म-पुद्गल छहों दिशाओं में—आत्मा से स्पृष्ट—अवगाहित सभी आकाश प्रदेशों में है । वे सभी कर्म-पुद्गल बन्ध के समय आत्मा के सभी प्रदेशों के साथ बद्ध होते हैं ।

१९. उदहीसरिनामाणं
तीसई कोडिकोडिओ ।
उक्कोसिया ठिई होइ
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटि-कोटि उदधिसदृश-सागरोपम की है । और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है :—

२०. आवरणिज्जाण दुण्हं पि
वेयणिज्जे तहेव य ।
अन्तराए य कम्मम्मि
ठिई एसा वियाहिया ॥

दो आवरणीय कर्म अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा वेदनीय और अन्तराय कर्म की यह (उपर्युक्त) स्थिति बताई गई है ।

२१. उदहीसरिनामाणं
सत्तरिं कोडिकोडिओ ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटि-कोटि सागरोपम की है। और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

२२. तेत्तीस सागरोवमा
उक्कोसेण वियाहिया ।
ठिई उ आउकम्मस्स
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

आयु-कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की है; और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

२३. उदहीसरिनामाणं
वीसई कोडिकोडिओ ।
नामगोत्ताणं उक्कोसा
अट्ठमुहुत्ता जहन्निया ॥

नाम और गोत्र-कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटि-कोटि सागरोपम की है और जघन्य स्थिति आठ मुहुर्त की है।

२४. सिद्धाणऽणन्तभागो य
अणुभागा हवन्ति उ ।
सव्वेसु वि पएसग्गं
सव्वजीवेसुऽइच्छियं ॥

सिद्धों के अनन्तवें भाग जितने कर्मों के अनुभाग (रस विशेष) हैं। सभी अनुभागों का प्रदेश-परिमाण सभी भव्य और अभव्य जीवों से अतिक्रान्त है, अधिक है।

२५. तम्हा एएसि कम्माणं
अणुभागे वियाणिया ।
एएसिं संवरे चेव
खवणे य जए बुहे ॥

इसलिए इन कर्मों के अनुभागों को जानकर बुद्धिमान् साधक इनका संवर और क्षय करने का प्रयत्न करे।

—त्ति बेमि ।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

३४

लेश्याध्ययन

कषायश्लिष्ट आत्मपरिणाम ही बन्ध के हेतु हैं।
शुभाशुभ प्रवृत्ति का मूलाधार शुभाशुभ लेश्या हैं।

सामान्यतः मन आदि योगों से अनुरंजित तथा विशेषतः कषायानुरंजित आत्मपरिणामों से जीव एक विशिष्ट पर्यावरण पैदा करता है। यह पर्यावरण ही लेश्या है। वस्तुतः पूर्व प्रतिबद्ध संस्कारों के अनुसार जीव के अध्यवसाय होते हैं और अध्यवसायों के अनुरूप ही जीवकी अच्छी-बुरी प्रवृत्ति होती है। भावी कर्मों की श्रृंखला भी इसी अध्यवसाय की परम्परा से सम्बन्धित है। भाव से द्रव्य और द्रव्य से भाव की कार्यकारणरूप परम्परा है। अतः लेश्या भी भाव और द्रव्य दोनों प्रकार की हैं। द्रव्य लेश्याएँ पौद्गलिक होती हैं, अतः इनके वर्ण, रस, गंध, स्पर्श आदि का भी उल्लेख हुआ है। अथवा वह अन्तर्मन की शुभाशुभ विचारधारा के लिए सर्वसाधारण के बोधार्थ एक शास्त्रीय रूपक भी हो सकता है। वैसे आज के विज्ञान ने मानव-मस्तिष्क में स्फुरित होने वाले विचारों के चित्र भी लिए हैं, जिनमें अच्छे-बुरे रंग उभरे हैं।

प्रस्तुत में शास्त्रकार यह कहना चाहते हैं कि व्यक्ति के जीवन का निर्माण उसके अपने विचार में है। वह जैसा भी चाहे, अपने को बना सकता है। बाह्य और आन्तरिक दोनों ही जगत् एक दूसरे से प्रभावित होते हैं। पुद्गल से जीव प्रभावित होता है और जीव से पुद्गल। दोनों का परस्पर प्रभाव ही प्रभा है, आभा है, कान्ति है, छाया है। इसे ही दर्शन की भाषा में लेश्या कहा गया है।

चउतीसइमं अज्झयणं : चतुस्त्रिंश अध्ययन

लेसज्झयणं : लेश्याध्ययन

मूल

१. लेसज्झयणं पवक्खामि
आणुपुव्विं जहक्कमं ।
छण्हं पि कम्मलेसाणं
अणुभावे सुणेह मे ॥

हिन्दी अनुवाद

मैं अनुपूर्वी के क्रमानुसार लेश्या-अध्ययन का निरूपण करूँगा। मुझसे तुम छहों लेश्याओं के अनुभावों—रस-विशेषों को सुनो।

२. नामाइं वण्ण-रस-गन्ध—
फास-परिणाम-लक्खणं ।
ठाणं ठिइं गइं चाउं
लेसाणं तु सुणेह मे ॥

लेश्याओं के नाम, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयुष्य को मुझसे सुनो।

नाम द्वार—

३. किण्हा नीला य काऊ य
तेऊ पम्हा तहेव य ।
सुक्कलेसा य छट्ठा उ
नामाइं तु जहक्कमं ॥

क्रमशः लेश्याओं के नाम इस प्रकार हैं—कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्, पद्म और शुक्ल।

वर्ण द्वार—

४. जीमूयनिद्धसंकासा
गवलऽरिट्ठगसन्निभा ।
खंजणंजण-नयणनिभा
किण्हलेसा उ वण्णओ ॥

कृष्ण लेश्या का वर्ण स्निग्ध अर्थात् सजल मेघ, महिष, शृंग, अरिष्टक (द्रोण-काक अथवा अरिष्ट फल-रीठा) खंजन, अंजन और नेत्र-तारिका के समान (काला) है।

५. नीला—ऽसोगसंकासा
चासपिच्छसमप्पभा ।
वेरुलियनिद्धसंकासा
नीललेसा उ वण्णओ ॥

नील लेश्या का वर्ण—नील अशोक वृक्ष, चास पक्षी के पंख और स्निग्ध वैडूर्य मणि के समान (नीला) है।

६. अयसीपुप्फसंकासा
कोइलच्छदसन्निभा ।
पारेवयगीवनिभा
काउलेसा उ वण्णओ ॥

कापोत लेश्या का वर्ण—अलसी के फूल, कोयल के पंख और कबूतर की ग्रीवा के वर्ण के समान (कुछ काला और कुछ लाल-जैसा मिश्रित) है।

७. हिंगुलुयधाउसंकासा
तरुणाइच्चसन्निभा ।
सुयतुण्ड-पईवनिभा
तेउलेसा उ वण्णओ ॥

तेजोलेश्या का वर्ण—हिंगुल, धातु—गेरू, उदीयमान तरुण सूर्य, तोते की चोंच, प्रदीप की लौ के समान (लाल) होता है।

८. हरियालभेयसंकासा
हलिद्दाभेयसंनिभा ।
सणासणकुसुमनिभा
पम्हलेसा उ वण्णओ ॥

पद्म लेश्या का वर्ण—हरिताल और हल्दी के खण्ड, तथा सण और असन के फूल के समान (पीला) है।

९. संखंककुन्दसंकासा
खीरपूरसमप्पभा ।
रययहारसंकासा
सुक्कलेसा उ वण्णओ ॥

शुक्ल लेश्या का वर्ण—शंख, अंकरत्न (स्फटिक जैसा श्वेत रत्नविशेष), कुन्द-पुष्प, दुग्ध-धारा, चांदी के हार के समान (श्वेत) है।

रस द्वार—

१०. जह कडुयतुम्बगरसो
निम्बरसो कडुयरोहिणिरसो वा ।
एत्तो वि अणन्तगुणो
रसो उ किण्हाए नायव्वो ॥

कड़ुवा तुम्बा, नीम तथा कड़ुवी रोहिणी का रस जितना कड़ुवा होता है, उससे अनन्त गुण अधिक कड़ुवा कृष्ण लेश्या का रस है।

११. जह तिगडुयस्स य रसो तिक्खो जह हत्थिपिप्पलीए वा। एत्तो वि अणन्तगुणो रसो उ नीलाए नायव्वो॥	त्रिकटु और गजपीपल का रस जितना तीखा है, उससे अनन्त गुण अधिक तीखा नील लेश्या का रस है।
१२. जह तरुणअम्बगरसो तुवरकविट्ठस्स वावि जारिसओ। एत्तो वि अणन्तगुणो रसो उ काऊए नायव्वो॥	कच्चे आम और कच्चे कपित्थ का रस जैसे कसैला होता है, उससे अनन्त गुण अधिक कसैला कापोत लेश्या का रस है।
१३. जह परिणयम्बगरसो पक्ककविट्ठस्स वावि जारिसओ। एत्तो वि अणन्तगुणो रसो उ तेऊए नायव्वो॥	पके हुए आम और पके हुए कपित्थ का रस जितना खट-मीठा होता है, उससे अनन्त गुण अधिक खट-मीठा तेजोलेश्या का रस है।
१४. वरवारुणीए व रसो विविहाण व आसवाण जारिसओ। महु-मेरगस्स व रसो एत्तो पम्हाए परएणं।	उत्तम सुरा, फूलों से बने विविध आसव, मधु (मद्यविशेष), तथा मैरेयक (सरका) का रस जितना अम्ल-कसैला होता है, उससे अनन्त गुण अधिक अम्ल-कसैला पद्म लेश्या का रस है।
१५. खज्जूर-मुद्दियरसो खीररसो खण्ड-सक्कररसो वा। एत्तो वि अणन्तगुणो रसो उ सुक्काए नायव्वो॥	खजूर, मृद्वीका (दाख), क्षीर, खांड और शक्कर का रस जितना मीठा होता है उससे अनन्त गुण अधिक मीठा शुक्ल-लेश्या का रस है।
	गन्ध द्वार—
१६. जह गोमडस्स गन्धो सुणगमडगस्स व जहा अहिमडस्स। एत्तो वि अणन्तगुणो लेसाणं अप्पसत्थाणं॥	गाय, कुत्ते और सर्प के मृतक शरीर की जैसे दुर्गन्ध होती है, उससे अनन्त गुण अधिक दुर्गन्ध तीनों अप्रशस्त लेश्याओं की होती है।
१७. जह सुरहिकुसुमगन्धो गन्धवासाण पिस्समाणाणं। एत्तो वि अणन्तगुणो पसत्थलेसाण तिण्हं पि।	सुगन्धित पुष्प और पीसे जा रहे सुगन्धित पदार्थों की जैसी गन्ध है, उससे अनन्त गुण अधिक सुगन्ध तीनों प्रशस्त लेश्याओं की है।

स्पर्श द्वार—

१८. जह करगयस्स फासो
गोजिब्भाए व सागपत्ताणं।
एत्तो वि अणन्तगुणो
लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥

क्रकच (करवत), गाय की जीभ और शाक वृक्ष के पत्रों का स्पर्श जैसे कर्कश होता है, उससे अनन्त गुण अधिक कर्कश स्पर्श तीनों अप्रशस्त लेश्याओं का है।

१९. जह बूरस्स व फासो
नवणीयस्स व सिरीसकुसुमाणं।
एत्तो वि अणन्तगुणो
पसत्थलेसाण तिण्हं पि ॥

बूर (वनस्पतिविशेष), नवनीत, सिरीष के पुष्पों का स्पर्श जैसे कोमल होता है, उससे अनन्त गुण अधिक कोमल स्पर्श तीनों प्रशस्त लेश्याओं का है।

परिणाम द्वार—

२०. तिविहो व नवविहो वा
सत्तावीसइविहेक्कसीओ वा।
दुसओ तेयालो वा
लेसाणं होइ परिणामो ॥

लेश्याओं के तीन, नौ, सत्ताईस, इक्कासी अथवा दो-सौ तेंतालीस परिणाम (जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट आदि) होते हैं।

लक्षण द्वार—

२१. पंचासवप्पवत्तो
तीहिं अगुत्तो छसुं अविरओ य।
तिव्वारम्भपरिणओ
खुद्दो साहसिओ नरो।

जो मनुष्य पाँच आश्रवों में प्रवृत्त है, तीन गुप्तियों मे अगुप्त है, षट्काय में अविरत है, तीव्र आरम्भ में—हिंसा आदि में संलग्न है, क्षुद्र है, साहसी अर्थात् अविवेकी है—

२२. निद्धन्धसपरिणामो
निस्संसो अजिइन्दिओ।
एयजोगसमाउत्तो
किण्हलेसं तु परिणमे ॥

निःशंक परिणाम वाला है, नृशंस (क्रूर) है, अजितेन्द्रिय है—इन सभी योगों से युक्त है, वह कृष्ण लेश्या में परिणत होता है।

२३. इस्सा-अमरिस-अतवो
अविज्ज-माया अहीरिया य।
गेद्धी पओसे य सढे
पमत्ते रसलोलुए सायगवेसए य ॥

जो ईर्ष्यालु है, अमर्ष—कदाग्रही है, अतपस्वी है, अज्ञानी है, मायावी है, लज्जा रहित है, विषयासक्त है, द्वेषी है, धूर्त है, प्रमादी है, रस-लोलुप है, सुख का गवेषक है—

२४. आरम्भाओ अविरओ
खुद्दो साहस्सिओ नरो।
एयजोगसमाउत्तो
नीललेसं तु परिणमे ॥

जो आरम्भ से अविरत है, क्षुद्र है, दुःसाहसी है—इन योगों से युक्त मनुष्य नील लेश्या में परिणत होता है।

२५. वंके वंकसमायारे
नियडिल्ले अणुज्जुए।
पलिउंचग ओवहिए
मिच्छदिट्ठी अणारिए ॥

जो मनुष्य वक्र है—वाणी से टेढ़ा है, आचार से टेढ़ा है, कपट करता है, सरलता से रहित है, प्रति-कुञ्चक है—अपने दोषों को छुपाता है, औपधिक है—सर्वत्र छद्म का प्रयोग करता है। मिथ्यादृष्टि है, अनार्य है—

२६. उप्फालग-दुट्ठवाई य
तेणे यावि य मच्छरी।
एयजोगसमाउत्तो
काउलेसं तु परिणमे ॥

उत्प्रासक है—गंदा मजाक करने वाला है, दुष्ट वचन बोलता है, चोर है, मत्सरी है, इन सभी योगों से युक्त वह कापोत लेश्या में परिणत होता है।

२७. नीयावित्ती अचवले
अमाई अकुऊहले।
विणीयविणए दन्ते
जोगवं उवहाणवं ॥

जो नम्र है, अचपल है, माया से रहित है, अकुतूहल है, विनय करने में निपुण है, दान्त है, योगवान् है—स्वाध्याय आदि के द्वारा समाधि-सम्पन्न है, उपधान (श्रुतोपचार अर्थात् श्रुत-अध्ययन के समय विहित तप) करने वाला है।

२८. पियधम्मे दढधम्मे
वज्जभीरू हिएसए।
एयजोगसमाउत्तो
तेउलेसं तु परिणमे ॥

प्रियधर्मी है, दृढधर्मी है, पाप-भीरु है, हितैषी है—इन सभी योगों से युक्त वह तेजो लेश्या में परिणत होता है।

२९. पयणुक्कोह-माणे य
माया-लोभे य पयणुए।
पसन्तचित्ते दन्तप्पा
जोगवं उवहाणवं ॥

क्रोध, मान, माया और लोभ जिसके अत्यन्त अल्प हैं, जो प्रशान्तचित्त है, अपनी आत्मा का दमन करता है, योगवान् है, उपधान करने वाला है—

३०. तहा पयणुवाई य
उवसन्ते जिइन्दिए।
एयजोगसमाउत्तो
पम्हलेसं तु परिणमे॥

जो मित-भाषी है, उपशान्त है, जितेन्द्रिय है—इन सभी योगों से युक्त वह पद्म लेश्या में परिणत होता है।

३१. अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता
धम्मसुक्काणि झायए।
पसन्तचित्ते दन्तप्पा
समिए गुत्ते य गुत्तिहिं॥

आर्त्त और रौद्र ध्यानों को छोड़कर जो धर्म और शुक्ल ध्यान में लीन है, जो प्रशान्त-चित्त और दान्त है, पाँच समितियों से समित और तीन गुप्तियों से गुप्त है—

३२. सरागे वीयरागे वा
उवसन्ते जिइन्दिए।
एयजोग—समाउत्तो
सुक्कलेसं तु परिणमे॥

सराग हो या वीतराग, किन्तु जो उपशान्त है, जितेन्द्रिय है—इन सभी योगों से युक्त वह शुक्ल लेश्या में परिणत होता है।

स्थान द्वार—

३३. असंखिज्जाणोसप्पिणीण
उस्सप्पिणीण जे समया।
संखाईया लोगा
लेसाण हुन्ति ठाणाइं॥

असंख्य अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के जितने समय होते हैं, असंख्य योजन प्रमाण लोक के जितने आकाश-प्रदेश होते है, उतने ही लेश्याओं के स्थान (शुभाशुभ भावों की चढ़ती-उतरती भूमिकाएँ) होते है।

स्थिति द्वार—

३४. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना
तेत्तीसं सागरा मुहुत्तऽहिया।
उक्कोसा होइ ठिई
नायव्वा किण्हलेसाए॥

कृष्ण-लेश्या की जघन्य (कम से कम) स्थिति मुहूर्तार्ध अर्थात् अन्तर् मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति एक मुहूर्त—अधिक तेतीस सागर है।

३५. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना
दस उवही पलियमसंख-
भागमब्भहिया।
उक्कोसा होइ ठिई
नायव्वा नीललेसाए॥

नील लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दस सागर है।

३६. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना
तिण्णुदही पलियमसंख-
भागमब्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई
नायव्वा काउलेसाए ॥

कापोत लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तमुंहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागर है ।

३७. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना
दोउदही पलियमसंख-
भागमब्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई
नायव्वा तेउलेसाए ॥

तेजो लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर् मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागर है ।

३८. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना
दस होन्ति सागरा मुहुत्तऽहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई
नायव्वा पम्हलेसाए ॥

पद्म लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्-मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति एक मुहूर्त-अधिक दस सागर है ।

३९. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना
तेत्तीसं सागरा मुहुत्तहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई
नायव्वा सुक्कलेसाए ॥

शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर् मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति मुहूर्त—अधिक तेतीस सागर है ।

४०. एसा खलु लेसाणं
ओहेण ठिई उ वण्णिया होई ।
चउसु वि गईसु एत्तो
लेसाण ठिइं तु वोच्छामि ॥

गति की अपेक्षा के बिना यह लेश्याओं की ओघ-सामान्य स्थिति है। अब चार गतियों की अपेक्षा से लेश्याओं की स्थिति का वर्णन करूँगा ।

४१. दस वाससहस्साइं
काऊए ठिई जहन्निया होइ ।
तिण्णुदही पलिओवम-
असंखभागं च उक्कोसा ॥

कापोत लेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार-वर्ष है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागर है ।

४२. तिण्णुदही पलिय—
मसंखभागा जहन्नेण नीलठिई ।
दस उदही पलिओवम-
असंखभागं च उक्कोसा ॥

नील लेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागर है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दस सागर है ।

४३. दस उदही पलिय—
मसंखभागं जहन्निया होइ।
तेत्तीससागराइं उक्कोसा
होइ किण्हाए॥

कृष्ण-लेश्या की जघन्य-स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दस सागर है और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर है।

४४. एसा नेरइयाणं
लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ।
तेण परं वोच्छामि
तिरिय-मणुस्साण देवाणं॥

नैरियक जीवों की लेश्याओं की स्थिति का यह वर्णन किया है। इसके बाद तिर्यंच, मनुष्य और देवों की लेश्या-स्थिति का वर्णन करूँगा।

४५. अन्तोमुहुत्तमद्धं
लेसाण ठिई जहिं जहिं जा उ।
तिरियाण नराणं वा
वज्जित्ता केवलं लेसं॥

केवल शुक्ल लेश्या को छोड़कर मनुष्य और तिर्यंचों की जितनी भी लेश्याएँ हैं, उन सब की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

४६. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना
उक्कोसा होइ पुव्वकोडी उ।
नवहि वरिसेहि ऊणा
नायव्वा सुक्कलेसाए॥

शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष न्यून एक करोड़ पूर्व है।

४७. एसा तिरिय-नराणं
लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ।
तेण परं वोच्छामि
लेसाण ठिई उ देवाणं॥

मनुष्य और तिर्यंचों की लेश्याओं की स्थिति का यह वर्णन किया है। इससे आगे देवो की लेश्याओं की स्थिति का वर्णन करूँगा।

४८. दस वाससहस्साइं
किण्हाए ठिई जहन्निया होइ।
पलियमसंखिज्जइमो
उक्कोसा होइ किण्हाए॥

कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है।

४९. जा किण्हाए ठिई खलु
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेणं नीलाए
पलियमसंखं तु उक्कोसा॥

कृष्ण लेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति है, उससे एक समय अधिक नील लेश्या की जघन्य स्थिति है, और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग अधिक है।

५०. जा नीलाए ठिई खलु
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेणं काऊए
पलियमसंखं च उक्कोसा॥

नील लेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति है, उससे एक समय अधिक कापोत लेश्या की जघन्य स्थिति है, और पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग अधिक उत्कृष्ट स्थिति है।

५१. तेण परं वोच्छामि
तेउलेसा जहा सुरगणाणं ।
भवणवइ—वाणमन्तर—
जोइस—वेमाणियाणं च ।।

इससे आगे भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो की तेजोलेश्या की स्थिति का निरूपण करूँगा ।

५२. पलिओवमं जहन्ना
उक्कोसा सागरा उ दुण्हऽहिया ।
पलियमसंखेज्जेणं
होई भागेण तेऊए ।।

तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति एक पल्योपम है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग अधिक दो सागर है ।

५३. दस वाससहस्साइं
तेऊए ठिई जहन्निया होइ ।
दुण्णुदही पलिओवम
असंखभागं च उक्कोसा ।।

तेजो लेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग अधिक दो सागर है ।

५४. जा तेऊए ठिई खलु
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया ।
जहन्नेणं पम्हाए दस उ
मुहुत्तऽहियाइं च उक्कोसा ।

तेजोलेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति है, उससे एक समय अधिक पद्म लेश्या की जघन्य स्थिति है और उत्कृष्ट स्थिति एक मुहूर्त अधिक दस सागर है ।

५५. जा पम्हाए ठिई खलु
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया ।
जहन्नेणं सुक्काए
तेत्तीस-मुहुत्तमब्भहिया ।।

जो पद्म लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति है, उससे एक समय अधिक शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति है, और उत्कृष्ट स्थिति एक मुहूर्त-अधिक तेतीस सागर है ।

गति द्वार—

५६. किण्हा नीला काऊ
तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो
दुग्गइं उववज्जई बहुसो ।।

कृष्ण, नील और कापोत—ये तीनो अधर्म लेश्याएँ है । इन तीनो से जीव अनेक बार दुर्गति को प्राप्त होता है ।

५७. तेऊ पम्हा सुक्का
तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो
सुग्गइं उववज्जई बहुसो ।।

तेजो-लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल-लेश्या—ये तीनों धर्म लेश्याएँ है । इन तीनों से जीव अनेक बार सुगति को प्राप्त होता है ।

आर्य द्वार—

५८. लेसाहिं सव्वाहिं
पढमे समयम्मि परिणयाहिं तु ।
न वि कस्सवि उववाओ
परे भवे अत्थि जीवस्स ॥

प्रथम समय में परिणत सभी लेश्याओं से कोई भी जीव दूसरे भव में उत्पन्न नहीं होता ।

५९. लेसाहिं सव्वाहिं
चरमे समयम्मि परिणयाहिं तु ।
न वि कस्सवि उववाओ
परे भवे अत्थि जीवस्स ॥

अन्तिम समय में परिणत सभी लेश्याओं से कोई भी जीव दूसरे भव में उत्पन्न नहीं होता ।

६०. अन्तमुहुत्तम्मि गए
अन्तमुहुत्तम्मि सेसए चेव ।
लेसाहिं परिणयाहिं
जीवा गच्छन्ति परलोयं ॥

लेश्याओं की परिणति होने पर अन्तर्मुहूर्त व्यतीत हो जाता है और जब अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है, उस समय जीव परलोक मे जाते हैं ।

उपसंहार—

६१. तम्हा एयाण लेसाणं
अणुभागे वियाणिया ।
अप्पसत्थाओ वज्जित्ता
पसत्थाओ अहिट्ठेज्जासि ॥

—त्ति बेमि ।

अतः लेश्याओ के अनुभाग को जानकर अप्रशस्त लेश्याओं का परित्याग कर प्रशस्त लेश्याओ में अधिष्ठित होना चाहिए ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

३५

अनगार-मार्ग-गति

असंगता वीतरागता का प्रथम चरण है।

केवल घर छोड़ने भर से ही कोई अनगार नहीं हो जाता। अनगार धर्म एक सुदीर्घ साधना है, जिसके लिए सतत सतर्क एवं सजग रहना होता है। ऊँचे-नीचे, अच्छे-बुरे प्रसंगों पर अपने को संभालना पड़ता है। अतः अनगार मार्ग पर गति के लिए साधक को केवल शास्त्रविहित स्थूल क्रियाकाण्डों पर ही नहीं, अन्य सूक्ष्म बातों पर भी लक्ष्य रखना आवश्यक है। क्योंकि बाहर में संग से मुक्त होना आसान है, किन्तु भीतर में असंग होना एक दूसरी ही बात है। और भीतर में असंग तभी हुआ जा सकता है, जब देहादि से सम्बन्धित आसक्ति एवं रागात्मक बन्धन समाप्त हो जाएँ। यहाँ तक कि साधक न मृत्यु को चाहे, न जीवन को। जीवन-मरण की चाह से ही जो मुक्त हो गया है, उसे और कौनसी दूसरी चाह हो सकती है? अनगार धर्म इच्छानिरोध का ही धर्म है। संसार का अर्थ ही कामना है, वासना है। और उससे मुक्त होना ही वस्तुतः संसार-मुक्ति है।

पणतीसइमं अज्झयणं : पंचत्रिंश अध्ययन

अणगारमग्गगई : अनगार-मार्ग-गति

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. सुणेह मेगग्गमणा मग्गं बुद्धेहि देसियं । जमायरन्तो भिक्खू दुक्खाणऽन्तकरो भवे ॥	मुझ से ज्ञानियों द्वारा उपदिष्ट मार्ग को एकाग्र मन से सुनो, जिसका आचरण कर भिक्षु दुःखों का अन्त करता है ।
२. गिहवासं परिच्चज्ज पवज्जंअस्सिओ मुणी । इमे संगे वियाणिज्जा जेहिं सज्जन्ति माणवा ॥	गृहवास का परित्याग कर प्रव्रजित हुआ मुनि, इन संगो को जाने, जिनमें मनुष्य आसक्त—प्रतिबद्ध होते हैं ।
३. तहेव हिंसं अलियं चोज्जं अबम्भसेवणं । इच्छाकामं च लोभं च संजओ परिवज्जए ॥	संयत भिक्षु हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, इच्छा-काम (अप्राप्त वस्तु की आकांक्षा) और लोभ से दूर रहे ।
४. मणोहरं चित्तहरं मल्लधूवेण वासियं । सकवाडं पण्डुरुल्लोयं मणसा वि न पत्थए ॥	मनोहर चित्रो से युक्त, माल्य और धूप से सुवासित, किवाड़ो तथा सफेद चंदोवा से युक्त—ऐसे चित्ताकर्षक स्थान की मन से भी इच्छा न करे ।
५. इन्दियाणि उ भिक्खुस्स तारिसम्मि उवस्सए । दुक्कराइं निवारेउं कामरागविवड्ढणे ॥	काम-राग को बढ़ाने वाले इस प्रकार के उपाश्रय में इन्द्रियों का निरोध करना भिक्षु के लिए दुष्कर है ।

६. सुसाणे सुन्नगारे वा
रुक्खमूले व एगओ।
पइरिक्के परकडे वा
वासं तत्थऽभिरोयए॥

अतः एकाकी भिक्षु श्मशान में, शून्य गृह में, वृक्ष के नीचे तथा परकृत (दूसरों के के लिए बनाए गए), प्रतिरिक्त—एकान्त स्थान में रहने की अभिरुचि रखे।

७. फासुयम्मि अणाबाहे
इत्थीहिं अणभिद्दुए।
तत्थ संकप्पए वासं
भिक्खू परमसंजए॥

परम संयत भिक्षु प्रासुक, अनाबाध, स्त्रियों के उपद्रव से रहित स्थान मे रहने का संकल्प करे।

८. न सयं गिहाइं कुज्जा
णेव अन्नेहिं कारए।
गिहकम्मसमारम्भे
भूयाणं दीसई वहो॥

भिक्षु न स्वयं घर बनाए, और न दूसरो से बनवाए। चूँकि गृह-कर्म के समारंभ मे प्राणियों का वध देखा जाता है।

९. तसाणं थावराणं च
सुहुमाण बायराण य।
तम्हा गिहसमारम्भं
संजओ परिवज्जए॥

त्रस और स्थावर तथा सूक्ष्म और बादर (स्थूल) जीवों का वध होता है, अतः संयत भिक्षु गृह-कर्म के समारंभ का परित्याग करे।

१०. तहेव भत्तपाणेसु
पयण-पयावणेसु य।
पाण-भूयदयट्ठाए
न पये न पयावए॥

इसी प्रकार भक्त-पान पकाने और पकवाने में हिंसा होती है। अतः प्राण और भूत जीवों की दया के लिए न स्वयं पकाए न दूसरे से पकवाए।

११. जल-धन्ननिस्सिया जीवा
पुढवी-कट्ठनिस्सिया।
हम्मन्ति भत्तपाणेसु
तम्हा भिक्खू न पायए॥

भक्त और पान के पकाने मे जल, धान्य, पृथ्वी और काष्ठ के आश्रित जीवों का वध होता है,—अतः भिक्षु न पकवाए।

१२. विसप्पे सव्वओधारे
बहुपाणविणासणे।
नत्थि जोइसमे सत्थे
तम्हा जोइं न दीवए॥

अग्नि के समान दूसरा शस्त्र नहीं है, वह सभी ओर से प्राणिनाशक तीक्ष्ण धार से युक्त है, बहुत अधिक प्राणियों की विनाशक है, अतः भिक्षु अग्नि न जलाए।

१३. हिरण्णं जायरूवं च
मणसा वि न पत्थए।
समलेट्ठुकंचणे भिक्खू
विरए कयविक्कए॥

क्रय-विक्रय से विरक्त भिक्षु सुवर्ण और मिट्टी को समान समझने वाला है, अतः वह सोने और चाँदी की मन से भी इच्छा न करे।

१४. किणन्तो कइओ होइ
विक्किणन्तो य वाणिओ।
कयविक्कयम्मि वट्टन्तो
भिक्खू न भवइ तारिसो॥

वस्तु को खरीदने वाला क्रयिक—ग्राहक होता है और बेचने वाला वणिक् अतः क्रय-विक्रय में प्रवृत्त साधु 'साधु' नहीं है।

१५. भिक्खियव्वं न केयव्वं
भिक्खुणा भिक्खवत्तिणा।
कयविक्कओ महादोसो
भिक्खावत्ती सुहावहा॥

भिक्षा-वृत्ति से ही भिक्षु को भिक्षा करनी चाहिए, क्रय-विक्रय से नहीं। क्रय-विक्रय महान् दोष है। भिक्षा-वृत्ति सुखावह है।

१६. समुयाणं उंछमेसिज्जा
जहासुत्तमणिन्दियं।
लाभालाभम्मि संतुट्ठे
पिण्डवायं चरे मुणी॥

मुनि श्रुत के अनुसार अनिन्दित और सामुदायिक उञ्छ (अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार) की एषणा करे। वह लाभ और अलाभ में सन्तुष्ट रहकर पिण्डपात—भिक्षा-चर्या करे।

१७. अलोले न रसे गिद्धे
जिब्भादन्ते अमुच्छिए।
न रसट्ठाए भुंजिज्जा
जवणट्ठाए महामुणी॥

अलोलुप, रस में अनासक्त, रसनेन्द्रिय का विजेता, अमूर्च्छित महामुनि यापनार्थ-जीवन-निर्वाह के लिए ही खाए, रस के लिए नहीं।

१८. अच्चणं रयणं चेव
वन्दणं पूयणं तहा।
इड्ढीसक्कार-सम्माणं
मणसा वि न पत्थए॥

मुनि अर्चना (पुष्पादि से पूजा), रचना (स्वस्तिक आदि का न्यास), पूजा (वस्त्र आदि का प्रतिलाभ), ऋद्धि, सत्कार और सम्मान की मन से भी प्रार्थना न करे।

१९. सुक्कज्झाणं झियाएज्जा
अणियाणे अकिंचणे।
वोसट्ठकाए विहरेज्जा
जाव कालस्स पज्जाओ॥

मुनि शुक्ल अर्थात् विशुद्ध आत्म-ध्यान में लीन रहे। निदानरहित और अकिंचन रहे। जीवन-पर्यन्त शरीर की आसक्ति को छोड़कर विचरण करे।

२०. निज्जूहिऊण आहारं
कालधम्मे उवट्ठिए ।
जहिऊण माणुसं बोन्दिं
पहू दुक्खे विमुच्चई ॥

अन्तिम काल-धर्म उपस्थित होने पर मुनि आहार का परित्याग कर और मनुष्य-शरीर को छोड़कर दुःखों से मुक्त-प्रभु हो जाता है ।

२१. निम्ममो निरहंकारो
वीयरागो अणासवो ।
संपत्तो केवलं नाणं
सासयं परिणिव्वुए ॥

निर्मम, निरहंकार, वीतराग और अनाश्रव मुनि केवल-ज्ञान को प्राप्त कर शाश्वत परिनिर्वाण को प्राप्त होता है ।

—त्ति बेमि ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

३६

जीवाजीव-विभक्ति

जीव और अजीव की विभक्ति ही तत्त्व-ज्ञान का प्राण है।
जीवाजीव का भेदविज्ञान ही सम्यग्दर्शन है, सम्यग् ज्ञान है।

जीव और अजीव द्रव्य समग्रता से आकाश के जिस भाग में हैं, वह लोक कहा जाता है। और जहाँ ये नहीं हैं, केवल आकाश ही है, वह अलोक है। लोक स्वरूपतः अनादि अनन्त है। अतः इसका न कोई निर्माता है, कर्ता है और न कोई संहर्ता है।

जीव और अजीव का संयोग अनादि है। यह संयोग ही संसारी जीवन है। देह, इन्द्रिय और मन, सुख और दुःख—इसी संयोग पर आधारित हैं। यह संयोग प्रवाह से अनादि है, फिर भी यह सान्त हो सकता है। क्योंकि राग और द्वेष ही उक्त संयोग के कारण हैं। कारण को मिटा देने पर कार्य स्वतः समाप्त हो जाता है।

जीव मूल चेतना की स्वरूप दृष्टि से विभिन्न श्रेणी के नहीं हैं। किन्तु शरीर, स्थान, क्रिया और गति आदि के भेदों से ही प्रस्तुत में जीव के भेदों का निरूपण किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार बहुत सुन्दर है। दुर्लभ बोधि, सुलभ-बोधि, बाल मरण, पंडित मरण, कन्दर्प भावना, किल्बिषिक भावना, आसुरी भावना आदि का वर्णन बहुत ही संक्षिप्त है, किन्तु उसमें उत्तराध्ययन का एक प्रकार से समग्र विचार-नवनीत आ जाता है।

छत्तीसइमं अज्झयणं : षट्त्रिंश अध्ययन
जीवाजीवविभत्ती : जीवाजीव-विभक्ति

मूल	हिन्दी अनुवाद
१. जीवाजीवविभत्तिं सुणेह मे एगमणा इओ। जं जाणिऊण समणे सम्मं जयइ संजमे ॥	जीव और अजीव के विभाग को तुम एकाग्र मन होकर मुझसे सुनो, जिसे जानकर भिक्षु सम्यक् प्रकार से संयम में यत्नशील होता है।
२. जीवा चेव अजीवा य एस लोए वियाहिए। अजीवदेसमागासे अलोए से वियाहिए ॥	यह लोक जीव और अजीवमय कहा गया है और जहाँ अजीव का एक देश (भाग) केवल आकाश है, वह अलोक कहा जाता है।
३. दव्वओ खेत्तओ चेव कालओ भावओ तहा। परूवणा तेसि भवे जीवाणमजीवाण य ॥	द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से जीव और अजीव की प्ररूपणा होती है।
	अजीव निरूपण—
४. रूविणो चेवऽरूवी य अजीवा दुविहा भवे। अरूवी दसहा वुत्ता रूविणो वि चउव्विहा ॥	अजीव के दो प्रकार हैं—रूपी और अरूपी। अरूपी दस प्रकार का है, और रूपी चार प्रकार का।

अरूपी अजीव—

५. धम्मत्थिकाए तद्देसे
तप्पएसे य आहिए।
अहम्मे तस्स देसे य
तप्पएसे य आहिए॥

धर्मास्तिकाय और उसका देश तथा प्रदेश। अधर्मास्तिकाय और उसका देश तथा प्रदेश।

६. आगासे तस्स देसे य
तप्पएसे य आहिए।
अद्धासमए चेव
अरूवी दसहा भवे॥

आकाशास्तिकाय और उसका देश तथा प्रदेश। और एक अद्धा समय (काल)—ये दस भेद अरूपी अजीव के हैं।

७. धम्माधम्मे य दोऽवेए
लोगमित्ता वियाहिया।
लोगालोगे य आगासे
समए समयखेत्तिए॥

धर्म और अधर्म लोक-प्रमाण हैं। आकाश लोक और अलोक में व्याप्त है। काल केवल समय-क्षेत्र (मनुष्य क्षेत्र) में ही है।

८. धम्माधम्मागासा
तिन्नि वि एए अणाइया।
अपज्जवसिया चेव
सव्वद्धं तु वियाहिया॥

धर्म, अधर्म, आकाश—ये तीनों द्रव्य अनादि, अपर्यवसित—अनन्त और सर्वकाल—नित्य हैं।

९. समए वि सन्तइं पप्प
एवमेवं वियाहिए।
आएसं पप्प साईए
सपज्जवसिए वि य॥

प्रवाह की अपेक्षा से समय भी अनादि अनन्त है। आदेश अर्थात् प्रति-नियत व्यक्ति रूप एक-एक क्षण की अपेक्षा से सादि सान्त है।

रूपी अजीव—

१०. खन्धा य खन्धदेसा य
तप्पएसा तहेव य।
परमाणुणो य बोद्धव्वा
रूविणो य चउव्विहा॥

रूपी द्रव्य के चार भेद हैं—स्कन्ध, स्कन्ध-देश, स्कन्ध-प्रदेश और परमाणु।

११. एगत्तेण पुहत्तेण
खन्धा य परमाणुणो ।
लोएगदेसे लोए य
भइयव्वा ते उ खेत्तओ ॥
इत्तो कालविभागं तु
तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥

परमाणुओं के एकत्व होने से स्कन्ध होते हैं। स्कन्ध के पृथक् होने से परमाणु होते है। यह द्रव्य की अपेक्षा से है। क्षेत्र की अपेक्षा से वे स्कन्ध आदि लोक के एक देश से लेकर सम्पूर्ण लोक तक में भाज्य हैं—असंख्य विकल्पात्मक है। यहाँ से आगे स्कन्ध और परमाणु के काल की अपेक्षा से चार भेद कहता हूँ।

१२. संतइं पप्प तेऽणाइं
अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य ॥

स्कन्ध आदि प्रवाह की अपेक्षा से अनादि अनन्त हैं और स्थिति (प्रतिनियत एक क्षेत्र मे स्थित रहने) की अपेक्षा से सादि सान्त है।

१३. असंखकालमुक्कोसं
एगं समयं जहन्निया ॥
अजीवाण य रूवीणं
ठिई एसा वियाहिया ॥

रूपी अजीवों—पुद्गल द्रव्यों की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट असंख्यात काल की बताई गई है।

१४. अणन्तकालमुक्कोसं
एगं समयं जहन्नयं ।
अजीवाण य रूवीणं
अन्तरेयं वियाहियं ॥

रूपी अजीवों का अन्तर (अपने पूर्वावगाहित स्थान से च्युत होकर फिर वापस वहीं आने तक का काल) जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अनन्त काल है।

१५. वण्णओ गन्धओ चेव
रसओ फासओ तहा ।
संठाणओ य विन्नेओ
परिणामो तेसिं पंचहा ॥

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से स्कन्ध आदि का परिणमन पाँच प्रकार का है।

१६. वण्णओ परिणया जे उ
पंचहा ते पकित्तिया ।
किण्हा नीला य लोहिया
हालिद्दा सुक्किला तहा ॥

जो स्कन्ध आदि पुद्गल वर्ण से परिणत है, वे पाँच प्रकार के हैं—कृष्ण, नील, लोहित—रक्त, हारिद्र,—पीत और शुक्ल।

१७. गन्धओ परिणया जे उ
दुविहा ते वियाहिया।
सुब्भिगन्धपरिणामा
दुब्भिगन्धा तहेव य॥

जो पुद्गल गन्ध से परिणत हैं, वे दो प्रकार के हैं—सुरभिगन्ध और दुरभि-गन्ध।

१८. रसओ परिणया जे उ
पंचहा ते पकित्तिया।
तित्त-कडुय-कसाया
अम्बिला महुरा तहा॥

जो पुद्गल रस से परिणत हैं, वे पाँच प्रकार के हैं—तिक्त—तीता, कटु, कषाय—कसैला, अम्ल—खट्टा और मधुर।

१९. फासओ परिणया जे उ
अट्ठहा ते पकित्तिया।
कक्खडा मउया चेव
गरुया लहुया तहा॥

जो पुद्गल स्पर्श से परिणत हैं, वे आठ प्रकार के है—कर्कश, मृदु, गुरु, लघु (हलका)।

२०. सीया उण्हा य निद्धा य
तहा लुक्खा य आहिया।
इइ फासपरिणया एए
पुग्गला समुदाहिया॥

शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष। इस प्रकार ये स्पर्श से परिणत पुद्गल कहे गये है।

२१. संठाणपरिणया जे उ
पंचहा ते पकित्तिया।
परिमण्डला य वट्टा
तंसा चउरंसमायया॥

जो पुद्गल संस्थान से परिणत हैं, वे पाँच प्रकार के है—परिमण्डल, वृत्त, त्र्यस्र—त्रिकोण, चतुरस्र—चौकोर और आयत—दीर्घ।

२२. वण्णओ जे भवे किण्हे
भइए से उ गन्धओ।
रसओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

जो पुद्गल वर्ण से कृष्ण है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है—अर्थात् अनेक विकल्पों वाला है।

२३. वण्णओ जे भवे नीले
भइए से उ गन्धओ।
रसओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

जो पुद्गल वर्ण से नील है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है।

२४. वण्णओ लोहिए जे उ
भइए से उ गन्धओ।
रसओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

जो पुद्गल वर्ण से रक्त है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है।

२५. वण्णओ पीयए जे उ
भइए से उ गन्धओ।
रसओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

जो पुद्गल वर्ण से पीत है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है।

२६. वण्णओ सुक्किले जे उ
भइए से उ गन्धओ।
रसओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

जो पुद्गल वर्ण से शुक्ल हैं वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है।

२७. गन्धओ जे भवे सुब्भी
भइए से उ वण्णओ।
रसओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

जो पुद्गल गन्ध से सुगन्धित है, वह वर्ण, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है।

२८. गन्धओ जे भवे दुब्भी
भइए से उ वण्णओ।
रसओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

जो पुद्गल गन्ध से दुर्गन्धित है, वह वर्ण, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है।

२९. रसओ तित्तए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

जो पुद्गल रस से तिक्त है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है।

३०. रसओ कडुए जे उ
भइए से उ वण्णओ
गन्धओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

जो पुद्गल रस से कटु है—वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है।

३१. रसओ कसाए जे उ
भइए से उ वण्णओ ।
गन्धओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य ॥

जो पुद्गल रस से कसैला है वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है ।

३२. रसओ अम्बिले जे उ
भइए से उ वण्णओ ।
गन्धओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य ॥

जो पुद्गल रस से खट्टा है वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है ।

३३. रसओ महुरए जे उ
भइए से उ वण्णओ ।
गन्धओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य ॥

जो पुद्गल रस से मधुर है वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है ।

३४. फासओ कक्खडे जे उ
भइए से उ वण्णओ ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य ॥

जो पुद्गल स्पर्श से कर्कश है वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य है ।

३५. फासओ मउए जे उ
भइए से उ वण्णओ ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य ॥

जो पुद्गल स्पर्श से मृदु है वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य है ।

३६. फासओ गुरुए जे उ
भइए से उ वण्णओ ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य ॥

जो पुद्गल स्पर्श से गुरु है वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य है ।

३७. फासओ लहुए जे उ
भइए से उ वण्णओ ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य ॥

जो पुद्गल स्पर्श से लघु है वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य है ।

३८. फासओ सीयए जे उ
भइए से उ वण्णओ ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य ॥

जो पुद्गल स्पर्श से शीत है वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य है ।

३९. फासओ उण्हए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य ॥

जो पुद्गल स्पर्श से उष्ण है वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य है।

४०. फासओ निद्धए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य ॥

जो पुद्गल स्पर्श से स्निग्ध है वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य है।

४१. फासओ लुक्खए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य ॥

जो पुद्गल स्पर्श से रूक्ष है वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य है।

४२. परिमण्डलसंठाणे
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए फासओ वि य ॥

जो पुद्गल संस्थान से परिमण्डल है वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य है।

४३. संठाणओ भवे वट्टे
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए फासओ वि य ॥

जो पुद्गल संस्थान से वृत्त है वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य है।

४४. संठाणओ भवे तंसे
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए फासओ वि य ॥

जो पुद्गल संस्थान से त्रिकोण है वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य है।

४५. संठाणओ य चउरंसे
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए फासओ वि य ॥

जो पुद्गल संस्थान से चतुष्कोण है, वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य है।

४६. जे आययसंठाणे
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए फासओ विय ॥

जो पुद्गल संस्थान से आयत है वह वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श से भाज्य है।

४७. एसा अजीवविभत्ती
समासेण वियाहिया।
इत्तो जीवविभत्तिं
वुच्छामि अणुपुव्वसो॥

यह संक्षेप से अजीव विभाग का निरूपण किया गया है। अब क्रमशः जीवविभाग का निरूपण करूँगा।

जीव निरूपण—

४८. संसारत्था य सिद्धा य
दुविहा जीवा वियाहिया।
सिद्धाऽणेगविहा वुत्ता
तं मे कित्तयओ सुण॥

जीव के दो भेद हैं—संसारी और सिद्ध। सिद्ध अनेक प्रकार के हैं। उनका कथन करता हूँ, सुनो।

सिद्ध जीव—

४९. इत्थी पुरिससिद्धा य
तहेव य नपुंसगा।
सलिंगे अन्नलिंगे य
गिहिलिंगे तहेव य॥

स्त्रीलिंग सिद्ध, पुरुषलिंग सिद्ध, नपुंसकलिंग सिद्ध, और स्वलिंग सिद्ध, अन्यलिंग सिद्ध तथा गृहलिंग सिद्ध।

५०. उक्कोसोगाहणाए य
जहन्नमज्झिमाइ य।
उड्ढं अहे य तिरियं च
समुद्दम्मि जलम्मि य॥

उत्कृष्ट, जघन्य और मध्यम अवगाहना में तथा ऊर्ध्व लोक में, तिर्यक् लोक मे एवं समुद्र और अन्य जलाशय मे जीव सिद्ध होते हैं।

५१. दस चेव नपुंसेसु
वीसं इत्थियासु य।
पुरिसेसु य अट्ठसयं
समएणेगेण सिज्झई॥

एक समय में दस नपुंसक, बीस स्त्रियाँ और एक-सौ आठ पुरुष सिद्ध हो सकते हैं।

५२. चत्तारि य गिहिलिंगे
अन्नलिंगे दसेव य।
सलिंगेण य अट्ठसयं
समएणेगेण सिज्झई॥

एक समय में गृहस्थलिंग में चार, अन्यलिंग में दस, स्वलिंग में एक-सौ आठ जीव सिद्ध हो सकते हैं।

५३. उक्कोसोगाहणाए य
सिज्झन्ते जुगवं दुवे।
चत्तारि जहन्नाए
जवमज्झऽट्ठुत्तरं सयं॥

एक समय में उत्कृष्ट अवगाहना में दो, जघन्य अवगाहना में चार और मध्यम अवगाहना में एक-सौ आठ जीव सिद्ध हो सकते हैं।

५४. चउरुड्ढलोए य दुवे समुद्दे
तओ जले वीसमहे तहेव।
सयं च अट्ठुत्तर तिरियलोए
समएणेगेण उ सिज्झई उ॥

एक समय में ऊर्ध्व लोक में चार, समुद्र में दो, जलाशय में तीन, अधो लोक में बीस, तिर्यक् लोक में एक-सौ आठ जीव सिद्ध हो सकते हैं।

५५. कहिं पडिहया सिद्धा?
कहिं सिद्धा पइट्ठिया?।
कहिं बोन्दि चइत्ताणं?
कत्थ गन्तूण सिज्झई?॥

सिद्ध कहाँ रुकते हैं? कहाँ प्रतिष्ठित हैं? शरीर को कहाँ छोड़कर, कहाँ जाकर सिद्ध होते हैं?

५६. अलोए पडिहया सिद्धा
लोयग्गे य पइट्ठिया।
इहं बोन्दि चइत्ताणं
तत्थ गन्तूण सिज्झई॥

सिद्ध अलोक में रुकते हैं। लोक के अग्रभाग में प्रतिष्ठित हैं। मनुष्यलोक में शरीर को छोडकर लोक के अग्रभाग में जाकर सिद्ध होते है।

५७. बारसहिं जोयणेहिं
सव्वट्ठस्सुवरिं भवे।
ईसीपब्भारनामा उ
पुढवी छत्तसंठिया॥

सर्वार्थ-सिद्ध विमान से बारह योजन ऊपर ईषत्-प्राग्भारा नामक पृथ्वी है। वह छत्राकार है।

५८. पणयालसयसहस्सा
जोयणाणं तु आयया।
तावइयं चेव वित्थिण्णा
तिगुणो तस्सेव परिरओ॥

उसकी लम्बाई पैंतालीस लाख योजन की है। चौड़ाई उतनी ही है। उसकी परिधि उससे तिगुनी है।

५९. अट्ठजोयणबाहल्ला
सा मज्झम्मि वियाहिया।
परिहायन्ती चरिमन्ते
मच्छियपत्ता तणुयरी॥

मध्य में वह आठ योजन स्थूल है। क्रमशः पतली होती-होती अन्तिम भाग में मक्खी के पंख से भी अधिक पतली हो जाती है।

६०. अज्जुणसुवण्णगमई
सा पुढवी निम्मला सहावेणं।
उत्ताणगछत्तगसंठिया य
भणिया जिणवरेहिं॥

जिनवरों ने कहा है—वह पृथ्वी अर्जुन अर्थात् श्वेत-स्वर्णमयी है, स्वभाव से निर्मल है और उत्तान (उलटे) छत्राकार है।

६१. संखंक-कुन्दसंकासा
पण्डुरा निम्मला सुहा।
सीयाए जोयणे तत्तो
लोयन्तो उ वियाहिओ॥

वह शंख, अंकरत्न और कुन्द पुष्प के समान श्वेत है, निर्मल और शुभ है। इस सीता नाम की ईषत्-प्राग्भारा पृथ्वी से एक योजन ऊपर लोक का अन्त बतलाया है।

६२. जोयणस्स उ जो तस्स
कोसो उवरिमो भवे।
तस्स कोसस्स छब्भाए
सिद्धाणोगाहणा भवे॥

उस योजन के ऊपर का जो कोस है, उस कोस के छठे भाग में सिद्धों की अवगाहना होती है।

६३. तत्थ सिद्धा महाभागा
लोयग्गम्मि पइट्ठिया।
भवप्पवंचउम्मुक्का
सिद्धिं वरगइं गया॥

भवप्रपंच से मुक्त, महाभाग, परम गति 'सिद्धि' को प्राप्त सिद्ध वहाँ अग्रभाग में स्थित है।

६४. उस्सेहो जस्स जो होइ
भवम्मि चरिमम्मि उ।
तिभागहीणा तत्तो य
सिद्धाणोगाहणा भवे॥

अन्तिम भव में जिसकी जितनी ऊँचाई होती है, उससे त्रिभागहीन सिद्धों की अवगाहना होती है।

६५. एगत्तेण साईया
अपज्जवसिया वि य।
पुहुत्तेण अणाईया
अपज्जवसिया वि य॥

एक की अपेक्षा से सिद्ध सादि-अनन्त है। और बहुत्व की अपेक्षा से सिद्ध अनादि, अनन्त हैं।

६६. अरूविणो जीवघणा
नाणदंसणसन्निया।
अउलं सुहं संपत्ता
उवमा जस्स नत्थि उ॥

वे अरूप हैं, सघन हैं, ज्ञान-दर्शन से संपन्न हैं। जिसकी कोई उपमा नहीं है, ऐसा अतुल सुख उन्हें प्राप्त है।

६७. लोएगदेसे ते सव्वे
नाणदंसणसन्निया।
संसारपारनिच्छिन्ना
सिद्धिं वरगइं गया॥

ज्ञान-दर्शन से युक्त, संसार के पार पहुँचे हुए, परम गति सिद्धि को प्राप्त वे सभी सिद्ध लोक के एक देश में स्थित हैं।

६८. संसारत्था उ जे जीवा
दुविहा ते वियाहिया ।
तसा य थावरा चेव
थावरा तिविहा तहिं ॥

संसारस्थ जीव—

संसारी जीव के दो भेद है—त्रस और स्थावर । उनमें स्थावर तीन प्रकार के है ।

६९. पुढवी आउजीवा य
तहेव य वणस्सई ।
इच्चेए थावरा तिविहा
तेसिं भेए सुणेह मे ॥

स्थावर जीव—

पृथ्वी, जल और वनस्पति—ये तीन प्रकार के स्थावर है। अब उनके भेदो को मुझसे सुनो ।

७०. दुविहा पुढवीजीवा उ
सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता
एवमेए दुहा पुणो ॥

पृथ्वी काय—

पृथ्वीकाय जीव के दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर ।

पुन: दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त दो-दो भेद है ।

७१. बायरा जे उ पज्जत्ता
दुविहा ते वियाहिया ।
सण्हा खरा य बोद्धव्वा
सण्हा सत्तविहा तहिं ॥

बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय जीव के दो भेद हैं—

श्लक्षण—मृदु और खर—कठोर, । मृदु के सात भेद हैं—

७२. किण्हा नीला य रुहिरा य
हालिद्दा सुक्किला तहा ।
पण्डु-पणगमट्टिया
खरा छत्तीसईविहा ॥

कृष्ण, नील, रक्त, पीत, श्वेत, पाण्डु—भूरी मिट्टी और पनक—अत्यन्त सूक्ष्म रज।

कठोर पृथ्वी के छत्तीस प्रकार है—

७३. पुढवी य सक्करा वालुया य
उवले सिला य लोणूसे ।
अय-तम्ब-तउय—सीसग-
रुप्प-सुवण्णे य वइरे य ॥

शुद्ध पृथ्वी, शर्करा—कंकराली, बालू, उपल-पत्थर, शिला, लवण, ऊष—क्षाररूप नौनी मिट्टी, लोहा, ताम्बा, त्रपुक—रांगा, शीशा, चाँदी, सोना, वज्र—हीरा ।

७४. हरियाले हिंगुलुए
मणोसिला सासगंजण-पवाले।
अब्भपडलऽब्भवालुय
बायरकाए मणिविहाणा॥

हरिताल, हिंगुल, मैनसिल, सस्यक अथवा सासक (धातु-विशेष), अंजन, प्रवाल—मूंगा, अभ्र-पटल, अभ्रबालुक-अभ्रक की पडतों से मिश्रित बालू। और विविध मणि भी बादर पृथ्वी काय के अन्तर्गत हैं—

७५. गोमेज्जए य रुयगे
अंके फलिहे य लोहियक्खे य।
मरगय-मसारगल्ले
भुयमोयग-इन्दनीले य॥

गोमेदक, रुचक, अंक, स्फटिक, लोहिताक्ष, मरकत, मसारगल्ल, भुज-मोचक, इन्द्रनील,

७६. चन्दण-गेरुय-हंसगब्भ-
पुलए सोगन्धिए य बोद्धव्वे।
चन्दप्पह-वेरुलिए
जलकन्ते सूरकन्ते य॥

चन्दन, गेरुक एवं हंसगर्भ, पुलक, सौगन्धिक, चन्द्रप्रभ, वैडूर्य, जलकान्त और सूर्यकान्त।

७७. एए खरपुढवीए
भेया छत्तीसमाहिया।
एगविहमणाणत्ता
सुहुमा तत्थ वियाहिया॥

ये कठोर पृथ्वीकाय के छत्तीस भेद है। सूक्ष्म पृथ्वीकाय के जीव एक ही प्रकार के हैं, अतः वे अनानात्व हैं, अर्थात् नाना प्रकार के भेदों से रहित हैं।

७८. सुहुमा सव्वलोगम्मि
लोगदेसे य बायरा।
इत्तो कालविभागं तु
तेसिं वुच्छं चउव्विहं॥

सूक्ष्म पृथ्वीकाय के जीव सम्पूर्ण लोक में और बादर पृथ्वीकाय के जीव-लोक के एक देश—भाग में व्याप्त हैं। अब चार प्रकार से पृथ्वीकायिक जीवों के काल-विभाग का कथन करूंगा।

७९. संतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

पृथ्वीकायिक जीव प्रवाह की अपेक्षा से अनादि अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा से सादि सान्त हैं।

८०. बावीससहस्साइं
वासाणुक्कोसिया भवे।
आउठिई पुढवीणं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

उनकी बाईस हजार वर्ष की उत्कृष्ट और अन्तर्मुहूर्त की जघन्य आयु—स्थिति है।

८१. असंखकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
कायठिई पुढवीणं
तं कायं तु अमुंचओ ॥

उनकी असंख्यात कालकी उत्कृष्ट और अन्तमुंहूर्त की जघन्य काय-स्थिति है। पृथ्वी के शरीर को न छोड़कर निरन्तर पृथ्वीकाय में ही पैदा होते रहना, काय-स्थिति है।

८२. अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढंमि सए काए
पुढवीजीवाण अन्तरं ॥

पृथ्वी के शरीरको एकबार छोड़कर फिर वापस पृथ्वी के शरीरमें उत्पन्न होने के बीचका अन्तरकाल जघन्य अन्तमुंहूर्त और उत्कृष्ट अनन्त काल है।

८३. एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वा वि
विहाणाइं सहस्ससो ॥

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान के आदेश (अपेक्षा) से तो पृथ्वी के हजारों भेद होते हैं।

अप्काय—

८४. दुविहा आउजीवा उ
सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता
एवमेए दुहा पुणो ॥

अप् काय जीवके दो भेद हैं-सूक्ष्म और बादर। पुन: दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त दो-दो भेद हैं।

८५. बायरा जे उ पज्जत्ता
पंचहा ते पकित्तिया ।
सुद्धोदए य उस्से
हरतणू महिया हिमे ॥

बादर पर्याप्त अप्काय जीवों के पाँच भेद हैं—शुद्धोदक, अवस्याय-ओस, हरतनु—गीली भूमि से उत्पन्न वह जल, जो प्रात:काल तृणाग्र पर बिन्दु रूप में दिखाई देता है, महिका—कुहासा और हिम—बर्फ।

८६. एगविहमणाणत्ता
सुहुमा तत्थ वियाहिया ।
सुहुमा सव्वलोगम्मि
लोगदेसे य बायरा ॥

सूक्ष्म अप्काय के जीव एक प्रकार के हैं, उनके भेद नहीं हैं। सूक्ष्म अप्काय के जीव सम्पूर्ण लोक में और बादर अप्कायके जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं।

८७. सन्तइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

अप्कायिक जीव प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

८८. सत्तेव सहस्साइं
वासाणुक्कोसिया भवे।
आउट्ठिई आऊणं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

उनकी सात हजार वर्ष की उत्कृष्ट और अन्तर्मुहूर्त की जघन्य आयु-स्थिति है।

८९. असंखकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया।
कायट्ठिई आऊणं
तं कायं तु अमुंचओ॥

उनकी असंख्यात काल की उत्कृष्ट और अन्तर्मुहूर्त की जघन्य काय-स्थिति है। अप्काय को छोड़कर निरन्तर अप्काय में ही पैदा होना, काय स्थिति है।

९०. अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए
आऊजीवाण अन्तरं॥

अप्काय को छोड़कर पुनः अप्काय में उत्पन्न होने का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्त-काल का है।

९१. एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रस-फासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो॥

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से अप्काय के हजारों भेद हैं।

९२. दुविहा वणस्सईजीवा
सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता
एवमेए दुहा पुणो॥

—वनस्पति काय

वनस्पति काय के जीवों के दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर। पुनः दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त दो-दो भेद हैं।

९३. बायरा जे उ पज्जत्ता
दुविहा ते वियाहिया।
साहारणसरीरा य
पत्तेगा य तहेव य॥

बादर पर्याप्त वनस्पतिकाय के जीवों के दो भेद हैं—साधारण-शरीर और प्रत्येक-शरीर।

९४. पत्तेगसरीरा उ
णेगहा ते पकित्तिया।
रुक्खा गुच्छा य गुम्मा य
लया वल्ली तणा जहा ॥

प्रत्येक-शरीर वनस्पति काय के जीवों के अनेक प्रकार है। जैसे—वृक्ष, गुच्छ—बेंगुन आदि, गुल्म—नवमालिका आदि, लता—चम्पकलता आदि, वल्ली—भूमि पर फैलने वाली ककड़ी आदि की बेल और तृण।

९५. लयावलया पव्वगा कुहुणा
जलरुहा ओसही-तिणा।
हरियकाया य बोद्धव्वा
पत्तेया इति आहिया ॥

लता-वलय—केला आदि, पर्वंज—ईख आदि, कुहण—भूमिस्फोट, कुक्कुर-मुत्ता आदि, जलरुह—कमल आदि, औषधि—जौ, चना आदि धान्य, तृण और हरितकाय—ये सभी प्रत्येक शरीरी हैं, ऐसा जानना चाहिए।

९६. साहारणसरीरा उ
णेगहा ते पकित्तिया।
आलुए मूलए चेव
सिंगबेरे तहेव य ॥

साधारणशरीरी अनेक प्रकार के है—आलुक, मूल—मूली, शृंगवेर—अदरक।

९७. हिरिली सिरिली सिस्सिरिली
जावई केय-कन्दली।
पलंडू-लसणकन्दे य
कन्दली य कुडुंबए ॥

हिरिलीकन्द, सिरिलीकन्द, सिस्सि-रिलीकन्द, जावईकन्द, केद-कंदलीकन्द, पलाण्डु—प्याज, लहसुन, कन्दली, कुस्तुम्बक,

९८. लोहि णीहू य थिहू य
कुहगा य तहेव य।
कण्हे य वज्जकन्दे य
कन्दे सूरणए तहा ॥

लोही, स्निहु, कुहक, कृष्ण, वज्र-कन्द और सूरण-कन्द,

९९. अस्सकण्णी य बोद्धव्वा
सीहकण्णी तहेव य।
मुसुण्ढी य हलिद्दा य
ऽणेगहा एवमायओ ॥

अश्वकर्णी, सिंहकर्णी, मुसुंढी और हरिद्रा इत्यादि—अनेक प्रकार के जमीं-कन्द हैं।

१००. एगविहमणाणत्ता सुहुमा तत्थ वियाहिया । सुहुमा सव्वलोगम्मि लोगदेसे य बायरा ॥	सूक्ष्म वनस्पति काय के जीव एक ही प्रकार के हैं, उनके भेद नहीं हैं। सूक्ष्म वनस्पतिकाय के जीव सम्पूर्ण लोक में ; और बादर वनस्पति काय के जीव लोक के एक भाग मे व्याप्त हैं।
१०१. संतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य । ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य ॥	वे प्रवाह की अपेक्षा से अनादि अनन्त हैं ; और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।
१०२. दस चेव सहस्साइं वासाणुक्कोसिया भवे । वणप्फईण आउं तु अन्तोमुहुत्तं जहन्नगं ॥	उनकी दस हजार वर्ष की उत्कृष्ट और अन्तर्मुहूर्त की जघन्य आयु-स्थिति है।
१०३. अणन्तकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं । कायठिई पणगाणं तं कायं तु अमुंचओ ॥	उनकी अनन्त काल की उत्कृष्ट और अन्तर्मुहूर्त की जघन्य काय-स्थिति है। वनस्पति के शरीर को न छोड़कर निरन्तर वनस्पति के शरीर में ही पैदा होना, कायस्थिति है।
१०४. असंखकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं । विजढंमि सए काए पणगजीवाण अन्तरं ॥	वनस्पति के शरीर को छोड़कर पुनः वनस्पति के शरीर में उत्पन्न होने में जो अन्तर होता है, वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट असंख्यात काल का है।
१०५. एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ रसफासओ । संठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्सओ ॥	वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से वनस्पतिकाय के हजारों भेद हैं।
१०६. इच्चेए थावरा तिविहा समासेण वियाहिया । इत्तो उ तसे तिविहे वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥	इस प्रकार संक्षेप से तीन प्रकार के स्थावर जीवों का निरूपण किया गया। अब क्रमशः तीन प्रकार के त्रस जीवों का निरूपण करूँगा।

त्रसकाय—

१०७. तेऊ वाऊ य बोद्धव्वा
उराला य तसा तहा।
इच्चेए तसा तिविहा
तेसिं भेए सुणेह मे ॥

तेजस्, वायु और उदार—अर्थात् एकेन्द्रिय त्रसो की अपेक्षा स्थूल द्वीन्द्रिय आदि त्रस—ये तीन त्रसकाय के भेद हैं। उनके भेदों को मुझसे सुनो।

तेजस् त्रसकाय—

१०८. दुविहा तेउजीवा उ
सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता
एवमेए दुहा पुणो ॥

तेजस् काय जीवों के दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर। पुनः दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त दो-दो भेद हैं।

१०९. बायरा जे उ पज्जत्ता
णेगहा ते वियाहिया।
इंगाले मुम्मुरे अगणी
अच्चि जाला तहेव य ॥

बादर पर्याप्त तेजस् काय जीवों के अनेक प्रकार हैं—

अंगार, मुर्मुर—भस्ममिश्रित अग्नि-कण अर्थात् चिनगारियाँ, अग्नि, अचि—दीपशिखा आदि, ज्वाला—

११०. उक्का विज्जू य बोद्धव्वा
णेगहा एवमायओ।
एगविहमणाणत्ता
सुहुमा ते वियाहिया ॥

उल्का, विद्युत् इत्यादि।

सूक्ष्म तेजस्काय के जीव एक प्रकार के हैं, उनके भेद नहीं है।

१११. सुहुमा सव्वलोगम्मि
लोग देसे य बायरा।
इत्तो कालविभागं तु
तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥

सूक्ष्म तेजस्काय के जीव सम्पूर्ण लोक में और बादर तेजस्काय के जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं। इस निरूपण के बाद चार प्रकार से तेजस्काय जीवों के काल-विभाग का कथन करूँगा।

११२. संतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य ॥

वे प्रवाह की अपेक्षा से अनादि अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

११३. तिण्णेव अहोरत्ता
उक्कोसेण वियाहिया।
आउठिई तेऊणं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

तेजस्काय की आयु-स्थिति उत्कृष्ट तीन अहोरात्र (दिन-रात) की है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है।

११४. असंखकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
कायट्ठिई तेऊणं
तं कायं तु अमुंचओ॥

तेजस्काय की काय-स्थिति उत्कृष्ट असंख्यात काल की है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है। तेजस् के शरीर को छोड़ कर निरन्तर तेजस् के शरीर में ही पैदा होना, काय-स्थिति है।

११५. अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए
तेउजीवाण अन्तरं॥

तेजस् के शरीर को छोड़कर पुनः तेजस् के शरीर में उत्पन्न होने में जो अन्तर है, वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्त काल का है।

११६. एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो॥

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से तेजस् के हजारों भेद हैं।

वायु त्रसकाय—

११७. दुविहा वाउजीवा उ
सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता
एवमेए दुहा पुणो॥

वायुकाय जीवों के दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर। पुनः उन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त दो-दो भेद हैं।

११८. बायरा जे उ पज्जत्ता
पंचहा ते पकित्तिया।
उक्कलिया-मण्डलिया—
घण-गुंजा सुद्धवाया य॥

बादर पर्याप्त वायुकाय जीवों के पाँच भेद हैं—उत्कलिका, मण्डलिका, घनवात, गुंजावात और शुद्धवात।

११९. संवट्टगवाते य
ऽणेगविहा एवमायओ।
एगविहमणाणत्ता
सुहुमा ते वियाहिया॥

संवर्तक-वात आदि और भी अनेक भेद हैं। सूक्ष्म वायुकाय के जीव एक प्रकार के हैं, उनके भेद नहीं हैं।

१२०. सुहुमा सव्वलोगम्मि
लोगदेसे य बायरा।
इत्तो कालविभागं तु
तेसिं वुच्छं चउव्विहं॥

सूक्ष्म वायुकाय के जीव सम्पूर्ण लोक में; और बादर वायुकाय के जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं। इस निरूपण के बाद चार प्रकार से वायुकायिक जीवों के काल-विभाग का कथन करूँगा।

१२१. संतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

वे प्रवाह की अपेक्षा से अनादि अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा से सादि सान्त हैं।

१२२. तिण्णेव सहस्साइं
वासाणुक्कोसिया भवे।
आउट्ठिई वाऊणं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

उनकी आयु-स्थिति उत्कृष्ट तीन हजार वर्ष की है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की।

१२३. असंखकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
कायठिई वाऊणं
तं कायं तु अमुंचओ॥

उनकी कायस्थिति उत्कृष्ट असंख्यात-काल की है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है। वायु के शरीर को छोड़कर निरन्तर वायु के शरीर में ही पैदा होना, काय-स्थिति है।

१२४. अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए
वाउजीवाण अन्तरं॥

वायु के शरीर को छोड़कर पुनः वायु के शरीर मे उत्पन्न होने में जो अन्तर है, वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्त काल का है।

१२५. एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो॥

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से वायुकाय के हजारों भेद होते है।

उदार त्रस काय—

१२६. ओराला तसा जे उ
चउहा ते पकित्तिया।
बेइन्दिय-तेइन्दिय—
चउरो-पंचिन्दिया चेव॥

उदार त्रसों के चार भेद हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

द्वीन्द्रिय त्रस—

१२७. बेइन्दिया उ जे जीवा
दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता
तेसिं भेए सुणेह मे॥

द्वीन्द्रिय जीव के दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। उनके भेदों को मुझ से सुनो।

१२८. किमिणो सोमंगला चेव
अलसा माइवाहया ।
वासीमुहा य सिप्पीया
संखा संखणगा तहा ॥

कृमि, सौमंगल, अलस, मातृवाहक, वासीमुख, सीप, शंख, शंखनक—

१२९. पल्लोयाणुल्लया चेव
तहेव य वराडगा ।
जलूगा जालगा चेव
चन्दणा य तहेव य ॥

पल्लोय, अणुल्लक, वराटक—कौड़ी, जौक, जालक और चन्दनिया—

१३०. इइ बेइन्दिया एए
णेगहा एवमायओ ।
लोगेगदेसे ते सव्वे
न सव्वत्थ वियाहिया ॥

इत्यादि अनेक प्रकार के द्वीन्द्रिय जीव है । वे लोक के एक भाग में व्याप्त है, सम्पूर्ण लोक में नहीं ।

१३१. संतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य ॥

प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा वे सादि सान्त हैं ।

१३२. वासाइं बारसे व उ
उक्कोसेण वियाहिया ।
बेइन्दियआउठिई
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

उनकी आयु-स्थिति उत्कृष्ट बारह वर्ष की, और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है ।

१३३. संखिज्जकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
बेइन्दियकायठिई
तं कायं तु अमुंचओ ॥

उनकी काय-स्थिति उत्कृष्ट संख्यात काल की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है । द्वीन्द्रिय के शरीर को न छोड़कर निरंतर द्वीन्द्रिय शरीर में ही पैदा होना, काय-स्थिति है ।

१३४. अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
बेइन्दियजीवाणं
अन्तरेयं वियाहियं ॥

द्वीन्द्रिय के शरीर को छोड़कर पुनः द्वीन्द्रिय शरीर में उत्पन्न होने में जो अंतर है, वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्त काल का है ।

१३५. एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो॥

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से उनके हजारों भेद होते हैं।

त्रीन्द्रिय त्रस—

१३६. तेइन्दिया उ जे जीवा
दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता
तेसिं भेए सुणेह मे॥

त्रीन्द्रिय जीवों के दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। उनके भेदों को मुझ से सुनो।

१३७. कुन्थु-पिवीलि-उड्डंसा
उक्कलुद्देहिया तहा।
तणहार-कट्ठहारा
मालुगा पत्तहारगा॥

कुंथु, चींटी, उद्दंस—खटमल, उक्कल—मकड़ी, उपदेहिका—दीमक, तृणाहारक, काष्ठाहारक—घुन, मालुक, पत्राहारक—

१३८. कप्पासऽट्ठिमिजा य
तिंदुगा तउसमिंजगा।
सदावरी य गुम्मी य
बोद्धव्वा इन्दकाइया॥

कर्पासास्थि-मिंजक, तिन्दुक, त्रपुष-मिंजक, शतावरी, गुम्मी—कान-खजूरा, इन्द्रकायिक—

१३९. इन्दगोवगमाईया
णेगहा एवमायओ।
लोएगदेसे ते सव्वे
न सव्वत्थ वियाहिया॥

इन्द्रगोपक इत्यादि त्रीन्द्रिय जीव अनेक प्रकार के हैं। वे लोक के एक भाग में व्याप्त हैं, सम्पूर्ण लोक में नहीं।

१४०. संतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि अनंत हैं और स्थिति की अपेक्षा से सादि सान्त हैं।

१४१. एगूणपण्णऽहोरत्ता
उक्कोसेण वियाहिया।
तेइन्दियआउठिई
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

उनकी आयु-स्थिति उत्कृष्ट उन-पचास दिनों की और जघन्य अन्तमुंहूर्त की है।

१४२. संखिज्जकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं
तेइन्दियकायठिई
तं कायं तु अमुंचओ ॥

उनकी काय-स्थिति उत्कृष्ट संख्यात काल की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है। त्रीन्द्रिय शरीर को न छोड़कर, निरंतर त्रीन्द्रिय शरीर में ही पैदा होना काय-स्थिति है।

१४३. अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
तेइन्दियजीवाणं
अन्तरेयं वियाहियं ॥

त्रीन्द्रिय शरीर को छोड़कर पुनः त्रीन्द्रिय के शरीर में उत्पन्न होने में अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्तकाल का है।

१४४. एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो ॥

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से उनके हजारों भेद हैं।

चतुरिन्द्रिय त्रस—

१४५. चउरिन्दिया उ जे जीवा
दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता
तेसिं भेए सुणेह मे ॥

चतुरिन्द्रिय जीव के दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। उनके भेद तुम मुझ से सुनो।

१४६. अन्धिया पोत्तिया चेव
मच्छिया मसगा तहा।
भमरे कीड-पयंगे य
ढिंकुणे कुंकुणे तहा ॥

अन्धिका, पोत्तिका, मक्षिका, मशक-मच्छर, भ्रमर, कीट, पतंग, ढिंकुण, कुंकुण—

१४७. कुक्कुडे सिंगिरीडी य
नन्दावत्ते य बिंछिए।
डोले भिंगारी य
विरली अच्छिवेहए ॥

कुक्कुड, भृंगिरीटी, नन्दावर्त, बिच्छू, डोल, भृंगरीटक, विरली, अक्षिवेधक—

१४८. अच्छिले माहए अच्छि-
रोडए विचित्ते चित्तपत्तए।
ओहिंजलिया जलकारी य
नीया तन्तवगाविया ॥

अक्षिल, मागध, अक्षिरोडक, विचित्र, चित्र-पत्रक, ओहिंजलिया, जलकारी, नीचक, तन्तवक—

१४९. इइ चउरिन्दिया एए
अणेगहा एवमायओ।
लोगस्स एगदेसम्मि
ते सव्वे परिकित्तिया॥

इत्यादि चतुरिन्द्रिय के अनेक प्रकार हैं। वे लोक के एक भाग में व्याप्त हैं, सम्पूर्ण लोक में नहीं।

१५०. संतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनंत और स्थिति की अपेक्षा से सादि सान्त हैं।

१५१. छच्चेव य मासा उ
उक्कोसेण वियाहिया।
चउरिन्दियआउठिई
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

उनकी आयु-स्थिति उत्कृष्ट छह मास की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है।

१५२. संखिज्जकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
चउरिन्दियकायठिई
तं कायं तु अमुंचओ॥

उनकी काय-स्थिति उत्कृष्ट संख्यात-काल की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है। चतुरिन्द्रिय के शरीर को न छोड़कर निरंतर चतुरिन्द्रिय के शरीर में ही पैदा होते रहना, काय-स्थिति है।

१५३. अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए
अन्तरेयं वियाहियं॥

चतुरिन्द्रिय शरीर को छोड़कर पुन: चतुरिन्द्रिय शरीर में उत्पन्न होने में अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्तकाल का है।

१५४. एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो॥

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से उनके हजारो भेद हैं।

पंचेन्द्रिय त्रस—

१५५. पंचिन्दिया उ जे जीवा
चउव्विहा ते वियाहिया।
नेरइया तिरिक्खा य
मणुया देवा य आहिया॥

पंचेन्द्रिय जीव के चार भेद हैं—नैरयिक, तिर्यंच, मनुष्य और देव।

नारक त्रस—

१५६. नेरइया सत्तविहा
पुढवीसु सत्तसू भवे ।
रयणाभ — सक्कराभा
वालुयाभा य आहिया ॥

नैरयिक जीव सात प्रकार के हैं—रत्नाभा, शर्कराभा, बालुकाभा ।

१५७. पंकाभा धूमाभा
तमा तमतमा तहा ।
इइ नेरइया एए
सत्तहा परिकित्तिया ॥

पंकाभा, धूमाभा, तमःप्रभा और तमस्तमा—इस प्रकार सात पृथ्वियों में उत्पन्न होने वाले नैरयिक सात प्रकार के हैं ।

१५८. लोगस्स एगदेसम्मि
ते सव्वे उ वियाहिया ।
एत्तो कालविभागं तु
वुच्छं तेसिं चउव्विहं ॥

वे लोक के एक भाग में व्याप्त हैं । इस निरूपण के बाद चार प्रकार से नैरयिक जीवों के काल-विभाग का कथन करूँगा ।

१५९. संतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य ॥

वे प्रवाह की अपेक्षा से अनादि अनन्त हैं । और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त है ।

१६०. सागरोवममेगं तु
उक्कोसेण वियाहिया ।
पढमाए जहन्नेणं
दसवाससहस्सिया ॥

पहली पृथ्वी में नैरयिक जीवों की आयु-स्थिति जघन्य दस हजार वर्ष की ; और उत्कृष्ट एक सागरोपम की है ।

१६१. तिण्णेव सागरा ऊ
उक्कोसेण वियाहिया ।
दोच्चाए जहन्नेणं
एगं तु सागरोवमं ॥

दूसरी पृथ्वी में नैरयिक जीवों की आयु-स्थिति उत्कृष्ट तीन सागरोपम की और जघन्य एक सागरोपम की है ।

१६२. सत्तेव सागरा ऊ
उक्कोसेण वियाहिया ।
तइयाए जहन्नेणं
तिण्णेव उ सागरोवमा ॥

तीसरी पृथ्वी में नैरयिक जीवों की आयु स्थिति उत्कृष्ट सात सागरोपम और जघन्य तीन सागरोपम है ।

१६३. दस सागरोवमा ऊ
उक्कोसेण वियाहिया ।
चउत्थीए जहन्नेणं
सत्तेव उ सागरोवमा ॥

चौथी पृथ्वी में नैरयिक जीवों की आयु-स्थिति उत्कृष्ट दस सागरोपम और जघन्य सात सागरोपम है ।

१६४. सत्तरस सागरा ऊ
उक्कोसेण वियाहिया ।
पंचमाए जहन्नेणं
दस चेव उ सागरोवमा ॥

पाँचवीं पृथ्वी में नैरयिक जीवों की आयु-स्थिति उत्कृष्ट सतरह सागरोपम और जघन्य दस सागरोपम है ।

१६५. बावीस सागरा ऊ
उक्कोसेण वियाहिया ।
छट्ठीए जहन्नेणं
सत्तरस सागरोवमा ॥

छठी पृथ्वी में नैरयिक जीवों की आयु-स्थिति उत्कृष्ट बाईस सागरोपम और जघन्य सतरह सागरोपम है ।

१६६. तेत्तीस सागरा ऊ
उक्कोसेण वियाहिया ।
सत्तमाए जहन्नेणं
बावीसं सागरोवमा ॥

सातवीं पृथ्वी में नैरयिक जीवों की आयु-स्थिति उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम और जघन्य बाईस सागरोपम है ।

१६७. जा चेव उ आउठिई
नेरइयाणं वियाहिया ।
सा तेसिं कायठिई
जहन्नुक्कोसिया भवे ॥

नैरयिक जीवों की जो आयु-स्थिति है, वही उनकी जघन्य और उत्कृष्ट काय-स्थिति है ।

१६८. अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढंमि सए काए
नेरइयाणं तु अन्तरं ॥

नैरयिक शरीर को छोड़कर पुनः नैरयिक शरीर में उत्पन्न होने में अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्त-काल का है ।

१६९. एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो ॥

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से उनके हजारों भेद हैं ।

१७०. पंचिन्दियतिरिक्खाओ
दुविहा ते वियाहिया।
सम्मुच्छिमतिरिक्खाओ
गब्भवक्कन्तिया तहा॥

पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च त्रस—

पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च जीव के दो भेद हैं—

सम्मूर्च्छिम-तिर्यञ्च और गर्भज-तिर्यञ्च।

१७१. दुविहावि ते भवे तिविहा
जलयरा थलयरा तहा।
खहयरा य बोद्धव्वा
तेसिं भेए सुणेह मे॥

इन दोनों के पुनः जलचर, स्थलचर और खेचर—ये तीन-तीन भेद हैं। उनको तुम मुझसे सुनो।

जलचर त्रस—

१७२. मच्छा य कच्छभा य
गाहा य मगरा तहा।
सुंसुमारा य बोद्धव्वा
पंचहा जलयराहिया॥

जलचर पाँच प्रकार के हैं—मत्स्य, कच्छप, ग्राह, मकर और सुंसुमार।

१७३. लोएगदेसे ते सव्वे
न सव्वत्थ वियाहिया।
एत्तो कालविभागं तु
वुच्छं तेसिं चउव्विहं॥

वे लोक के एक भाग में व्याप्त हैं, सम्पूर्ण लोक में नहीं। इस निरूपण के बाद चार प्रकार से उनके कालविभाग का कथन करूँगा।

१७४. संतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

वे प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१७५. एगा य पुव्वकोडीओ
उक्कोसेण वियाहिया।
आउट्ठिई जलयराणं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

जलचरों की आयु-स्थिति उत्कृष्ट एक करोड़ पूर्व की, और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है।

१७६. पुव्वकोडीपुहुत्तं तु
उक्कोसेण वियाहिया।
कायट्ठिई जलयराणं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

जलचरों की काय-स्थिति उत्कृष्ट एक करोड़ पूर्व की है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है।

१७७. अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए
जलयराणं तु अन्तरं॥

जलचर के शरीर को छोड़कर पुनः जलचर के शरीर में उत्पन्न होने में अन्तर जघन्य अन्तमुंहूर्त और उत्कृष्ट अनन्त-काल का है।

१७८. एएसिं वण्णओ चेव
गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वा वि
विहाणाइं सहस्ससो॥

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से उनके हजारों भेद हैं।

स्थलचर त्रस—

१७९. चउप्पया य परिसप्पा
दुविहा थलयरा भवे।
चउप्पया चउविहा
ते मे कित्तयओ सुण॥

स्थलचर जीवों के दो भेद है—चतुष्पद और परिसर्प। चतुष्पद चार प्रकार के हैं, उनको मुझसे सुनो।

१८०. एगखुरा दुखुरा चेव
गण्डीपय-सणप्पया।
हयमाइ-गोणमाइ—
गयमाइ-सीहमाइणो॥

एकखुर—अश्व आदि, द्विखुर—बैल आदि, गण्डीपद—हाथी आदि, और सनखपद—सिंह आदि।

१८१. भुओरगपरिसप्पा य
परिसप्पा दुविहा भवे।
गोहाई अहिमाई य
एक्केक्का ऽणेगहा भवे॥

परिसर्प दो प्रकार के हैं—भुजपरि-सर्प—गोह आदि, उरःपरिसर्प—सांप आदि। इन दोनो के अनेक प्रकार है।

१८२. लोएगदेसे ते सव्वे
न सव्वत्थ वियाहिया।
एत्तो कालविभागं तु
वुच्छं तेसिं चउव्विहं॥

वे लोक के एक भाग में व्याप्त हैं, सम्पूर्ण लोक में नहीं। इस निरूपण के बाद चार प्रकार से स्थलचर जीवों के काल-विभाग का कथन करूंगा।

१८३. संतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि अनन्त हैं। स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त है।

१८४. पलिओवमाउ तिण्णि उ उक्कोसेण वियाहिया। आउट्ठिई थलयराणं अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥	उनकी आयु स्थिति उत्कृष्ट तीन पल्योपम की, और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है।
१८५. पलिओवमाउ तिण्णि उ उक्कोसेण तु साहिया। पुव्वकोडीपुहत्तेणं अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥	उत्कृष्टतः पृथक्त्व करोड़ पूर्व अधिक तीन पल्योपम और जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त—
१८६. कायट्ठिई थलयराणं अन्तरं तेसिमं भवे। कालमणन्तमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं॥	स्थलचर जीवों की कायस्थिति है। और उनका अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्त काल का है।
१८७. एएसिं वण्णओ चेव गंधओ रसफासओ। संठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्ससो॥	वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से उनके हजारों भेद हैं।
१८८. चम्मे उ लोमपक्खी य तइया समुग्गपक्खिया। विययपक्खी य बोद्धव्वा पक्खिणो य चउव्विहा॥	**खेचर त्रस—** खेचर जीव के चार प्रकार हैं—चर्म-पक्षी, रोम पक्षी, समुद्ग पक्षी और वितत-पक्षी।
१८९. लोगेगदेसे ते सव्वे न सव्वत्थ वियाहिया। इत्तो कालविभागं तु वुच्छं तेसिं चउव्विहं॥	वे लोक के एक भाग में व्याप्त हैं, सम्पूर्ण लोक में नहीं। इस निरूपण के बाद चार प्रकार से खेचर जीवों के काल-विभाग का कथन करूंगा।
१९०. संतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य। ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य॥	प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि अनन्त हैं। स्थिति की अपेक्षा से सादि सान्त हैं।

१९१. पलिओवमस्स भागो
असंखेज्जइमो भवे।
आउट्ठिई खहयराणं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

उनकी आयु-स्थिति उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग की है और जघन्य अन्तमुंहूर्त है।

१९२. असंखभागो पलियस्स
उक्कोसेण उ साहिओ।
पुव्वकोडीपुहत्तेणं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

उत्कृष्टतः पृथक्त्व करोड़ पूर्व अधिक पल्योपम का असंख्यातवां भाग और जघन्यतः अन्तमुंहूर्त—

१९३. कायठिई खहयराणं
अन्तरं तेसिमं भवे।
कालं अणन्तमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं॥

खेचर जीवों की काय-स्थिति है।
और उनका अन्तर जघन्य अन्तमुंहूर्त और उत्कृष्ट अनन्त काल का है।

१९४. एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो॥

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से उनके हजारों भेद हैं।

मनुष्य त्रस—

१९५. मणुया दुविहभेया उ
ते मे कित्तयओ सुण।
संमुच्छिमा य मणुया
गब्भवक्कन्तिया तहा॥

मनुष्य दो प्रकार के है—संमूर्च्छिम और गर्भावक्रान्तिक—गर्भोत्पन्न।

१९६. गब्भवक्कन्तिया जे उ
तिविहा ते वियाहिया।
अकम्म-कम्मभूमा य
अन्तरद्दीवया तहा॥

अकर्म-भूमिक, कर्म-भूमिक और अन्तर्द्वीपक—ये तीन भेद गर्भ से उत्पन्न मनुष्यों के हैं।

१९७. पन्नरस-तीसइ-विहा
भेया अट्ठवीसइं।
संखा उ कमसो तेसिं
इइ एसा वियाहिया॥

कर्म-भूमिक मनुष्यों के पन्द्रह, अकर्म भूमिक मनुष्यों के तीस, और अन्तर्द्वीपक मनुष्यों के अट्ठाईस भेद हैं।

१९८. संमुच्छिमाण एसेव
भेओ होइ आहिओ।
लोगस्स एगदेसम्मि
ते सव्वे वि वियाहिया ॥

सम्मूर्च्छिम मनुष्यों के भेद भी इसी प्रकार हैं। वे सब भी लोक के एक भाग में व्याप्त हैं।

१९९. संतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य ॥

उक्त मनुष्य प्रवाह की अपेक्षा से अनादि अनन्त हैं, स्थिति की अपेक्षा से सादि सान्त हैं।

२००. पलिओवमाइं तिण्णि उ
उक्कोसेण वियाहिया
आउट्ठिई मणुयाणं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

मनुष्यों की आयु-स्थिति उत्कृष्ट तीन पल्योपम और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है।

२०१. पलिओवमाइं तिण्णि उ
उक्कोसेण वियाहिया।
पुव्वकोडीपुहत्तेणं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

उत्कृष्टतः पृथक्त्व करोड़ पूर्व अधिक तीन पल्योपम, और जघन्य अन्तर्मुहूर्त—

२०२. कायट्ठिई मणुयाणं
अन्तरं तेसिमं भवे।
अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ॥

मनुष्यों की काय-स्थिति है
उनका अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्त काल का है।

२०३. एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो ॥

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से उनके हजारों भेद हैं।

देवजगत—

२०४. देवा चउव्विहा वुत्ता
ते मे कित्तयओ सुण।
भोमिज्ज-वाणमन्तर-
जोइस-वेमाणिया तहा ॥

भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक—ये देवों के चार भेद हैं।

२०५. दसहा उ भवणवासी
अट्ठहा वणचारिणो।
पंचविहा जोइसिया
दुविहा वेमाणिया तहा ॥

भवनवासी देवों के दस, व्यन्तर देवों के आठ, ज्योतिष्क देवों के पाँच, और वैमानिक देवों के दो भेद हैं।

२०६. असुरा नाग-सुवण्णा
विज्जू अग्गी य आहिया।
दीवोदहि-दिसा वाया
थणिया भवणवासिणो ॥

असुर कुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, वायुकुमार और स्तनितकुमार—ये दस भवनवासी देव हैं।

२०७. पिसाय-भूय-जक्खा य
रक्खसा किन्नरा य किंपुरिसा।
महोरगा य गन्धव्वा
अट्ठविहा वाणमन्तरा ॥

पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग और गन्धर्व—ये आठ व्यन्तर देव है।

२०८. चन्दा सूरा य नक्खत्ता
गहा तारागणा तहा।
दिसाविचारिणो चेव
पंचहा जोइसालया ॥

चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, ग्रह और तारा—ये पाँच ज्योतिष्क देव है। ये दिशाविचारी अर्थात् मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए भ्रमण करने वाले ज्योतिष्क है।

२०९. वेमाणिया उ जे देवा
दुविहा ते वियाहिया।
कप्पोवगा य बोद्धव्वा
कप्पाईया तहेव य ॥

वैमानिक देवों के दो भेद हैं—कल्पोपग—कल्प से सहित और कल्पातीत—इन्द्रादि के रूप में कल्प अर्थात् आचार-मर्यादा व शासन-व्यवस्था वाले।

२१०. कप्पोवगा बारसहा
सोहम्मीसाणगा तहा।
सणंकुमार-माहिन्दा
बम्भलोगा य लन्तगा ॥

कल्पोपग देव के बारह प्रकार हैं—सौधर्म, ईशानक, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक—

२११. महासुक्का सहस्सारा
आणया पाणया तहा।
आरणा अच्चुया चेव
इइ कप्पोवगा सुरा ॥

महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत आरण और अच्युत—ये कल्पोपग देव हैं।

२१२. कप्पाईया उ जे देवा
दुविहा ते वियाहिया।
गेविज्जाऽणुत्तरा चेव
गेविज्जा नवविहा तहिं ॥

कल्पातीत देवों के दो भेद हैं—ग्रैवेयक और अनुत्तर। ग्रैवेयक नौ प्रकार के हैं—

२१३. हेट्ठिमा-हेट्ठिमा चेव
हेट्ठिमा-मज्झिमा तहा।
हेट्ठिमा-उवरिमा चेव
मज्झिमा-हेट्ठिमा तहा ॥

अधस्तन-अधस्तन, अधस्तन-मध्यम, अधस्तन-उपरितन, मध्यम-अधस्तन—

२१४. मज्झिमा-मज्झिमा चेव
मज्झिमा-उवरिमा तहा।
उवरिमा-हेट्ठिमा चेव
उवरिमा-मज्झिमा तहा ॥

मध्यम-मध्यम, मध्यम-उपरितन, उपरितन-अधस्तन, उपरितन-मध्यम—

२१५. उवरिमा-उवरिमा चेव
इय गेविज्जगा सुरा।
विजया वेजयन्ता य
जयन्ता अपराजिया ॥

और उपरितन-उपरितन—ये नौ ग्रैवेयक हैं।

विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित—

२१६. सव्वट्ठसिद्धगा चेव
पंचहाऽणुत्तरा सुरा।
इइ वेमाणिया देवा
णेगहा एवमायओ ॥

और सर्वार्थसिद्धक—ये पाँच अनुत्तर देव है।

इस प्रकार वैमानिक देव अनेक प्रकार के हैं।

२१७. लोगस्स एगदेसम्मि
ते सव्वे परिकित्तिया।
इत्तो कालविभागं तु
वुच्छं तेसिं चउव्विहं ॥

वे सभी लोक के एक भाग में व्याप्त हैं।

इस निरूपण के बाद चार प्रकार से उनके काल-विभाग का कथन करूँगा।

२१८. संतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य ॥

वे प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं। स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

२१९. साहियं सागरं एक्कं
उक्कोसेण ठिई भवे ।
भोमेज्जाणं जहन्नेणं
दसवाससहस्सिया ॥

भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु-स्थिति किंचित् अधिक एक सागरोपम की और जघन्य दस हजार वर्ष की है ।

२२०. पलिओवममेगं तु
उक्कोसेण ठिई भवे ।
वन्तराणं जहन्नेणं
दसवाससहस्सिया ॥

व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट आयु-स्थिति एक पल्योपम की, और जघन्य दस हजार वर्ष की है ।

२२१. पलिओवमं एगं तु
वासलक्खेण साहियं ।
पलिओवमट्ठभागो
जोइसेसु जहन्निया ॥

ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट आयु-स्थिति एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की, और जघन्य पल्योपमक का आठवां भाग है ।

२२२. दो चेव सागराइं
उक्कोसेण वियाहिया ।
सोहम्मंमि जहन्नेणं
एगं च पलिओवमं ॥

सौधर्म देवों की उत्कृष्ट आयु-स्थिति दो सागरोपम और जघन्य एक पल्योपम है ।

२२३. सागरा साहिया दुन्नि
उक्कोसेण वियाहिया ।
ईसाणम्मि जहन्नेणं
साहियं पलिओवमं ॥

ईशान देवो की उत्कृष्ट आयु-स्थिति किंचित् अधिक सागरोपम, और जघन्य किंचित् अधिक एक पल्योपम है ।

२२४. सागराणि य सत्तेव
उक्कोसेण ठिई भवे ।
सणंकुमारे जहन्नेणं
दुन्नि ऊ सागरोवमा ॥

सनत्कुमार देवों की उत्कृष्ट आयु-स्थिति सात सागरोपम और जघन्य दो सागरोपम है ।

२२५. साहिया सागरा सत्त
उक्कोसेण ठिई भवे ।
माहिन्दम्मि जहन्नेणं
साहिया दुन्नि सागरा ॥

माहेन्द्रकुमार देवों की उत्कृष्ट आयु-स्थिति किंचित् अधिक सात सागरोपम, और जघन्य किंचित् अधिक दो सागरोपम है ।

२२६. दस चेव सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
बम्भलोए जहन्नेणं
सत्त ऊ सागरोवमा॥

ब्रह्मलोक देवों की आयु-स्थिति उत्कृष्ट दस सागरोपम और जघन्य सात सागरोपम है।

२२७. चउद्दस सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
लन्तगम्मि जहन्नेणं
दस ऊ सागरोवमा॥

लान्तक देवों की उत्कृष्ट आयु-स्थिति चौदह सागरोपम, जघन्य दस सागरोपम है।

२२८. सत्तरस सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
महासुक्के जहन्नेणं
चउद्दस सागरोवमा॥

महाशुक्र देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति सतरह सागरोपम, और जघन्य चौदह सागरोपम है।

२२९. अट्ठारस सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
सहस्सारे जहन्नेणं
सत्तरस सागरोवमा॥

सहस्रार देवों की उत्कृष्ट आयु-स्थिति अठारह सागरोपम, जघन्य सतरह सागरोपम है।

२३०. सागरा अउणवीसं तु
उक्कोसेण ठिई भवे।
आणयम्मि जहन्नेणं
अट्ठारस सागरोवमा॥

आनत देवों की उत्कृष्ट आयु-स्थिति उन्नीस सागरोपम, जघन्य अठारह सागरोपम है।

२३१. वीसं तु सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
पाणयम्मि जहन्नेणं
सागरा अउणवीसई॥

प्राणत देवों की उत्कृष्ट आयु-स्थिति बीस सागरोपम और जघन्य उन्नीस सागरोपम है।

२३२. सागरा इक्कवीसं तु
उक्कोसेण ठिई भवे।
आरणम्मि जहन्नेणं
वीसई सागरोवमा॥

आरण देवों की उत्कृष्ट आयु-स्थिति इक्कीस सागरोपम, जघन्य बीस सागरोपम है।

२३३. बावीसं सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
अच्चुयम्मि जहन्नेणं
सागरा इक्कवीसई ॥

अच्युत देवों की आयु-स्थिति उत्कृष्ट बाईस सागरोपम, जघन्य इक्कीस सागरोपम है।

२३४. तेवीस सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
पढमम्मि जहन्नेणं
बावीसं सागरोवमा ॥

प्रथम ग्रैवेयक देवों की उत्कृष्ट आयु-स्थिति तेईस सागरोपम, जघन्य बाईस सागरोपम है।

२३५. चउवीस सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
बिइयम्मि जहन्नेणं
तेवीसं सागरोवमा ॥

द्वितीय ग्रैवेयक देवों की उत्कृष्ट आयु-स्थिति चौबीस सागरोपम, जघन्य तेईस सागरोपम है।

२३६. पणवीस सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
तइयम्मि जहन्नेणं
चउवीसं सागरोवमा ॥

तृतीय ग्रैवेयक देवो की उत्कृष्ट आयु-स्थिति पच्चीस सागरोपम, जघन्य चौबीस सागरोपम है।

२३७. छब्बीस सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
चउत्थम्मि जहन्नेणं
सागरा पणुवीसई ॥

चतुर्थ ग्रैवेयक देवों की उत्कृष्ट आयु-स्थिति छब्बीस सागरोपम, जघन्य पच्चीस सागरोपम है।

२३८. सागरा सत्तवीसं तु
उक्कोसेण ठिई भवे।
पंचमम्मि जहन्नेणं
सागरा उ छवीसई ॥

पंचम ग्रैवेयक देवों की उत्कृष्ट आयु-स्थिति सत्ताईस सागरोपम, जघन्य छब्बीस सागरोपम है।

२३९. सागरा अट्ठवीसं तु
उक्कोसेण ठिई भवे।
छट्ठम्मि जहन्नेणं
सागरा सत्तवीसई ॥

षष्ठ ग्रैवेयक देवों की उत्कृष्ट आयु-स्थिति अट्ठाईस सागरोपम, और जघन्य सत्ताईस सागरोपम है।

२४०. सागरा अउणतीसं तु
उक्कोसेण ठिई भवे।
सत्तमम्मि जहन्नेणं
सागरा अट्ठवीसई ॥

सप्तम ग्रैवेयक देवों की उत्कृष्ट आयु-स्थिति उनतीस सागरोपम, और जघन्य अट्ठाईस सागरोपम है।

२४१. तीसं तु सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
अट्ठमम्मि जहन्नेणं
सागरा अउणतीसई ॥

अष्टम ग्रैवेयक देवों की उत्कृष्ट आयु-स्थिति तीस सागरोपम, और जघन्य उनतीस सागरोपम है।

२४२. सागरा इक्कतीसं तु
उक्कोसेण ठिई भवे।
नवमम्मि जहन्नेणं
तीसई सागरोवमा ॥

नवम ग्रैवेयक देवों की उत्कृष्ट आयु-स्थिति इकत्तीस सागरोपम, और जघन्य तीस सागरोपम है।

२४३. तेत्तीस सागरा उ
उक्कोसेण ठिई भवे।
चउसुं पि विजयाईसुं
जहन्नेणेक्कतीसई ॥

विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित देवों की उत्कृष्ट आयु-स्थिति तैंतीस सागरोपम, और जघन्य इकत्तीस सागरोपम है।

२४४. अजहन्नमणुक्कोसा
तेत्तीसं सागरोवमा।
महाविमाण — सव्वट्ठे
ठिई एसा वियाहिया ॥

महाविमान सर्वार्थ-सिद्ध के देवों की अजघन्य-अनुत्कृष्ट अर्थात् न उत्कृष्ट और न जघन्य एक जैसी आयु-स्थिति तैंतीस सागरोपम की है।

२४५. जा चेव उ आउठिई
देवाणं तु वियाहिया।
सा तेसिं कायठिई
जहन्नुक्कोसिया भवे ॥

देवों की पूर्व-कथित जो आयु-स्थिति है, वही उनकी जघन्य और उत्कृष्ट काय-स्थिति है।

२४६. अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए
देवाणं हुज्ज अन्तरं ॥

उनका देव के शरीर को छोड़कर पुनः देव के शरीर में उत्पन्न होने में अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्त-काल का है।

२४७. एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वा वि
विहाणाइं सहस्सओ ॥

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से उनके हजारों भेद होते हैं।

उपसंहार—

२४८. संसारत्था य सिद्धा य
इइ जीवा वियाहिया ।
रूविणो चेवऽरूवी य
अजीवा दुविहा वि य ॥

इस प्रकार संसारी और सिद्ध जीवों का व्याख्यान किया गया। रूपी और अरूपी के भेद से दो प्रकार के अजीवों का भी व्याख्यान हो गया।

२४९. इइ जीवमजीवे य
सोच्चा सद्दहिऊण य ।
सव्वनयाण अणुमए
रमेज्जा संजमे मुणी ॥

जीव और अजीव के व्याख्यान को सुनकर और उसमें श्रद्धा करके ज्ञान एवं क्रिया आदि सभी नयों से अनुमत संयम में मुनि रमण करे।

२५०. तओ बहूणि वासाणि
सामण्णमणुपालिया ।
इमेण कमजोगेण
अप्पाणं संलिहे मुणी ॥

तदनन्तर अनेक वर्षों तक श्रामण्य का पालन करके मुनि इस अनुक्रम से आत्मा की संलेखना—विकारों से क्षीणता करे।

२५१. बारसेव उ वासाइं
संलेहुक्कोसिया भवे ।
संवच्छरं मज्झिमिया
छम्मासा य जहन्निया ॥

उत्कृष्ट संलेखना बारह वर्ष की होती है। मध्यम एक वर्ष की, और जघन्य छह मास की है।

२५२. पढमे वासचउक्कम्मि
विगईनिज्जूहणं करे ।
बिइए वासचउक्कम्मि
विचित्तं तु तवं चरे ॥

प्रथम चार वर्षों में दुग्ध आदि विकृतियों का निर्यूहण—त्याग करे, दूसरे चार वर्षों में विविध प्रकार का तप करे।

२५३. एगन्तरमायामं
कट्टु संवच्छरे दुवे ।
तओ संवच्छरद्धं तु
नाइविगिट्ठं तवं चरे ॥

फिर दो वर्षों तक एकान्तर तप (एक दिन उपवास और फिर एक दिन भोजन) करे। भोजन के दिन आयाम—आचाम्ल करे। उसके बाद ग्यारहवें वर्ष में पहले छह महिनों तक कोई भी अतिविकृष्ट (तेला, चौला आदि) तप न करे।

२५४. तओ संवच्छरद्धं तु
विगिट्ठं तु तवं चरे।
परिमियं चेव आयामं
तंमि संवच्छरे करे॥

उसके बाद छह महिने तक विकृष्ट तप करे। इस पूरे वर्ष में परिमित (पारणा के दिन) आचाम्ल करे।

२५५. कोडीसहियमायामं
कट्टु संवच्छरे मुणी।
मासद्धमासिएणं तु
आहारेण तवं चरे॥

बारहवें वर्ष में एक वर्ष तक कोटि-सहित अर्थात् निरन्तर आचाम्ल करके फिर मुनि पक्ष या एक मास का आहार से तप अर्थात् अनशन करे।

२५६. कन्दप्पमाभिओगं
किब्बिसियं मोहमासुरत्तं च।
एयाओ दुग्गईओ
मरणम्मि विराहिया होन्ति॥

कांदर्पी, आभियोगी, किल्विषिकी, मोही और आसुरी भावनाएँ दुर्गति देने वाली हैं। ये मृत्यु के समय में संयम की विराधना करती हैं।

२५७. मिच्छादंसणरत्ता
सनियाणा हु हिंसगा।
इय जे मरन्ति जीवा
तेसिं पुण दुल्लहा बोही॥

जो मरते समय मिथ्या-दर्शन में अनुरक्त हैं, निदान से युक्त हैं और हिंसक हैं, उन्हे बोधि बहुत दुर्लभ है।

२५८. सम्मद्दंसणरत्ता
अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा।
इय जे मरन्ति जीवा
सुलहा तेसिं भवे बोही॥

जो सम्यग्-दर्शन में अनुरक्त हैं, निदान से रहित हैं, शुक्ल लेश्या में अवगाढ-प्रविष्ट हैं, उन्हें बोधि सुलभ है।

२५९. मिच्छादंसणरत्ता
सनियाणा कण्हलेसमोगाढा।
इय जे मरन्ति जीवा
तेसिं पुण दुल्लहा बोही॥

जो मरते समय मिथ्या-दर्शन में अनुरक्त हैं, निदान सहित हैं, कृष्ण लेश्या में अवगाढ हैं, उन्हें बोधि बहुत दुर्लभ है।

२६०. जिणवयणे अणुरत्ता
जिणवयणं जे करेन्ति भावेण।
अमला असंकिलिट्ठा
ते होन्ति परित्तसंसारी॥

जो जिन-वचन में अनुरक्त हैं, जिन-वचनों का भावपूर्वक आचरण करते हैं, वे निर्मल और रागादि से असंक्लिष्ट होकर परीतसंसारी (परिमित संसार वाले) होते हैं।

२६१. बालमरणाणि बहुसो
अकाममरणाणि चेव य बहूणि ।
मरिहिन्ति ते वराया
जिणवयणं जे न जाणन्ति ॥

जो जीव जिन-वचन से अपरिचित हैं, वे बेचारे अनेक बार बाल-मरण तथा अकाम-मरण से मरते रहेंगे ।

२६२. बहुआगमविन्नाणा
समाहिउप्पायगा य गुणगाही ।
एएण कारणेणं
अरिहा आलोयणं सोउं ॥

जो अनेक शास्त्रों के वेत्ता, आलोचना करने वालों को समाधि (चित्तस्वास्थ्य) उत्पन्न करने वाले और गुणग्राही होते हैं, वे इसी कारण आलोचना सुनने में समर्थ होते हैं ।

२६३. कन्दप्प-कोक्कुयाइं तह
सील-सहाव-हास-विगहाहिं ।
विम्हावेन्तो य परं
कन्दप्पं भावणं कुणइ ॥

जो कन्दर्प—कामकथा करता है, कौत्कुच्य—हास्योत्पादक कुचेष्टाएँ करता है, तथा शील, स्वभाव, हास्य और विकथा से दूसरों को हँसाता है, वह कांदर्पी भावना का आचरण करता है ।

२६४. मन्ता-जोगं काउं
भूईकम्मं च जे पउंजन्ति ।
साय-रस-इड्ढिहेउं
अभिओगं भावणं कुणइ ॥

जो सुख, घृतादि रस और समृद्धि के लिए मंत्र, योग (कुछ चीजो को मिला कर किया जाने वाला तंत्र) और भूति (भस्म आदि) कर्म का प्रयोग करता है, वह अभियोगी भावना का आचरण करता है ।

२६५. नाणस्स केवलीणं
धम्मायरियस्स संघ-साहूणं ।
माई अवण्णवाई
किब्बिसियं भावणं कुणइ ॥

जो ज्ञान की, केवल-ज्ञानी की, धर्माचार्य की, संघ की तथा साधुओं की अवर्ण—निन्दा करता है, वह मायावी किल्बिषिकी भावना का आचरण करता है ।

२६६. अणुबद्धरोसपसरो
तह य निमित्तंमि होइ पडिसेवी ।
एएहि कारणेहिं
आसुरियं भावणं कुणइ ॥

जो निरन्तर क्रोध को बढ़ाता रहता है और निमित्त विद्या का प्रयोग करता है, वह इन कारणों से आसुरी भावना का आचरण करता है ।

२६७. सत्थग्गहणं विसभक्खणं च
जलणं च जलप्पवेसो य।
अणायार—भण्डसेवा
जम्मण-मरणाणि बन्धन्ति ॥

जो शस्त्र से, विषभक्षण से, अथवा अग्नि में जलकर तथा पानी में डूबकर आत्महत्या करता है, जो साध्वाचार से विरुद्ध भाण्ड—उपकरण रखता है, वह अनेक जन्म-मरणों का बन्धन करता है।

२६८. इइ पाउकरे बुद्धे
नायए परिनिव्वुए।
छत्तीसं उत्तरज्झाए
भवसिद्धीयसंमए ॥

इस प्रकार भव्य-जीवों को अभिप्रेत छत्तीस उत्तराध्ययनों को—उत्तम अध्यायों को प्रकट कर बुद्ध, ज्ञातवंशीय, भगवान् महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए।

—त्ति बेमि —ऐसा मैं कहता हूं।

टिप्पण

शास्त्र सिन्धु है, एक-एक से
दिव्यार्थों का रत्नाकर।
रत्नहेतु लो गहरी डुबकी,
मत तैरो ऊपर-ऊपर ॥

—उपाध्याय अमरमुनि

अध्ययन १

गाथा १—संयोग का अर्थ आसक्तिमूलक सम्बन्ध है। वह बाह्य (परिवार तथा संपत्ति आदि) और आभ्यन्तर (विषय, कषाय आदि) के रूप में दो प्रकार का है।

'अणगारस्स भिक्खुणो'—में अनगार और भिक्षु दो शब्द हैं। अनगार का अर्थ है—अगार (गृह) से रहित। शान्त्याचार्य ने अनगार के आगे षष्ठी विभक्ति का प्रयोग न कर 'अणगारस्सभिक्खुणो' इस प्रकार सामासिक रूप देकर 'अणगार' और 'अस्सभिक्खु' ऐसा भी एक पदच्छेद किया है। अस्सभिक्खु अर्थात् अ-स्वभिक्षु, जो भिक्ष, आहार या वस्ति आदि की प्राप्ति के लिए जाति, कुल आदि का परिचय देकर दूसरों को अपनी ओर आकृष्ट कर आत्मीय (स्वजन) नहीं बनाता है।

विनय का एक अर्थ आचार है, और दूसरा है विनमन अर्थात् नम्रता। **'विनयः साधुजनासेवितः समाचारस्तं, विनमनं वा विनयम्'**—शान्त्याचार्य कृत बृहद्वृत्ति।

गाथा २—आज्ञा और निर्देश समानार्थक हैं। फिर भी उत्तराध्ययन चूर्णि के अनुसार वैकल्पिक रूप में आज्ञा का अर्थ होता है—'आगम का उपदेश' और निर्देश का अर्थ होता है—'आगम से अविरुद्ध गुरुवचन।'

इंगित और आकार शरीर की चेष्टाविशेषों के वाचक हैं। किसी कार्य के विधि या निषेध के लिए शिर: कम्पन आदि की सूक्ष्म चेष्टा इंगित है और इधर-उधर दिशाओं को देखना, जँभाई लेना, आसन बदलना आदि स्थूल चेष्टाएँ 'आकार' हैं, जिनका फलितार्थ साधारण बुद्धि के लोग भी समझ सकते हैं।

'संपन्ने' का अर्थ सम्पन्न (युक्त) भी है और संप्रज्ञ (जानने वाला) भी। बृहद् वृत्ति में दोनों अर्थ हैं।

उत्तराध्ययन चूर्णि के मतानुसार 'कणकुण्डग' के दो अर्थ हैं—चावलों की भूसी अथवा चावलमिश्रित भूसी। यह पुष्टिकारक एवं सूअर का प्रिय भोजन है। **'कणा नाम तंदुलाः, कुंडगा कुक्कुसाः''''कणमिस्सो वा कुंडकः'**—चूर्णि।

गाथा १२—'गलियस्स' का अर्थ है—अविनीत घोड़ा। 'गलि'—अविनीत अर्थात् दुष्ट को कहते हैं। 'गलिः–अविनीतः'—बृहद् वृत्ति।

'आकीर्ण' विनीत अश्व और बैल को कहते हैं।

गाथा १८—कृति का अर्थ—वन्दन है। जो वन्दन के योग्य हो, वह कृत्य अर्थात् गुरु एवं आचार्य है।

गाथा १९—'पल्हत्थिय' और 'पक्खपिण्ड' के क्रमशः संस्कृत रूपान्तर हैं—पर्यस्तिका और पक्षपिण्ड। घुटनों और जंघाओं को कपड़े से बाँधकर बैठना, पर्यस्तिका है, और दोनों भुजाओं से घुटनों और जंघाओं को आवेष्टित करके बैठना, पक्षपिण्ड है।

गाथा २६—चूर्णिकार 'समर' का अर्थ—लोहार की 'शाला' करते हैं, और शान्त्याचार्य नाई की दुकान, लोहार की शाला तथा अन्य इसी प्रकार के साधारण निम्न स्थान करते हैं। 'समर' का दूसरा अर्थ—युद्ध भी किया गया है।

चूर्णि में अगार का अर्थ—सूना घर है।

दो या बहुत घरों के बीच की जगह 'संधि' है। दो दीवारों के बीच के प्रच्छन्न स्थान को भी संधि कहते हैं।

गाथा ३५—'अप्पपाण' और 'अप्पबीय' में 'अल्प' शब्द अभाववाची है। **'अल्पा अविद्यमानाः प्राणाः प्राणिनो यस्मिंस्तदल्पप्राणम्'**—बृहद्वृत्ति।

गाथा ४७—'पुज्जसत्थे' का अर्थ 'पूज्यशास्त्र' किया जाता है। इसका दूसरा रूप 'पूज्यशास्ता' भी हो सकता है। शास्ता का अर्थ है—अनुशास्ता, आचार्य, गुरु।

कर्मसंपदा के दो अर्थ है—साधुओं के द्वारा समाचरित सामाचारी और योगज विभूति।

अध्ययन २

गाथा ३—'कालीपव्वंगसंकासे' में 'कालीपव्व' का अर्थ—काकजंघा नामक तृणविशेष है। मुनि श्री नयमलजी के मतानुसार इसे हिन्दी में गुंजा या घुंघची का वृक्ष कहते हैं। डा० हर्मन जेकोबी तथा डा० सांडेसरा आदि आधुनिक विद्वान् इसका सीधा ही अर्थ 'कौए की जांघ' करते हैं।

गाथा १३—चूर्णि के अनुसार मुनि जिनकल्प अवस्था में अचेलक रहता है। स्थविरकल्प अवस्था में शिशिररात्र (पौष और माघ), वर्षारात्र (भाद्रपद और आश्विन), वर्षा बरसते समय तथा प्रातःकाल भिक्षा के लिए जाते समय सचेलक रहता

है। इसके विपरीत दिन में एवं ग्रीष्म ऋतु आदि में अचेलक। शान्त्याचार्य के मतानुसार जिनकल्पी मुनि अचेलक रहते हैं। स्थविरकल्पी भी वस्त्रप्राप्ति के अभाव में अचेलक रह सकता है।

गाथा ३३—बृहद्वृत्ति के अनुसार जिनकल्पी मुनि के लिए चिकित्सा करना और कराना सर्वथा निषिद्ध है। स्थविरकल्पी सावद्य—पापकारी चिकित्सा न करे, न कराए। चूर्णिकार ने सामान्य रूप से सभी मुनियों के लिए चिकित्सा करने-कराने का निषेध किया है।

गाथा ३९—चूर्णि के अनुसार 'अणुक्कसाई' के दो रूप होते हैं—अणुकषायी—अल्पकषाय वाला और अनुत्कशायी—सत्कार-सम्मान आदि के लिए उत्कंठा न रखने वाला।

गाथा ४३—आगमों का विधिवत् अध्ययन करते समय परम्परागत निश्चित विधि के अनुसार जो आयंबिल आदि का तप किया जाता है; वह उपधान है। आचारदिनकर तथा योगोद्वहनविधि आदि ग्रन्थों में प्रत्येक आगम के लिए तप के दिन और तप की विधि का विस्तार से वर्णन है।

पडिमा—प्रतिमा का अर्थ—कायोसर्ग है।

अध्ययन ३

गाथा ४—चूर्णि और बृहद्वृत्ति के अनुसार 'क्षत्रिय' शब्द से ब्राह्मण-वैश्य आदि उच्च जातियो, 'चाण्डल' शब्द से निषाद-श्वपच आदि नीच जातियों और बुक्कस शब्द से सूत, वैदेह आदि संकीर्ण जातियों का ग्रहण होता है।

चाण्डाल और श्वपचों के काम मनुस्मृति (१०, ५१-५२) के अनुसार गाँव से बाहर रहना, फूटे पात्रों में भोजन करना, मृतक के वस्त्र लेना, लोहे के बने आभूषण पहनना आदि हैं। कुत्ते और गधे ही इनकी धन-संपत्ति हैं।

गाथा १४—यक्ष शब्द 'यज्' धातु से बना है, जो पहले अच्छे देव के अर्थ में व्यवहृत होता था। बाद में यह निम्न कोटि की देवजाति के लिए प्रयुक्त होने लगा।

'महासुक्क' के महाशुक्ल और महाशुक्र दोनों रूप होते हैं। चन्द्र, सूर्य आदि उज्ज्वल कान्ति वाले ग्रह महाशुक्ल कहलाते हैं और निधूम महान् अग्नि 'महाशुक्र।'

गाथा १५—'पूर्व' शब्द जैन-परम्परा में एक संख्या विशेष का वाचक है। ८४ लाख को ८४ लाख से गुणन करने पर जो संख्या होती है, वह पूर्व है। अर्थात् ७० लाख

छप्पन हजार करोड़ (७०,५६०००,०००,००००) वर्षों को पूर्व कहते हैं। बृहद्वृत्ति में लिखा है—'पूर्वाणि—वर्ष सप्ततिकोटिलक्ष—षट् पंचाशत्कोटिसहस्रपरिमितानि।'

गाथा १७—उत्तराध्ययन सूत्र की आचार्य नेमिचन्द्र कृत 'सुखबोधा' वृत्ति के अनुसार 'कामस्कन्ध' का अर्थ होता है—"काम अर्थात् मनोज्ञ शब्द-रूपादि के हेतुभूत पुद्गलों का स्कन्ध—समूह। भोग-विलास के मनोज्ञ साधन।

'दास पोरुसं' में आए दास का अर्थ है—'वह गुलाम, जो खरीदा हुआ है, जो क्रेता स्वामी की वैधानिक संपत्ति समझा जाता है।' दास और कर्मकर अर्थात् नौकर में यही अन्तर है कि दास खरीदा हुआ होने से स्वामी की सम्पत्ति है और कर्मकर वेतन लेकर अमुक समय तक काम करता है, फिर छुट्टी। उस पर काम कराने वाले स्वामी का खरीदने-बेचने जैसा कोई अधिकार नहीं होता।

सुप्रसिद्ध चूर्णिकार श्री जिनदास गणी की निशीथ चूर्णि (भा० ३ पृ० २६३, भा०गा० ३६७६) में दस प्रकार के दास बताए हैं—(१) परम्परागत, (२) खरीदा हुआ, (३) कर्ज अदा न करने पर निगृहीत किया हुआ, (४) दुर्भिक्ष आदि होने पर भोजन-वस्त्र आदि के लिए दासत्व स्वीकार करने वाला, (५) किसी अपराध के कारण दण्डस्वरूप किया गया जुर्माना अदा न करने पर राजा द्वारा दास बनाया गया, (६) बन्दी के रूप में जो दास बना लिया गया हो, वह।

मनुस्मृति (८।४१५) में दासों के सात प्रकार बताए हैं—(१) ध्वजाहृत—संग्राम में पराजित, (२) भक्त—भोजन आदि के लिए बना दास, (३) गृहज—अपने घर की दासी से उत्पन्न, (४) क्रीत—खरीदा हुआ, (५) दात्रिम—किसी के द्वारा उपहारस्वरूप दिया हुआ, (६) पैतृक—पैतृक धन के रूप में पुत्र को प्राप्त, (७) दण्ड—ऋण चुकाने के लिए दासत्व स्वीकार करने वाला।

मनुस्मृति (८।४१६) में दासों को 'अधन' बताया गया है। दास जो भी धन संग्रह करते हैं, वह सब उनका होता है, जिनके वे दास होते हैं।

धर्मसाधना की फलश्रुति के रूप में दासों की प्राप्ति का उल्लेख आध्यात्मिक एवं सामाजिक न्याय की दृष्टि से उचित नहीं प्रतीत होता।

अध्ययन ४

गाथा ६—'घोरा मुहुत्ता' में मुहूर्त शब्द सामान्य रूप से समग्र काल का उपलक्षण है। प्राणी की आयु हर क्षण क्षीण होती रहती है, इसलिए काल को घोर अर्थात् रौद्र कहा है।

भारण्ड पक्षी पौराणिक युग का एक विराट पक्षी माना गया है। पंचतंत्र आदि में उसके दो ग्रीवा और एक पेट माना है—'एकोदराः पृथग् ग्रीवाः'। कल्पसूत्र

की किरणावली टीका में भी उसके दो मुख और दो जिह्वा होने का उल्लेख है। इसका अर्थ है कि दो ग्रीवा एवं दो मुख होने से उसके आँख, कान आदि सब दो-दो हैं। जब वह एक ग्रीवा से भोजन करता है, तो दूसरी ग्रीवा को ऊपर किए हुए आँखों से देखता रहता है कि कोई मुझ पर आक्रमण तो नहीं करता है। इस दृष्टि से साधक को अप्रमत्तता के लिए भारण्ड पक्षी की उपमा दी जाती है। कल्पसूत्र में भगवान महावीर को भी अप्रमत्तता एवं सतत जागरूकता के लिए भारंड पक्षी की उपमा दी है। उक्त पक्षी का वर्णन वसुदेवहिण्डी आदि अनेक प्राचीन जैन-कथा-ग्रन्थों में भी आता है।

अध्ययन ५

गाथा २—'मरण' के दो प्रकार हैं—अकाम और सकाम। अकाम मरण वह है, जो व्यक्ति विषयों व भोगों की तमन्ना में जीना ही चाहता है, मरना नहीं। वह हरक्षण मरण से संत्रस्त रहता है। फिर भी आयुक्षय होने पर उसे लाचारी में मरना होता है। बृहद् वृत्ति में इसी भाव को इन शब्दों में अभिव्यक्ति दी है—**'ते हि विषया-भिष्वङ्गतो मरणमनिच्छन्त एव म्रियन्ते।'** सकाम मरण कामनासहित मरण है। इसका यह अर्थ नहीं कि साधक मरने की कामना करता है। मरण की कामना तो साधना का दोष है। इसका केवल इतना ही अभिप्रेत अर्थ है कि जो साधक विषयों के प्रति अनासक्त रहता है, जीवन और मरण दोनों ही स्थितियों में सम होता है, वह मरण काल के समय भयभीत एवं संत्रस्त नही होता, अपितु अपनी पूर्ण आध्यात्मिक तैयारी के साथ अभय भाव से मृत्यु का स्वागत करता है। इस प्रकार अकाम बाल मरण है, और सकाम पण्डित मरण।

गाथा १०—**'दुहओ मलं संचिणइ सिसुनागुव्व मट्टियं'** में कहा है कि जैसे शिशुनाग दोनों ओर से मिट्टी का संचय करता है, वैसे ही बाल-जीव भी दोनों ओर से कर्ममल का संचय करता है। चूर्णिकार ने दुहओ के स्वयं पापाचार करना और दूसरों से कराना, मन और वाणी, राग और द्वेष, पुण्य और पाप आदि अनेक विकल्प किए हैं।

शिशुनाग गंडूपद अर्थात् अलसिया को कहते हैं। वह मिट्टी खाकर अन्दर में मल का संचय करता है, और शरीर की स्निग्धता के कारण बाहर में भी इधर-उधर रेंगते हुए अपने शरीर पर मिट्टी चिपका लेता है।

गाथा १३—जीवों की उत्पत्ति के तीन प्रकार हैं—गर्भ, सम्मूर्च्छन और उपपात। गर्भ से पैदा होने वाले पशु, पक्षी और मनुष्य आदि गर्भज हैं। बिना गर्भ के

अशुचि-स्थानों में यों ही जन्म लेने वाले द्वीन्द्रिय आदि जीव सम्मूर्च्छनज हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीव भी शास्त्रदृष्टि से सम्मूर्च्छनज ही माने जाते है। नारक और देव बिना गर्भ के अन्तर्मुहूर्त मात्र में पूर्ण शरीर पा लेते हैं, अतः उनका जन्म औपपातिक है। प्रस्तुत में औपपातिक जन्म का उल्लेख इसलिए है कि नारक जीव गर्भ काल के अभाव में तत्क्षण उत्पन्न होते ही नरक की भयंकर वेदनाओं को भोगने लगते हैं।

गाथा १६—'कलि' और 'कृत' जुए के दो प्रकार हैं। कलि हार का दाव है, और कृत जीत का। सूत्र कृतांग के अनुसार कलि—एकक, द्वापर—द्विक, त्रेता—त्रिक और कृत—चतुष्क के रूप में जुआ चार अक्षों से खेला जाता था। चारों पासे सीधे या औंधे एक से पड़ते हैं, वह कृत है। यह जीत का दाव है। एक, दो या तीन पड़ते हैं, सब नहीं, उन्हें क्रमशः कलि, द्वापर और त्रेता कहा जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् (४।१।४) में 'कृत' जीत का दाव है। महाभारत (सभापर्व—५२।१३) में सुप्रसिद्ध द्यूतविशेषज्ञ शकुनि को 'कृतहस्त' कहा है, जो सदैव कृत अर्थात् जीत का दाव खेलने में सिद्धहस्त था।

गाथा १८—चूर्णिकार ने 'वुसीमओ' के 'वुसीम' शब्द के तीन अर्थ किए है—इन्द्रियों को वश में रखने वाला, साधुगुणों में बसने वाला और संविग्न। 'वुसीम' का संस्कृत रूप वृषीमत् भी होता है, जिसका अर्थ होता है—वृषीवाला। अभिधान-चिन्तामणि (३।४८०) के अनुसार वृषी का अर्थ है—'मुनि का कुश आदि से निर्मित आसनविशेष। सूत्रकृतांग (२।२।३२) में श्रमणों के दण्ड, छत्र, भाण्ड तथा यष्टिका आदि उपकरणों में एक 'भिसिग' उपकरण भी उल्लिखित है। संभव है, वह वृषी—वृषिक ही हो।

अध्ययन ६

गाथा ७—'दोगुंछी' का चूर्णिकार ने 'जुगुप्सी' अर्थ किया है। उनके मतानुसार जुगुप्सा का अर्थ है—संयम। असंयम से जुगुप्सा अर्थात् विरक्ति ही संयम है। —'दुगुंछा—संजमो। किं दुगुंछति ? असंजमं।'

गाथा १७—'नायपुत्ते' का अर्थ 'ज्ञातपुत्र' है, जो भगवान् महावीर का ही एक नाम है। चूर्णि में इसका स्पष्टार्थ है—'ज्ञातकुल में प्रसूत सिद्धार्थ क्षत्रिय का पुत्र। 'णातकुलप्पसूते सिद्धत्थखत्तियपुत्ते।' यद्यपि आगम साहित्य में भगवान् महावीर का वंश इक्ष्वाकु और गोत्र काश्यप बताया है। वंश के रूप में 'ज्ञात' का उल्लेख नहीं है। अस्तु, लगता है, इक्ष्वाकु वंशी काश्यपगोत्रीय क्षत्रियों का ही ज्ञात भी एक अवान्तर शाखाविशेष हो। तत्कालीन वज्जी देश के शासक लिच्छवियों के नौ गण थे। 'ज्ञात' उन्हीं में का एक भेद है। यह गणराज्य से सम्बन्धित क्षत्रिय जाति थी।

कुछ विद्वानों की दृष्टि में 'ज्ञात' आज के विहार प्रदेश के 'भूमिहार' हैं। भूमिहार अपने को ब्राह्मण भी कहते है और क्षत्रिय भी। कुछ तो सीधा ही अपने को 'ब्राह्मण राजपूत' कह देते हैं।

भगवान् महावीर का विशाला अर्थात् वैशाली (उपनगर-कुण्डग्राम) में जन्म होने से उन्हें वेसालिय-वैशालिक कहा जाता है। यद्यपि चूर्णि एवं टीकाओं में, जिसके गुण विशाल हैं, जिसकी माता वैशाली है, जिसका कुल, प्रवचन एवं शासन विशाल है, वह वैशालिक है—ऐसा कहा गया है। परन्तु इतिहास के आलोक में 'वेसालिय' का सम्बन्ध वैशाली नगरी से है, यह स्पष्टतः प्रमाणित हो चुका है।

भगवान् महावीर की माता त्रिशला वैशाली गणराज्य के अधिपति चेटक की बहन थी, अतः चूर्णिकार ने '**वैशाली जननी यस्य**' ऐसा जो कहा है, संभव है, वह वैशाली की ओर ही संकेत हो।

अध्ययन ७

गाथा १—'जवस' का संस्कृतरूप यवस है। टीकाकार इसका अर्थ—मूंग, उरद आदि धान्य करते हैं। जबकि अभिधानचिन्तामणि (४।२६१) आदि शब्द-कोशों में यवस का अर्थ—तृण, घास, गेहूं आदि धान्य किया गया है।

गाथा १०—टीकाकारों ने आसुरीय दिशा के दो अर्थ किए हैं—एक तो जहाँ सूर्य न हो, वह दिशा। और दूसरा रौद्र कर्म करने वाले असुरों की दिशा। दोनों का ही फलितार्थ नरक है। ईशावास्य उपनिषद् में भी आत्महन्ता जनों को अन्धतमस् से आवृत असुर्य लोक में जाना बताया है—'**असुर्या नाम ते लोका, अन्धेन तमसावृताः।**'

गाथा ११—चूर्णि के अनुसार 'काकिणी' एक रूपक अर्थात् रुपये के अस्सीवें भाग का जितना क्षुद्र सिक्का है। बृहद् वृत्तिकार शान्त्याचार्य ने बीस कोड़ियों की एक काकिणी मानी है।

सहस्र से हजार 'कार्षापण' अभीष्ट हैं। कार्षापण प्राचीन युग में एक बहु-प्रचलित सिक्का था, जो सोना, चाँदी और ताँबा—तीनों धातुओं का होता था। सामान्यतः सोने का कार्षापण १६ माशा, चाँदी का ३२ रत्ती और ताँबे का ८० रत्ती जितना भार वाला होता था।

अध्ययन ८

गाथा १२—'प्रान्त' निम्न स्तर का नीरस भोजन है। उसके सम्बन्ध में दो बात हैं। गच्छवासी स्थविरकल्पी मुनि को यदि नीरस भोजन मिल जाए तो उसे फेंकना नहीं, खाना ही चाहिए। जिनकल्पी मुनि के लिए सदैव प्रान्त भोजन का ही विधान है।

गाथा १५—स्थानांग सूत्र में बोधि के तीन प्रकार बताए हैं—ज्ञानबोधि, दर्शनबोधि और चारित्र बोधि।

अध्ययन ६

गाथा ७—साधारण मकान गृह होता है, और सात या उससे अधिक मंजिलों का भवन प्रासाद कहलाता है। अथवा देवमन्दिर और राजभवन प्रासाद कहलाते है—"प्रासादेषु-सप्तभूम्यादिषु, गृहेषु सामान्यवेश्मसु। यद्वा प्रासादो देवतानरेन्द्राणमिति वचनात् प्रासादेषु देवतानरेन्द्रसम्बन्धिष्वास्पदेषु, गृहेषु तदितरेषु"—बृहद्वृत्ति।

गाथा ८—साध्य के अभाव मे जिसका अभाव निश्चित हो, उसे हेतु कहते हैं। उसका रूपाकार इस प्रकार है। जैसे कि इन्द्र कहता है—तुम्हारा अभिनिष्क्रमण अनुचित है, क्योंकि तुम्हारे अभिनिष्क्रमण के कारण समूचे नगर में हृदयद्रावक कोलाहल हो रहा है। पहला अंश प्रतिज्ञा वचन है, अतः वह पक्ष है। और दूसरा, क्योंकि वाला वचन हेतु है, जो अभिनिष्क्रमण के अनौचित्य को सिद्ध करता है।

जिसके अभाव में कार्य की उत्पत्ति कथमपि सम्भव न हो, अर्थात् जो नियत रूप से कार्य का पूर्ववर्ती हो, उसे कारण कहते हैं। जैसे धूमरूप कार्य का अग्नि पूर्ववर्ती कारण है। प्रस्तुत में इन्द्र ने जो यह कहा है कि 'यदि तुम अभिनिष्क्रमण नहीं करते, तो इतना हृदयद्रावक कोलाहल नही होता। इसमें कोलाहल कार्य है, अभिनिष्क्रमण उसका कारण है—"अनुचितमिदं भवतोऽभिनिष्क्रमणमिति प्रतिज्ञा, आक्रन्दादिदारुणशब्दहेतुत्वादिति हेतुः। आक्रन्दादिदारुणशब्दहेतुत्वं भवदभिनिष्क्रमणानुचितत्वं विनाऽनुपपन्नमित्येतावन्मात्रं कारणम्"—सुखबोधावृत्ति।

गाथा २४—'वर्धमान' वह घर होता है, जिसमें दक्षिण की ओर द्वार न हो। वर्धमान गृह धनप्रद एवं धनवर्द्धक भी माना जाता था। 'दक्षिणद्वाररहितं वर्धमानं धनप्रदम्'—वाल्मीक रामायण ५।८

गाथा ४२—मूल 'पोसह' शब्द के श्वेताम्बर साहित्य में 'पोषध' तथा 'प्रोषध' दोनों संस्कृत रूपान्तर हैं। दिगम्बर साहित्य में इसे 'प्रोषध' और बौद्ध साहित्य में 'उपोसथ' कहते हैं। बृहद्वृत्तिकार शान्त्याचार्य ने पोषध की व्युत्पत्ति की है—'धर्म के पोष अर्थात् पुष्टि को धारण करने वाला व्रतविशेष'—'पोषं धर्मपुष्टिं धत्ते।'

यह श्रावक का ग्यारहवाँ व्रत है। इसमें भगवतीसूत्र (१२।१) के अनुसार अशनादि चार आहार का, तथा मणि, सुवर्ण, माला, उबटन, विलेपन और शस्त्र प्रयोग का प्रत्याख्यान किया जाता है। ब्रह्मचर्य का पालन भी किया जाता है। भगवती (१२।१) के अनुसार शंखश्रावक के वर्णन पर से ज्ञात होता है कि अशन, पान आदि आहार का

त्याग किए बिना भी पोषध किया जाता था। स्थानांग सूत्र (४।३।३१४) के अनुसार पोषध की आराधना अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या—इन पर्व दिनों में की जाती है। स्थानांग (३।१।१५० तथा ४।३।३१४) में 'पौषधोपवास' और 'परिपूर्ण पोषध'—ये दो शब्द मिलते हैं। पोषध (पर्व दिन) में जो उपवास किया जाता है, वह 'पोषधोपवास' है। तथा पर्व तिथियों में पूरे दिन और रात तक आहार, शरीर संस्कार आदि का परित्याग कर ब्रह्मचर्यपूर्वक जो धर्माराधना की जाती है वह 'परिपूर्ण पोषध' है।

दिगम्बर परम्परा के वसुनन्दि श्रावकाचार (२८०-२९४) में उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से प्रोषध के तीन रूप बताए हैं। उत्तम प्रोषध में चतुर्विध आहार का तथा मध्य में जल को छोड़कर शेष त्रिविध आहार का त्याग होता है। आयंबिल (आचाम्ल), निर्विकृति, एक स्थान और एक भक्त को जघन्य प्रोषध कहते हैं।

बौद्ध परम्परा में अंगुत्तर निकाय (भा० १, पृ० २१२) के अनुसार प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी और पंचदशी (पूर्णिमा और अमावस्या) को उपोसथ होता है। उपोसथ में प्राणियो की हिंसा, चोरी, मैथुन और मृषावाद का त्याग होता है। रात्रि मे भोजन नहीं किया जाता। दिन में भी विकाल में एक बार ही भोजन होता है। माला, गन्ध आदि का उपयोग नहीं किया जाता है।

'उपोसथ' में 'उ' कार का लोप होने के बाद 'थ' को 'ह' हो जाने पर उच्चारणविज्ञान के अनुसार सहज ही प्राकृत का 'पोसहरूप' निष्पन्न हो सकता है।

प्रस्तुत में ब्राह्मणरूपधारी इन्द्र नमिराजर्षि से 'पोषध' करने की बात कहता है। अतः स्पष्ट होता है कि वह जैन परम्परा के 'पोषध' का प्रयोग नहीं बता रहा है। अवश्य ही वैदिक परम्परा में भी किसी न किसी रूप में 'पोषध' का प्रयोग उस युग में होता होगा। उत्तर में नमिराजर्षि ने इन्द्र-निर्दिष्ट उक्त तप को बालतप कहकर जो निषेध किया है, वह भी उक्त 'पोषध' को जैन परम्परा का सिद्ध नहीं करता है।

गाथा ४४—'कुसग्गेणं तु भुंजए' में आए कुशाग्र के दो अर्थ होते हैं। एक तो वही प्रसिद्ध अर्थ है कि जितना कुश के अग्रभाग पर टिके, उतना खाना, अधिक नहीं। सुखबोधा वृत्ति में दूसरा अर्थ है—कुश के अग्रभाग से ही खाना, अंगुली आदि से उठाकर नहीं—'कुशाग्रेणैव वर्णाग्रेणैव भुंक्ते, न तु करांगुल्यादिभिः।'

गाथा ६०—सूत्रकृतांग चूर्णि (पृ० ३६०) के अनुसार तीन शिखरों वाला मुकुट और चौरासी शिखरों वाला तिरीड अर्थात् किरीट होता है। वैसे सामान्यतया मुकुट और किरीट—दोनों पर्यायवाची माने जाते है।

अध्ययन १०

गाथा २७—चरक संहिता (३०।६८) के अनुसार 'अरति' का एक अर्थ पित्तरोग भी है। प्रस्तुत में शरीर के रोगों का ही वर्णन है, अतः यह अर्थ भी प्रकरण संगत लगता है।

गाथा ३५—'कलेवर' का अर्थ शरीर है। मुक्त आत्माएँ शरीररहित होने से अकलेवर हैं। अकलेवरत्व स्थिति को प्राप्त कराने वाली विशुद्ध भावश्रेणी को क्षपक श्रेणी कहते हैं। क्षपक अर्थात् कर्मों का मूल से क्षय करने वाली आन्तरिक विशुद्ध विचारश्रेणी अर्थात् भावविशुद्धि की धारा।

अध्ययन ११

गाथा २१—बृहद्वृत्ति के अनुसार वासुदेव के शंख का नाम पाञ्चजन्य, चक्र का सुदर्शन और गदा का नाम कौमोदकी है। लोहे के दण्डविशेष को गदा कहते हैं।

गाथा २२—जिसके राज्य के उत्तर दिगन्त में हिमवान् पर्वत और शेष तीन दिगन्तों में समुद्र हो, वह 'चातुरन्त' कहाता है।

चक्रवर्ती के १४ रत्न इस प्रकार हैं—(१) सेनापति, (२) गाथापति, (३) पुरोहित, (४) गज, (५) अश्व, (६) मनचाहा भवन का निर्माण करने वाला वर्द्धकि अर्थात् बढ़ई, (७) स्त्री, (८) चक्र, (९) छत्र, (१०) चर्म, (११) मणि, (१२) जिससे पर्वत शिलाओं पर लेख या मण्डल अंकित किए जाते है, वह काकिणी, (१३) खड्ग और (१४) दण्ड।

गाथा २३—इन्द्र के सहस्राक्ष और पुरन्दर नाम वैदिक पुराणों के कथानकों पर आधारित है। बृहद् वृत्तिकार ने 'पुरन्दर' के लिए तो लोकोक्ति शब्द का प्रयोग किया ही है। चूर्णि में सहस्राक्ष का प्रथम अर्थ किया है—'इन्द्र के पांच सौ देव मन्त्री होते हैं। राजा मन्त्री की आँखों से देखता है, अर्थात् उनकी दृष्टि से अपनी नीति निर्धारित करता है, इसलिए इन्द्र सहस्राक्ष है। दूसरा अर्थ अधिक अर्थसंगत है। जितना हजार आँखों से दीखता है, इन्द्र उससे अधिक अपनी दो आंखों से देख लेता है, इसलिए वह सहस्राक्ष है। **'जं सहस्सेण अक्खाणं दीसति, तं सो दोहिं अक्खीहिं अब्भहियतरागं पेक्खति'—चूर्णि।** उक्त अर्थ वैसे ही अलंकारिक है, जैसेकि चतुष्कर्ण अर्थात् चौकन्ना शब्द अधिक सावधान रहने के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

अध्ययन १२

गाथा १—सामान्यतः श्वपाक का अर्थ चाण्डाल लिया जाता है। किन्तु यह एक अत्यन्त निम्न श्रेणी की नीच जाति थी। चूर्णि के अनुसार इस जाति में कुत्ते का

मांस पकाया जाता था। 'श्वेन पचतीति श्वपाकः।' श्वपाक की तुलना वाल्मीकि रामायण (१।५९।१९-२१) में वर्णित मुष्टिक लोगों से होती है। ये श्वमांसभक्षी, मुर्दे के वस्त्रों का उपयोग करने वाले, बीभत्स आकार वाले एवं दुराचारी होते थे।

गाथा ११—यज्ञ का भोजन केवल ब्राह्मणों को ही दिया जाता है, ब्राह्मणेतर दूसरे लोगों को नहीं, इसलिए यज्ञीय अन्न को 'एकपाक्षिक' कहा गया है।

गाथा १८—उपज्योतिष्क का अर्थ है—अग्नि के समीप रहने वाला रसोइया।

चूर्णि में दण्ड और फल का अर्थ क्रमशः कोहनी का प्रहार तथा एड़ी का प्रहार किया है। यह शब्द ऐसे ही लगते हैं, जैसे आज कल किसी को लात और घूंसों से मारना।

गाथा २४—'वेयावडियं' की व्युत्पत्ति चूर्णिकार ने बड़ी ही महत्त्वपूर्ण की है। जिससे कर्मों का विदारण होता है, उसे 'वेयावडिय' कहते हैं—**'विदारयति वेदारयति वा कर्म वेदावडिता।'**

गाथा २७—'आशीविष' एक योगजन्य लब्धि अर्थात् विभूति है। आशीविष लब्धि के द्वारा साधक किसी का भी मनचाहा अनुग्रह और निग्रह करने में समर्थ हो जाता है। वैसे आशीविष सर्प को भी कहते हैं। मुनि को छेड़ना, आशीविष सर्प को छेड़ना है।

अध्ययन १३

गाथा १—धर्माचरण के बदले में भोग प्राप्ति के लिए किया जाने वाला संकल्प निदान है। यह आर्तध्यान का ही एक भेद है।

गाथा ६—चूर्णि और सर्वार्थ सिद्धि के अनुसार गंगा प्रतिवर्ष अपना मार्ग बदलती रहती है। जो पहले का मार्ग छोड़ देती है, उस चिरत्यक्त मार्ग को मृतगंगा कहते है।

अध्ययन १४

गाथा ८-९—मनुस्मृति (६।३७) कहती है—"जो ब्राह्मण वेदों को पढ़े बिना, पुत्रों को उत्पन्न किए बिना, और यज्ञ किए बिना मोक्ष चाहता है, वह अधोगति अर्थात् नरक में जाता है।"

—अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः॥

गाथा २१—अमोघ का शाब्दिक अर्थ व्यर्थ न होना है। जो चूकता नहीं है, वह अमोघ है। काल अमोघ है, जो किसी क्षण भी ठहरता नहीं है।'

केवल रात्रि ही अमोघ नहीं है। उपलक्षण से काल का हरक्षण अमोघ है।

अध्ययन १५

गाथा १—संस्तव के दो अर्थ हैं—स्तुति और परिचय। यहाँ परिचय अर्थ अभिप्रेत है। चूर्णि के अनुसार संस्तव के दो प्रकार हैं—संवास संस्तव और वचन संस्तव। असाधु जनों के साथ रहना 'संवास संस्तव' है, और उनके साथ आलाप संलाप करना 'वचनसंस्तव' है। साधक के लिए दोनों ही निषिद्ध हैं।

बृहद्वृत्ति में आगे के २१वें अध्ययन की २१वीं गाथा में आए संस्तव के दो प्रकार बताए हैं—पितृपक्ष का सम्बन्ध 'पूर्व संस्तव' और पश्चाद्भावी श्वशुरपक्ष एवं मित्रादि का सम्बन्ध 'पश्चात्संस्तव' है।

गाथा ७—यहाँ दश विद्याओं का उल्लेख है। उनमें दण्ड, वास्तु और स्वर से सम्बन्धित तीनों विद्याओं को छोड़कर शेष सात विद्याएँ निमित्त के अंगों मे परिगणित हैं। अंगविज्जा (१-२) के अनुसार अंग, स्वर, लक्षण, व्यंजन, स्वप्न, छिन्न, भौम और अन्तरिक्ष—ये अष्टांग निमित्त हैं। उत्तराध्ययन की उक्त गाथा में व्यंजन का उल्लेख नहीं है।

वस्त्र आदि में चूहे या कांटे आदि के द्वारा किए गए छेदों पर से शुभाशुभ का ज्ञान करना, छिन्न निमित्त है।

भूकम्प आदि के द्वारा, अथवा अकाल में होने वाले बेमौसमी पुष्प-फल आदि से शुभाशुभ का ज्ञान करना, भौम निमित्त है। भूमिगत धन एवं धातु आदि का ज्ञान करना भी 'भौम' है।

आकाश में होने वाले गन्धर्व नगर, दिग्दाह और धूलिवृष्टि आदि तथा ग्रहयोग आदि से शुभाशुभ का ज्ञान करना, अन्तरिक्ष निमित्त है।

स्वप्न पर से शुभाशुभ का ज्ञान करना स्वप्न निमित्त है।

शरीर के लक्षण तथा आँख फड़कना आदि अंगविकारों पर से शुभाशुभ का ज्ञान करना, क्रमशः लक्षणनिमित्त और अंग विकार निमित्त हैं।

दण्ड के गांठ आदि विभिन्न रूपों पर से शुभाशुभ का ज्ञान करना, दण्ड विद्या है।

मकानों के आगे-पीछे के विस्तार आदि लक्षणों पर से शुभाशुभ का ज्ञान करना, वास्तु-विद्या है।

षड्ज, ऋषभ आदि सात कण्ठ स्वरों पर से शुभाशुभ का ज्ञान करना, स्वर विद्या है।

उक्त विद्याओं के प्रयोग से भिक्षा प्राप्त करना, भिक्षा का 'उत्पादना' नामक एक दोष है।

गाथा ८—'धूमनेत्त' को 'धूमनेत्र' के रूप में एक संयुक्त शब्द माना है। जबकि टीकाकार धूम और नेत्र दो भिन्न शब्द मानते है। उनके मतानुसार धूम का अर्थ है—मनः शिला आदि धूप से शरीर को धूपित करना, और नेत्र का अर्थ है—नेत्रसंस्कारक अंजन आदि से नेत्र 'आंजना'। सुप्रसिद्ध विचारक मुनिश्री नथमल जी अपने संपादित दशवैकालिक और उत्तराध्ययन में धूमनेत्र का 'धुंए की नली से धुंआ लेना'—अर्थ करते है। उनके तर्क और उद्धरण द्रष्टव्य हैं।

स्नान से यहाँ वह स्नानविद्या अभिप्रेत है, जिसमें पुत्र प्राप्ति के लिए मन्त्र एवं औषधि से संस्कारित जल से स्नान कराया जाता है—**'स्नानम्—'अपत्यार्थं मंत्रौषधिसंस्कृतजलाभिषेचनम्'**—बृहद्वृत्ति।

गाथा ९—आवश्यकनियुंक्ति (गा० १९८) के अनुसार भगवान् ऋषभ देव ने चार वर्ग स्थापित किये थे[1]—(१) उग्र—आरक्षक, (२) भोग—गुरुस्थानीय, (३) राजन्य—समवयस्क या मित्र स्थानीय, (४) क्षत्रिय—अन्य शेष लोग। इस व्यवस्था से ध्वनित होता है कि कुछ लोगों को छोड़कर अधिकांश जन क्षत्रिय ही थे।

भोगिक का अर्थ सामन्त भी होता है। शान्त्याचार्य 'राजमान्य प्रधान पुरुष' अर्थ करते हैं। नेमिचन्द्र ने सुबोधा में 'विशिष्ट वेशभूषा का भोग करने वाले अमात्य आदि' अर्थ किया है।

'गण' से अभिप्रायः गणतन्त्र के लोगों से है। भगवान् महावीर के समय में लिच्छवि एवं शाक्य आदि अनेक शक्तिशाली गणतन्त्र राज्य थे। वृज्जी गणतन्त्र में ९ लिच्छवि और ९ मल्लकी—ये काशी-कौशल के १८ गण राज्य सम्मिलित थे। कल्पसूत्र में इन्हें 'गणरायाणो' लिखा है। अतएव बृहद्वृत्ति में भी उक्त शब्द की व्याख्या करते हुए शान्त्याचार्य लिखते हैं—**'गणाः मल्लादिसमूहाः**।

---

१. **"उग्गा भोगा रायण, खत्तिया संगहो भवे चउहा।
आरक्ख-गुरु-वयंसा, सेसा जे खत्तिया ते उ॥"**

गाथा १४—शान्त्याचार्य की दृष्टि में भयभैरव का अर्थ 'अत्यन्त भय उत्पन्न करने वाला' है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र की टीका में आकस्मिक भय को 'भय' और सिंह आदि से उत्पन्न होने वाले भय को 'भैरव' कहा है।

गाथा १५—बृहद्वृत्ति में 'खेद' का अर्थ संयम है, और 'खेदानुगता' का अर्थ संयमी है।

दूसरों का अपवाद न करने वाला अथवा किसी को बाधा न पहुंचाने वाला 'अविहेटक' होता है।

अध्ययन १६

सूत्र ३—ब्रह्मचर्य के लाभ में सन्देह होना 'शंका' है। अब्रह्मचर्य—मैथुन की इच्छा 'कांक्षा' है। अभिलाषा की तीव्रता होने पर चित्तविप्लव का होना, विचिकित्सा है। विचिकित्सा के तीव्र होने पर चारित्र का विनाश होना, 'भेद' है।

सूत्र ९—प्रणीत वह पुष्टिकारक भोजन है, जिससे घृत तथा तेल आदि की बूंदें टपकती हों। **'प्रणीतं—गलत्स्नेहं तैलघृतादिभिः'**—उत्तराध्ययन चूर्णि।

अध्ययन १७

गाथा १५—विकृति और रस दोनों समानार्थक हैं। विकृति के नौ प्रकार है—दूध, दही, नवनीत, घृत, तैल, गुड़, मधु, मद्य और मांस।

गाथा १७—पाषण्ड का अर्थ व्रत है। जो व्रतधारी है, वह पाषण्डी है। परपाषण्ड से यहाँ अभिप्रायः सौगत आदि अन्य मतो से है।

गाणंगणिक का अर्थ है—जल्दी-जल्दी गण बदलने वाला। जैन परम्परा की संघव्यवस्था है कि भिक्षु जिस गण (समुदाय) में दीक्षित हो, उसी में यावज्जीवन रहे। अध्ययन आदि विशिष्ट प्रयोजन से यदि गण बदले तो गुरु की आज्ञा से अपने सार्धर्मिक गणों में जा सकता है। परन्तु दूसरे गण में जाकर भी कम से कम छह महीने तक तो गण का पुनः परिवर्तन नहीं किया जा सकता। अतः जो मुनि बिना कारणविशेष के छह मास के भीतर ही गण परिवर्तन करता है, वह गाणंगणिक पापश्रमण है। **'गणाद् गणं षण्मासाभ्यन्तर एव संक्रामतीति गाणंगणिक इत्यागमिकी परिभाषा'**—बृहद्वृत्ति।

गाथा १९—सामुदानिक भिक्षा का अर्थ शान्त्याचार्य ने बृहद्वृत्ति में दो प्रकार से किया है—(१) अनेक घरों से लाई हुई भिक्षा, और (२) अज्ञात उञ्छ—अर्थात् अपरिचित घरों से थोड़ी-थोड़ी लाई हुई भिक्षा। **'बहुगृहसम्बन्धितं भिक्षासमूहम्-अज्ञातोञ्छमिति यावत्।'**

अध्ययन १८

गाथा २०—क्षत्रिय मुनि का अपना मूल नाम क्या था, और वे कहाँ के निवासी थे, ऐसा कुछ नहीं बताया गया है।

गाथा २३—प्राचीन युग में दार्शनिक विचारधारा के चार वाद थे—'क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद और विनयवाद।'

(१) क्रियावादी आत्मा के अस्तित्व को तो मानते थे, पर उसके सर्व-व्यापक या अव्यापक, कर्ता या अकर्ता, मूर्त या अमूर्त आदि स्वरूप के सम्बन्ध में संशयाकुल थे।

(२) अक्रियावादी आत्मा के अस्तित्व को ही नहीं मानते थे। अतः उनके यहाँ पुण्य, पाप, लोक, परलोक, संसार और मोक्ष आदि की कोई भी मान्यता नहीं थी। यह प्राचीन युग की नास्तिक परम्परा है।

(३) अज्ञानवादी अज्ञान से ही सिद्धि मानते थे। उनके मत में ज्ञान ही सारे पापो का मूल है। द्वन्द्व ज्ञान मे से ही खड़े होते है। ज्ञान के सर्वथा उच्छेद में ही उनके यहां मुक्ति है।

(४) विनयवादी एकमात्र विनय से ही मुक्ति मानते थे। उनके विचार में देव, दानव, राजा, रंक, तपस्वी, भोगी, हाथी, घोड़ा, गाय, भैंस, शृगाल आदि हर किसी मानव एवं पशु-पक्षी आदि को श्रद्धापूर्वक नमस्कार करने से ही क्लेशो का नाश होता है। अहंकारमुक्ति का यह एक विचित्र धार्मिक अभियान था।

क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियो के ८४, अज्ञानवादियों के ६८ और विनयवादियों के ३२ भेद थे। इस प्रकार कुल मिला कर ३६३ पाषण्ड थे।

गाथा २८—महाप्राण, ब्रह्मलोक नामक पाँचवें देवलोक का एक विमान है।

क्षत्रिय मुनि के कहे हुए 'दिव्यवर्षशतोपम' का यह अभिप्राय है कि जैसे मनुष्य यहाँ वर्तमान में लोकदृष्टि से सौ वर्ष की पूर्ण आयु भोगता है, वैसे ही मैंने वहाँ देवलोक में दिव्य सौ वर्ष की आयु का भोग किया है। इसकी वैदिक पुराणों के ब्रह्मा के दीर्घकालिक वर्ष आदि से तुलना की जा सकती है।

'पाली' से पल्योपम और 'महापाली' से सागरोपम अर्थ अभीष्ट है। 'पाली' साधारण जलाशय से उपमित है, और 'महापाली' सागर से।

एक योजन के ऊँचे और विस्तृत पल्य (बोरा आदि या कूप) को सात दिन के जन्म लिए बालक के केशाग्रों से ठसाठस भर दिया जाए, अनन्तर सौ-सौ वर्ष के

बाद क्रम से एक-एक केशखण्ड को निकाला जाए। जितने काल में वह पल्य अर्थात् कूप रिक्त हो, उतने काल को एक पल्य कहते हैं। इस प्रकार के दस कोडाकोडी पल्यों का एक सागर होता है। सागर अर्थात् समुद्र के जलकणों जितना विराट लम्बा कालचक्र। यह एक उपमा है, अतः उसे पल्योपम और सागरोपम भी कहते हैं।

गाथा ५१—'सिरसा सिरं'[1] का अर्थ है—शिर देकर शिर लेना। अर्थात् जीवन की कामना से निरपेक्ष रहकर मानवशरीर में सर्वोपरिस्थ शिर के समान सर्वो-परिवर्ती मोक्ष को प्राप्त करना।[1] 'सिरं' के स्थान में 'सिरिं' पाठ भी मिलता है, जिसका अर्थ 'श्री' होता है। 'श्री' अर्थात् भावश्री—संयम, सिद्धि।

अध्ययन १९

गाथा २—मृगापुत्र का मूल नाम बलश्री था। माता मृगा का पुत्र होने के नाते उसे मृगापुत्र भी कहते थे। प्राचीन युग में बहुविवाह की प्रथा होने के कारण पुत्रों के नाम पहचानने की दृष्टि से माता के नाम पर प्रचलित हो जाते थे, जैसे कि पृथा का पुत्र पार्थ, सुभद्रा का सौभद्रेय, द्रौपदी का द्रौपदेय, आदि।

गाथा ३—त्रायस्त्रिंश जाति के देवों को 'दोगुन्दुग' कहते है। ये जैन और बौद्ध परम्परा में बड़े ही महत्त्व के देव माने गए हैं। शान्त्याचार्य ने पुराने आचार्यों का उद्धरण देते हुए उन्हें सदा भोगपरायण कहा है। **'तथा च वृद्धा-'त्रायस्त्रिंशा देवा नित्यं भोगपरायणा दोगुन्दुगा इति भणंति।'**

गाथा ४—चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त आदि मणि कहलाते हैं, और शेष गोमेदक आदि रत्न।

गाथा १४—अत्यन्त बाधा उत्पन्न करने वाले कुष्ठ आदि रोग व्याधि कहे जाते हैं। और इनसे भिन्न ज्वर आदि रोग हैं। **"व्याधयः—अतीव बाधाहेतवः कुष्ठादयो, रोगा ज्वरादयः'**—बृहद्वृत्ति।

गाथा १७—**'किम्पाक'** एक बिष वृक्ष होता है। उसके फल खाने में सुस्वादु होते हैं, किन्तु परिपाक में भयंकर कटु अर्थात् प्राणघातक। किंपाक का शब्दार्थ ही है—'किम्' अर्थात् कुत्सित-बुरा 'पाक' अर्थात् विपाक-परिणाम है जिसका।

गाथा ३६—सामान्यतया जैन मुनियों की भिक्षा के लिए गोचर (गोचरी) शब्द का प्रयोग होता है। यहाँ कापोती वृत्ति का उल्लेख है। कबूतर सशंक भाव से

---

१. **शिरसा शिरःप्रदानेनेव जीवितनिरपेक्षमिति।'''''''सिरं ति शिर इव शिरः सर्वजगदुपरिवर्तितया मोक्षः'**—बृहद्वृत्ति।

२. **'शिरसा मस्तकेन 'अस्यावरव्यापकमेतत्, श्रियं भावश्रियं संयमरूपां तृतीयभवे परिनिवृ'त इति"**—सर्वार्थसिद्धि वृत्ति।

बड़ी सतर्कता के साथ एक-एक दाना चुगता है, इसी प्रकार एषणा के दोषों की शंका को ध्यान में रखते हुए भिक्षु भी थोड़ा-से-थोड़ा आहार अनेक घरों से ग्रहण करता है। महाभारत के शान्ति पर्व (२४३-२४) में भी कापोती वृत्ति का उल्लेख है।

गाथा ४६—संसार रूपी अटवी के नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव—ये चार अन्त होते हैं, अतः आगमों में संसार को 'चाउरंत' कहा गया है।

गाथा ४९—आगमानुसार नरक और स्वर्ग में बादर अग्नि के जीव नहीं होते है। प्रस्तुत में जो हुताशन—अग्नि का उल्लेख है, वह अग्नि जैसे जलते हुए प्रकाशमान अचित्त पुद्गलों के लिए है। अतएव बृहद्वृत्तिकार ने लिखा है—**'तत्र च बादराग्नेरभावात् पृथिव्या एव तथाविधः स्पर्श इति गम्यते।'**

गाथा ५४—'कोलसुणएहिं' में 'कोलशुनक' शब्द को एक मानकर शान्त्याचार्य ने उसका अर्थ शूकर किया है। किन्तु 'कोल' शब्द अकेला ही शूकर का वाचक है। अतः आगे के 'शुनक' शब्द का शब्दानुसारी 'कुत्ता' अर्थ क्यों न लिया जाए।

अध्ययन २०

गाथा ७—प्राचीन युग में सर्वप्रथम देव एवं पूज्य गुरुजनों को उनके चारों ओर घूमकर प्रदक्षिणा की जाती थी। दाहिनी ओर से घूमना शुरू करते थे, जैसाकि कहा है—**'आयाहिणं पयाहिणं करेइ।'** प्रदक्षिणा के अनन्तर वन्दन किया जाता है। प्रस्तुत मे वन्दन पहले है, प्रदक्षिणा बाद मे है। सम्भव है, यह अन्तर छन्द रचना की विवशता के कारण केवल गाथा के शब्दों मे ही हो, विधि में नहीं। वैसे शान्त्याचार्य ने समाधान किया है कि पूज्य आत्माओं को देखते ही उन्हें प्रणाम करना आवश्यक है। इसलिए यहाँ प्रदक्षिणा का उल्लेख बाद में है।

गाथा ९—बृहद्वृत्ति के अनुसार नाथ का अर्थ 'योगक्षेमविधाता' है। अप्राप्त की प्राप्ति योग है, और प्राप्त का संरक्षण क्षेम है।

गाथा २२—शान्त्याचार्य ने 'सत्थकुसल' के दो संस्कृत रूपान्तर किए हैं—शास्त्रकुशल (आयुर्वेद शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान) और शस्त्रकुशल (शल्यक्रिया अर्थात् दूषित अंगों की चीर-फाड़ आदि क्रिया में निपुण)।

गाथा २३—चतुष्पाद चिकित्सा का उल्लेख स्थानांग सूत्र में भी आता है। **'चउव्विहा तिगिच्छा पन्नत्ता, तंजहा-विज्जो, ओसधाइं, आउरे, परिचारते।'**

अध्ययन २१

गाथा २—"भगवान महावीर के उपासक श्रावक भी व्यापार के लिए सुदूर द्वीपों की समुद्रयात्रा करते थे।"—यह प्रस्तुत गाथा पर से स्पष्टतः सूचित होता है। इतना ही नहीं, विदेशी कन्याओं से विवाहसम्बन्ध भी उस समय निषिद्ध नहीं था।

पालित निर्ग्रन्थ प्रवचन का कोविद ही नहीं, विकोविद था, अर्थात् विशिष्ट विद्वान् था।

अध्ययन २२

गाथा ५—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति (पत्र ४१०-११) मे बताया है कि "शरीर के साथ उत्पन्न होने वाले छत्र, चक्र, अकुश आदि रेखाजन्य चिह्न लक्षण कहे जाते है। साधारण मनुष्यों के शरीर में ३२, बलदेव-वासुदेव के १०८ और चक्रवर्ती तथा तीर्थंकर के १००८ लक्षण होते है।" आजकल गुरुजनों के नाम से पूर्व १०८ या १००८ श्री का प्रयोग इन्हीं लक्षणों का सूचक है।

गाथा ६—शरीर के सन्धिअंगों की दोनों हड्डियां परस्पर आंटी लगाए हुए हों, उन पर तीसरी हड्डी का वेष्टन—लपेट हो, और चौथी हड्डी की कील उन तीनों को भेद रही हो, इस प्रकार का वज्र जैसा सुदृढ़ अस्थिबन्धन 'वज्र-ऋषभ-नाराच' संहनन है।

पालथी मार कर बैठने पर जिस व्यक्ति के चारों कोण सम हों, वह 'सम-चतुरस्र' नामक सर्वश्रेष्ठ संस्थान है।

गाथा ८९—प्राचीनकाल में अन्तरीय—नीचे पहनने के लिए धोती और उत्तरीय—ऊपर ओढ़ने के लिए चादर, ये दो ही वस्त्र पहने जाते थे। 'दिव्य युगल' उसी का संकेत है।

गाथा १०—गन्धहस्ती सब हाथियों में श्रेष्ठ होता है। इसकी गन्ध से अन्य हाथी हतप्रभ—निर्वीर्य हो जाते हैं, भयभीत होकर भाग खड़े होते हैं।

गाथा ११—समुद्रविजय, अक्षोभ्य, वसुदेव आदि दस भाई थे। उनके समूह को 'दसार चक्र' कहते थे। दसार के 'दसार' और 'दशार्ह'—दोनों रूप मिलते हैं।

गाथा १३—अन्धक और वृष्णि दो भाई थे। वृष्णि अरिष्ट नेमि के पितामह अर्थात् दादा होते थे। इनसे 'वृष्णिकुल' का प्रवर्तन हुआ। दशवैकालिक आदि के अनुसार दोनों भाइयों के नाम से 'अन्धक वृष्णिकुल' भी प्रसिद्ध था।

गाथा ४३—भोजराज उग्रसेन का ही दूसरा नाम है। कीर्तिराज (वि० १४९५ पूर्ववर्ती) ने भी अपने नेमिचरित मे उग्रसेन को भोजराज और राजीमती को भोजपुत्री तथा भोजराजपुत्री कहा है। कुछ प्रतियो में 'भोगराज' पाठ भी है, जो संगत नही प्रतीत होता।

अध्ययन २३

गाथा २—केशी कुमारश्रमण थे। अविवाहित ही श्रमण हो गए थे। शान्त्याचार्य बृहद्वृत्ति मे कुमारश्रमण का यही अर्थ करते हैं। **"कुमारश्चासा-वपरिणीततया श्रमणश्च।"**

गाथा १२—जैन परम्परा के अनुसार प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभ देव ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप पाँच महाव्रतो का उपदेश दिया था। दूसरे अजित जिन से लेकर तेईसवें पार्श्व जिन तक चातुर्याम धर्म का उपदेश रहा। इसमे ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को 'बहिद्धादाणाओ वेरमणं'—बहिस्ताद् आदान विरमण (बाह्य वस्तुओ के ग्रहण का त्याग) मे समाहित कर दिया गया था। अजित जिन ने ऋषभदेव से समागत पाँच महाव्रतो को इस प्रकार चतुर्याम मे क्यो परिवर्तित किया, यह अभी ऐतिहासिक मीमासा से ठीक तरह स्पष्ट नही हो पाया है। इतिहास की आंखो मे अभी यह पार्श्व परम्परा ही देखी गई है। प्रस्तुत अध्ययन मे पार्श्व के चार महाव्रतो को 'याम' शब्द से और वर्धमान महावीर के पाँच महाव्रतो को 'शिक्षा' शब्द से सूचित किया है। यह भी एक रहस्य है।

भगवान् पार्श्व नाथ ने मैथुन को परिग्रह के अन्तर्गत माना था। स्त्री को परिगृहीत किए बिना मैथुन कैसे होगा?[1] इसीलिए पत्नी के लिए 'परिग्रह' शब्द भी प्रचलित रहा है। यह एक नैतिक आदर्श की पवित्र धारणा है। इस दृष्टि से पार्श्व जिन ने भिक्षु के लिए ब्रह्मचर्य को अलग से स्थान नही दिया। वह सामान्यतः अपरिग्रह मे ही अन्तर्भुक्त कर दिया गया था।

लगता है, पार्श्वजिन के बाद कुछ कुतर्क खड़े हुए होगे कि स्त्री को विवाह के रूप मे परिगृहीत किए बिना भी उसकी प्रार्थना पर यदि समागम किया जाए तो क्या हानि है? अपरिगृहीता के समागम का तो कोई निषेध नहीं है? सूत्र कृतांग (१, ३, ४,१०, ११, १२) मे ऐसे ही कुछ तर्कों का उल्लेख मिलता है। इन्हें सूत्रकृतांग मे पार्श्वस्थ बताया गया है। वृत्तिकार ने उन्हें स्वयूथिक भी कहा है। श्रमण भगवान्

---

१. नो अपरिग्गहियाए इत्थीए जेण होई परिभोगो।
ता तव्विरई इक्कअ अबंभविरइ त्ति पन्नाणं॥

—कल्पसमर्थनम् गा० १५

महावीर ने ब्रह्मचर्य को महाव्रत के रूप में अलग से स्थान देकर प्रचलित मिथ्या भ्रमों एवं कुतर्कों का निराकरण किया। इसीलिए उन्हें सूत्रकृतांग (१।६।२८) में 'से वारिया इत्थिसराइभत्तं'—अर्थात् स्त्री और रात्रिभोजन का निवारण करने वाला कहा है। काल की बदलती परिस्थिति मे ऐसा करना आवश्यक हो गया था। अतः गणधर गौतम इसके लिए अपने युग को जड़ और वक्र कहकर समाधान प्रस्तुत करते हैं। इसका अर्थ यह है कि जडता तथा वक्रता के जीवन मे ही क्रियाकाण्ड के नियमों तथा तत्सम्बन्धी व्याख्याओं का विस्तार होता है, सरल और प्राज्ञ जीवन में नहीं।

गाथा १३—'**अचेल**' के दो अर्थ है—बिल्कुल ही वस्त्र न रखना, अथवा अल्प मूल्य वाले साधारण श्वेत वस्त्र रखना। 'अ' का अभाव अर्थ भी है, और अल्प भी। जैसे कि अनुदरा कन्या के प्रयोग में '**अनुदरा**' का अर्थ 'बिना पेट की कन्या' नहीं; अपितु अल्प अर्थात् कृश उदर वाली कन्या है। विष्णुपुराण में भी जैन मुनियों के निर्वस्त्र और सवस्त्र—दोनो ही रूपों का उल्लेख है—'**दिग्वाससामयं धर्मो, धर्मोऽयं बहुवाससाम्**'—अंश ३, अध्याय १८, श्लोक १०.

'**सान्तरोत्तर**' मे सान्तर और उत्तर—ये दो शब्द हैं। बृहद्वृत्तिकार शान्त्याचार्य सान्तर और उत्तर का क्रमशः वर्ण आदि से विशिष्ट सुन्दर और बहुमूल्य अर्थ करते हैं। ओघनिर्युक्ति-वृत्ति, कल्प सूत्रचूर्णि और धर्म संग्रह आदि के अनुसार बाल, वृद्ध, ग्लान आदि के निमित्त भिक्षा के लिए वर्षा होते रहने पर भी भिक्षु को बाहर जाना होता है, तब अन्दर में सूती वस्त्र और ऊपर मे वर्षाकल्प ऊनी वस्त्र—कम्बल आदि ओढ़कर जाना चाहिए, यह अर्थ होता है। प्रस्तुत मे अचेल-सचेल की चर्चा है, अतः 'सान्तरोत्तर' का शब्दानुसारी प्रतिध्वनित अर्थ '**अन्तरीय**'—अधोवस्त्र और '**उत्तरीय**' ऊपर का वस्त्र भी लिया जा सकता है।

गाथा १७—प्रवचनसारोद्धार (गा० ६७५) के अनुसार तृणों के पाँच प्रकार है—(१) शाली—कमलशाली आदि विशिष्ट चावलों का पलाल, (२) व्रीहिक—साठी चावल आदि का पलाल, (३) कोद्रव—कोदो धान्य का पलाल, (४) रालक—कंगु अर्थात् कांगणी का पलाल, और (५) अरण्य तृण—श्यामाक अर्थात् समा चावल आदि का पलाल। उत्तराध्ययन में पांचवा 'कुश' को गिना है।

गाथा ८९—उक्त अन्तिम गाथा के उत्तरार्ध का अधिकतर टीकाकार यह अर्थ करते है कि 'परिषद् के द्वारा स्तुति किए गए भगवान् केशी और गौतम प्रसन्न हों।' लगता है, यह अर्थ अध्ययन के रचनाकार की दृष्टि से है। यह संभव भी है।

अध्ययन २४

गाथा ३—यहाँ पाँच समिति और तीनगुप्ति—इन आठों को ही समिति कहा है। प्रश्न है, ऐसा क्यो ? शात्याचार्य ने समाधान प्रस्तुत किया है कि गुप्तियाँ प्रवीचार और अप्रवीचार दोनों रूप होती हैं, अर्थात् एकान्त निवृत्तिरूप ही नहीं, प्रवृत्तिरूप भी होती हैं, अत: प्रवृत्ति अंश की अपेक्षा से उन्हें भी समिति कह दिया है। समिति में नियमत: गुप्ति होती है, क्योकि उसमें शुभ में प्रवृत्ति के साथ जो अशुभ से निवृत्तिरूप अंश हैं, वह नियमत: गुप्ति का अंश ही है। गुप्ति में प्रवृत्तिप्रधान समिति की भजना है।

अध्ययन २५

गाथा १६—पूछे गए चार प्रश्नो के उत्तर इस प्रकार हैं—

(१) वेदों का मुख अर्थात् सारभूत प्रतिपाद्य अग्निहोत्र है। अग्निहोत्र का हवन आदि प्रचलित अर्थ विजयघोष को ज्ञात ही था। किन्तु विजय घोष, जय घोष मुनि से मालूम करना चाहता था कि उनके अभिमत में अग्निहोत्र क्या है ? मुनि का अग्निहोत्र एक अध्यात्म भाव है, जिसमें तप, संयम, स्वाध्याय, धृति, सत्य और अहिंसा आदि का समावेश होता है। यह भाव अग्निहोत्र ही जयघोषमुनि ने विजयघोष को समझाया है। इसी अग्निहोत्र में मन के विकार स्वाहा होते हैं।

(२) दूसरा प्रश्न है—यज्ञ का मुख—उपाय (प्रवृत्तिहेतु) क्या है ? उत्तर में यज्ञ का मुख अर्थात् उपाय यज्ञार्थी बताया गया है। यह भी अपनी परम्परा के प्रचलित अर्थ में विजय घोष जानता ही था। मुनि ने आत्मयज्ञ के सन्दर्भ में अपने बहिर्मुख इन्द्रिय और मन को असंयम से हटाकर संयम में केन्द्रित करने वाले आत्मसाधक को ही सच्चा यज्ञार्थी (याजक) बताया है।

(३) तीसरा प्रश्न कालज्ञान से सम्बन्धित है। स्वाध्याय आदि समयोचित कर्तव्य के लिए काल का ज्ञान श्रमण और ब्राह्मण दोनों ही परम्पराओं के लिए आवश्यक था। और वह ज्ञान स्पष्टत: नक्षत्रों से होता था। चन्द्र की हानि-वृद्धि से तिथियों का बोध अच्छी तरह हो जाता था। अत: मुनि ने ठीक ही उत्तर दिया है कि नक्षत्रों में मुख्य चन्द्रमा है। इस उत्तर की तुलना गीता (१०।२१) से की जा सकती है—'नक्षत्राणामहं शशी।'

(४) चौथा प्रश्न था धर्मों का मुख अर्थात् उपाय (आदि कारण) क्या है ? धर्म का प्रकाश किससे हुआ ? उत्तर में जयघोष मुनि ने कहा है—धर्मों का मुख (आदिकारण) काश्यप है। वर्तमान कालचक्र में आदि काश्यप ऋषभदेव ही धर्म के आदि प्ररूपक, आदि उपदेष्टा हैं। भगवान् ऋषभदेव ने वार्षिक तप का पारणा काश्य

अर्थात् इक्षु रस से किया था, अतः वे काश्यप नाम से प्रसिद्ध हुए। आगे चलकर यह उनका गोत्र ही हो गया। स्थानांग सूत्र में बताये गए गौतम, वत्स, कौशिक आदि सात गोत्रों में 'काश्यप' पहला गोत्र है। भागवत (पंचम स्कन्ध) आदि वैदिक पुराणों तथा कुछ वेदमंत्रों से भी भगवान् ऋषभदेव की आदिमहत्ता प्रकट होती है। सूत्र-कृतांग (१।२।३।२.) में तो स्पष्ट ही कहा है कि सब तीर्थंकर काश्यप के द्वारा प्ररूपित धर्म का ही अनुसरण करते रहे हैं—**'कासवस्स अणुधम्मचारिणो।'**

अध्ययन २६

गाथा १३-१६—**'पौरुषी'** शब्द का निर्माण पुरुष शब्द से है। पुरुष से जिस काल का माप हो, वह पौरुषी है, अर्थात् प्रहर। पुरुष शब्द के दो अर्थ हैं—पुरुष शरीर और शंकु। शंकु २४ अंगुल प्रमाण होता है। पैर से जानु (घुटने) तक का प्रमाण भी २४ अंगुल ही होता है। जिस दिन किसी भी वस्तु की छाया वस्तु के प्रमाण के अनुसार होती है, वह दिन दक्षिणायन का प्रथम दिन होता है। युग के प्रथम वर्ष (सूर्य वर्ष) के श्रावण कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा को शंकु एवं जानु की छाया अपने ही प्रमाण के अनुसार २४ अंगुल पड़ती है। १२ अंगुल का एक पाद-पैर होने से शंकु एवं जानु की २४ अंगुल छाया को दो पाद माना है।

एक वर्ष में दो अयन होते हैं—दक्षिणायन और उत्तरायण। दक्षिणायन श्रावण मास में प्रारम्भ होता है और उत्तरायण माघ मास में। दक्षिणायन में छाया बढ़ती है, और उत्तरायण में कम होती है।

पौरुषी छाया का प्रमाण—

समय		पाद-अंगुल
आषाढ पूर्णिमा		२—०
श्रावण	,,	२—४
भाद्रपद	,,	२—८
आश्विन	,,	३—०
कार्तिक	,,	३—४
मृगशिर	,,	३—८
पौष	,,	४—०
माघ	,,	३—८
फाल्गुन	,,	३—४
चैत्र	,,	३—०
वैशाख	,,	२—८
ज्येष्ठ	,,	२—४

पादोन पुरुषी—पौन पौरुषी का छाया प्रमाण

समय	पाद-अंगुल
आषाढ़ पूर्णिमा	२–६
श्रावण ,,	२–१०
भाद्रपद ,,	३–४
आश्विन ,,	३–८
कार्तिक ,,	४–०
मार्गशीर्ष ,,	४–६
पौष ,,	४–१०
माघ ,,	४–६
फाल्गुन ,,	४–०
चैत्र ,,	३–८
वैशाख ,,	३–४
ज्येष्ठ ,,	२–१०

गाथा १६-२०—रात्रि के चार भाग होते हैं—(१) प्रादोषिक अर्थात् रात्रि का मुख भाग, (२) अर्धरात्रिक, (३) वैरात्रिक और प्राभातिक। प्रादोषिक और प्राभातिक इन दो प्रहरों में स्वाध्याय किया जाता है। अर्धरात्रि में ध्यान और वैरात्रिक में शयनक्रिया—निद्रा।

अध्ययन २७

गाथा १—'गणधर' शब्द के प्रमुख अर्थ दो होते हैं—(१) तीर्थंकर भगवान् के प्रमुख शिष्य, जैसे कि भगवान् महावीर के गौतम आदि गणधर। (२) अनुपम ज्ञान आदि गुणों के धारक आचार्य। प्रस्तुत में दूसरा अर्थ ही अभीष्ट है।

कर्मोदय से अथवा शिष्यों द्वारा तोड़ी गई ज्ञानादिरूप भावसमाधि का पुनः अपने आप में जोड़ना, प्रतिसन्धान है।

अध्ययन २८

गाथा १—मोक्ष का मार्ग (उपाय, साधन, कारण) ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप है। उनसे सिद्धि गमन रूप जो गति है, वह मोक्ष मार्ग गति है।

गाथा २—प्रस्तुत में ज्ञान को पहले रखा है, दर्शन को बाद में। लगता है, यह व्यवहार में अध्ययन, जानकारी आदि से सम्बन्धित ज्ञान है, जो सम्यग् दर्शन से पूर्व

निश्चय में अज्ञान ही रहता है। सम्यग् दर्शन होने पर ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है। इसीलिए प्रस्तुत अध्ययन के उपसंहार (गा० ३०) में 'नादंसणिस्स नाणं' कहा है।

यहाँ दर्शन से सम्यग्दर्शन अभिप्रेत है, सामान्य बोधरूप चक्षु-अचक्षु आदि दर्शन नहीं। तप भी चारित्र का ही एक रूप है। पृथक् उपादान कर्मक्षपण के प्रति असाधारण हेतुता को लेकर किया है। उपसंहार (गा० ३०) में इसीलिए चरणगुण कहा है, तप का पृथक् उल्लेख नहीं किया है। आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र में भी 'सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्ष मार्ग :'—सूत्र ही उपनिबद्ध है।

सम्यग् ज्ञान आदि तीनों या चारों में समुदित रूप से मोक्ष की कारणता है, पृथक्-पृथक् कारणता नहीं है। अतः 'एय मग्गमणुपत्ता' में मार्ग के लिए एक वचन प्रयुक्त है।

गाथा ४—प्रस्तुत में श्रुत ज्ञान का पहले उल्लेख है। टीकाकारों की दृष्टि में यह इसलिए है कि मति आदि अन्य सभी ज्ञानों का स्वरूपज्ञान श्रुतज्ञान से होता है। अतः व्यवहार में श्रुत की प्रधानता है।

यहाँ श्रुत से अक्षररूप द्रव्यश्रुत का ग्रहण नहीं है। ज्ञान का निरूपण होने से भावश्रुत ही ग्राह्य है।

'आभिनिबोधिक' मति ज्ञान का ही दूसरा नाम है। इन्द्रिय और मन का अपने-अपने शब्दादि विषयों का बोध अभिमुखतारूप से नियत होने के कारण इसे आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं।

मति और श्रुत अन्योऽन्याश्रित है। नन्दी सूत्र में कहा है—जहाँ मति है वहाँ श्रुत है और जहाँ श्रुत है वहाँ मति है। वैसे श्रुत मतिपूर्वक ही होता है।

मति में पाँच इन्द्रिय और छठा मन निमित्त है, जबकि श्रुत में मन ही निमित्त होता है—'श्रुतमनिन्द्रियस्य'—तत्त्वार्थ सूत्र, २-२१।

'अवधि ज्ञान' अव अर्थात् अधोऽधः (नीचे की ओर) अधिक विस्तृत होता है, अतः वह शब्दव्युत्पत्ति से अवधि कहलाता है। 'अव' मर्यादा अर्थ में भी है। इसके मुख्यरूप से भवप्रत्ययिक (जो देव, नारकों को जन्म से ही भवनिमित्तक होता है) और क्षायोपशमिक (मनुष्य और तिर्यञ्चों को जो वर्तमानजन्मकालीन साधना के निमित्त से होता है) ये दो भेद हैं। अन्तरंग में अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम दोनों में अपेक्षित है।

प्रस्तुत में 'मननाणं' में के मन से मनोद्रव्य के पर्याय अपेक्षित हैं। मनोद्रव्य के पर्यायरूप विचित्र परिणमनों का ज्ञान मनः पर्याय ज्ञान है।

केवल का अर्थ एक है, पूर्ण है। अतः जो पूर्ण अनन्त ज्ञान है वह केवल ज्ञान है।

अवधि, मनः पर्याय और केवल ज्ञान ज्ञेय और ज्ञान के बीच में इन्द्रिय आदि के निमित्त (माध्यम) के बिना सीधे आत्मा से होते हैं, अतः यह प्रत्यक्ष ज्ञान हैं, जबकि मति और श्रुत इन्द्रियादि के निमित्त से होने के कारण परोक्ष हैं। अवधि, मनः पर्याय विकल—अपूर्ण प्रत्यक्ष हैं, और केवल ज्ञान सकल—पूर्ण प्रत्यक्ष है।

गाथा ६—गुणों का आश्रय—आधार द्रव्य है। जीव में ज्ञानादि अनन्त गुण हैं। अजीव पुद्गल में रूप, रस आदि अनन्त गुण हैं। धर्मास्तिकाय आदि में भी गतिहेतुता आदि अनन्त गुण हैं। द्रव्य का लक्षण सत् है। सत् का लक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य है। पर्याय दृष्टि से द्रव्य प्रतिक्षण उत्पन्न विनष्ट होता रहता है, और ध्रौव्यत्व गुण की दृष्टि से वह मूल स्वरूपतः त्रिकालाव-स्थायी है, शाश्वत है।

एक द्रव्य के आश्रित गुण होते हैं। अर्थात् जो द्रव्य के सम्पूर्ण भागों में और उसकी सम्पूर्ण अवस्थाओ में अनादि अनन्त रूप से सदा काल रहते हैं, वे गुण हैं। द्रव्य कभी निर्गुण नहीं होता। गुण स्वयं निर्गुण होते हैं। अर्थात् गुणों में अन्य गुण नही होते।

गुणों के दो भेद है। अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि सामान्य गुण हैं, जो सामान्य रूप से प्रत्येक जीव-अजीव द्रव्यों में पाये जाते हैं। जीव में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख आदि विशेष गुण है, जो अजीव द्रव्य में नहीं होते। पुद् गल अजीव में रूप, रस गन्ध आदि विशेष गुण हैं, जो जीव द्रव्य में नहीं होते। प्रतिनियत गुण विशेष होते हैं।

परिणमन अर्थात्, परिवर्तन को पर्याय कहते हैं। पर्याय द्रव्य और गुण दोनों में आश्रित है, अर्थात् होती है। गुणों में भी नव पुराणादि पर्याय प्रत्यक्षतः प्रतीयमान हैं। '**गुणेष्वपि नव-पुराणादि पर्यायाः प्रत्यक्षप्रतीता एवं—सर्वार्थ सिद्धिवृत्ति** ।

सहभावी गुण होते हैं, और क्रमभावी पर्याय। एक समय में एक गुण की एक पर्याय ही होती है। एक साथ अनेक पर्याय कभी नहीं होतीं। वैसे अनन्त गुणों की दृष्टि से एक-एक पर्याय मिलकर एक साथ अनन्त पर्याय हो सकती हैं। क्रमभाविता एक गुण की अपेक्षा से है। पर्याय के मुख्यरूप से दो भेद हैं—व्यंजन पर्याय (द्रव्य के प्रदेशत्व गुण का परिणमन, विशेष कार्य) और अर्थपर्याय (प्रदेशत्व गुण के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण गुणों का परिणमन)। इनके दो भेद हैं स्वभाव और विभाव। पर के निमित्त के बिना जो परिणमन होता है वह स्वभाव पर्याय है। और परके निमित्त से जो होता है, वह विभाव पर्याय है।

गाथा १०—काल का लक्षण: वर्तना है। जीव और अजीव सभी द्रव्यों में जो परिणमन होता है उसका उपादान स्वयं वे द्रव्य होते है और उनका निमित्त कारण काल को माना है। काल के अपने परिणमन में भी स्वयं काल ही निमित्त है।

काल द्रव्य है, अस्तिकाय नहीं है, चूँकि वह एक समय रूप है, प्रदेशों का समूह रूप नहीं है। भगवती सूत्र (१३।१४) में काल को जीव-अजीव की पर्याय कहा है। काल के समय (अविभाज्य रूप सर्वाधिक सूक्ष्म अंश) अनन्त हैं। **'सोऽनन्तसमय:'** —तत्त्वार्थ ५।४०।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार दिन, रात्रि आदिरूप व्यवहार काल मनुष्य-क्षेत्र (ढाईद्वीप) प्रमाण है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार काल लोकव्यापी तथा अणुरूप हैं। रत्नों की राशि के रूप में लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर एक एक कालाणु स्थित है।

गाथा ३२, ३३—कर्मों के आश्रव को रोकना संवररूप चारित्र है। कर्मों के पूर्वबद्ध चय को तप से रिक्त करना, क्षय करना निर्जरारूप चारित्र है। प्रस्तुत अध्ययन में ही चारित्र की उक्त दोनों व्याख्याएँ है। एक है **'चयरित्तकरं चारित्तं**—(गाथा ३३), और दूसरी है—**चरित्तेण न गिण्हाइ** (गाथा ३५)। अन्तिम शुद्धि तपरूप चारित्र से ही होती है। चारित्र के पाँच भेद है—

(१) **सामायिक**—सम होना, राग द्वेष से रहित वीतराग भाव का होना, सर्व-सावद्य विरतिरूप सामायिक चारित्र है। यद्यपि सभी चारित्र सामान्यतया सामायिक चारित्र ही होते हैं। जो भेद है, वह विशेष क्रिया काण्डों तथा विभिन्न स्तरों को लेकर है। इत्वरिक—अल्प काल का सामायिक चारित्र भगवान् ऋषभ और महावीर के शासन में है। यावत्कथिक अर्थात् यावज्जीवन रूप अन्य २२ तीर्थंकरों के शासन में होता है।

(२) **छेदोपस्थापनीय**—सातिचार और निरतिचार के भेद से यह दो प्रकार का है। दोषविशेष लगने पर दीक्षा का छेद करना, सातिचार है। और प्रथम लिए हुए सामायिक चारित्र का अमुक समय बाद बिना दोष के भी आवश्यक छेद कर देना, निरतिचार है। बड़ी दीक्षा के रूप में जो महाव्रतारोपण है, वह निरतिचार है। वह प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय में ही होता है।

(३) **परीहारविशुद्धि**—यह एक विशिष्ट तप:साधना है, जो नौ साधु मिल-कर करते हैं। इसका कालमान १८ मास है। प्रथम छह मास में चार साधु ग्रीष्म में उपवास से लेकर तेला तक, शिशिर में बेला से लेकर चौला तक, और वर्षा में तेला से लेकर पंचौला तक तप करते हैं। पारणा आयंबिल से किया जाता है। चार साधु सेवा करते हैं। एक वाचनाचार्य (निर्देशक) होता है। छह महीने बाद सेवा वाले

इसी प्रकार तप करते हैं, और तपस्वी सेवा। तीसरे छह मास में वाचनाचार्य तप करता है। और उनमें से एक वाचनाचार्य हो जाता है, शेष सेवा करने वाले रहते हैं।

(४–५) **सूक्ष्मसंपराय: यथाख्यात**—सामायिक या छेदोपस्थापनीय चारित्र की साधना करते-करते जब क्रोध, मान, माया उपशान्त या क्षीण हो जाते हैं, एकमात्र लोभ का ही बहुत सूक्ष्म वेदन रह जाता है, तब दसवें गुणस्थान में सूक्ष्म संपराय चारित्र होता है। और जब चारों ही कषाय पूर्णरूप से उपशान्त या क्षीण हो जाते हैं, तब वह यथाख्यात चारित्र होता है। यह वीतराग चारित्र है। उपशान्त यथाख्यात चारित्र ११ वें गुण स्थान में और क्षायिक यथाख्यात १२ वें आदि अग्रिम गुण स्थानों मे होता है।

अध्ययन २९

सूत्र ७—प्रस्तुत मे '**करणगुणश्रेणि**' शब्द एक गम्भीर सैद्धान्तिक शब्द है। अपूर्वकरण से होने वाली गुणहेतुक कर्मनिर्जरा की श्रेणि को 'करण गुण श्रेणि' कहते है। करण का अर्थ आत्मा का विशुद्ध परिणाम है। अध्यात्म-विकास की आठवीं भूमिका का नाम अपूर्वकरण गुण स्थान है। यहाँ परिणामों की धारा इतनी विशुद्ध होती है, जो पहले कभी नहीं होने के कारण अपूर्व कहलाती है। आगामी क्षणों में उदित होने वाले मोहनीय कर्म के अनन्त प्रदेशी दलिकों को उदयकालीन प्राथमिक क्षण में लाकर क्षय कर देना, भाव विशुद्धि की एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। प्रथम समय से दूसरे क्षण में असंख्यात गुण अधिक कर्मपुद्गलों का क्षय होता है, दूसरे से तीसरे में असंख्यात गुण अधिक और तीसरे से चौथे में असंख्यात गुण अधिक। इस प्रकार कर्मनिर्जरा की यह तीव्रगति प्रत्येक समय से अगले समय में असंख्यात गुण अधिक होती जाती है, और यह कर्मनिर्जरा की धारा असंख्यात समयात्मक एक मुहूर्त तक चलती है। देखिए, कर्मनिर्जरा की और आत्मविशुद्धि की कितनी अपूर्व एवं दिव्य धारा है। इसे क्षपक श्रेणी भी कहते हैं। '**प्रक्रमात् क्षपक श्रेणि:**'—सर्वार्थसिद्धि। क्षपक श्रेणी आठवें गुण स्थान से प्रारम्भ होती है। मोहनाश की दो प्रक्रियाएँ हैं। जिससे मोह का क्रम से उपशम होते-होते अन्त में वह सर्वथा उपशान्त हो जाता है, अन्तर्मुहूर्त के लिए उसका उदय में आना बंद हो जाता है, उसे उपशम श्रेणि कहते हैं। और जिसमें मोह क्षीण होते-होते अन्त में सर्वथा क्षीण हो जाता है, मोह का एक दलिक भी आत्मा पर शेष नहीं रहता, वह क्षपकश्रेणि है। क्षपक श्रेणी से ही कैवल्य प्राप्त होता है।

सूत्र १५—एक, दो या तीन श्लोक से होने वाली गुणकीर्तना स्तुति होती है और तीन से अधिक श्लोकों वाली स्तुति को स्तव कहते हैं। वैसे दोनों का भावार्थ एक ही है—भक्तिपूर्वक गुणकीर्तन।

गाथा २३—अनुप्रेक्षा का अर्थ सूत्रार्थ का चिन्तन है। यह भी तप है। अत: उक्त तप से प्रगाढ़ बन्धन रूप निकाचित कर्म भी शिथिल अर्थात् क्षीण हो जाते हैं। 'तपोरूपत्वादस्यास्तपसश्च निकाचितकर्मक्षयक्षमत्वात्'—सर्वार्थसिद्धि

सूत्र ७१—कषाय भाव में ही कर्म का स्थितिबन्ध होता है। केवल मन, वचन, काय के कषायरहित व्यापार-रूप योग से तो दीवार पर लगे सूखे गोले की तरह ज्योंही कर्म लगता है, लगते ही झड़ जाता है। उसमे राग द्वेषजन्य स्निग्धता जो नहीं है। केवलज्ञानी को भी जब तक वह सयोगी रहता है, चलते-फिरते, उठते-बैठते हर क्षण योगनिमित्तक दो समय की स्थिति का सुखस्पर्शरूप कर्म बँधता रहता है। अयोगी होने पर वह भी नहीं।

सूत्र ७२-अ इ उ ऋ लृ—ये पाँच ह्रस्व अक्षर है। इतना काल १४ वें अयोगी गुण स्थान की भूमिका का होता है। तदनन्तर आत्मा देहमुक्त होकर सिद्ध हो जाता है।

'समुच्छिन्नक्रिया अनिवृत्ति' शुक्ल ध्यान का अर्थ है—समुच्छिन्न क्रिया वाला एवं पूर्ण कर्म क्षय करने से पहले निवृत्त नहीं होने वाला पूर्ण निर्मल शुक्ल ध्यान। यह शैलेशी-अर्थात् शैलेश मेरु पर्वत के समान सर्वथा अकम्प, अचल आत्मस्थिति है।

मुक्त आत्मा का ऊर्ध्वगमन आकाशप्रदेशो की ऋजु अर्थात् सरल समश्रेणि से होता है। समश्रेणि को काटता हुआ विषम श्रेणि से नहीं होता। यही अनुश्रेणी गति भी कहलाती है।

अस्पृशद् गति के अनेक अर्थ हैं। बृहद्वृत्तिकार शान्त्याचार्य के अनुसार अर्थ है—"जितने आकाश प्रदेशों को जीव यहाँ अवगाहित किए रहता है, उतने ही प्रदेशों को स्पर्श करता हुआ गति करता है, उसके अतिरिक्त एक भी आकाश प्रदेश को नहीं छूता है। अस्पृशद् गति का यह अर्थ नहीं कि मुक्त आत्मा आकाशप्रदेशों को स्पर्श ही नहीं करता।

आचार्य अभय देव के (औपपातिक वृत्ति) अनुसार अस्पृशद्गति का अर्थ है—"अन्तरालवर्ती आकाश प्रदेशों का स्पर्श किए बिना यहाँ से ऊर्ध्व मोक्ष स्थान तक पहुँचना।" उनका कहना है कि मुक्त जीव आकाश के प्रदेशों का स्पर्श किए बिना ही ऊपर चला जाता है। यदि वह अन्तरालवर्ती आकाश प्रदेशों को स्पर्श करता जाए तो एक समय जैसे अल्पकाल में मोक्ष तक कैसे पहुँच सकता है? नहीं पहुंच सकता।

आवश्यक चूर्णि के अनुसार अस्पृशद्गति का अर्थ है—मुक्त जीव एक समय में ही मोक्ष में पहुँच जाता है। वह अपने ऊर्ध्व गमन काल में दूसरे समय को स्पर्श नहीं करता। मुक्तात्मा की यह समश्रेणिरूप सहज गति है। इसमें मोड़ नहीं लेना होता। अत: दूसरे समय की अपेक्षा नहीं है।

अध्ययन ३०

गाथा ७—मुक्ति की प्राप्ति में बहिरंग निमित्त है, शरीर आदि बाह्य द्रव्य पर आधारित है, और सर्वसाधारण लोगों द्वारा भी तप रूप में अभिप्रेत है, अत: अनशन आदि बाह्य तप है। यह अन्तरंग तप के माध्यम से ही मुक्ति का कारण है, स्वयं साक्षात् कारण नहीं। इसके विपरीत जो शरीर आदि बाह्य साधनों पर आधारित नहीं है, अन्तःकरण से स्वयं स्फूर्त है, जो विशिष्ट विवेकी साधकों द्वारा ही समाचरित है, वह अन्तरंग तप है।

गाथा १०-११—इत्वरिक अनशन तप देश, काल, परिस्थिति आदि को ध्यान में रखते हुए अपनी शक्ति के अनुसार एक अमुक समयविशेष की सीमा बाँधकर किया जाता है। भगवान् महावीर के शासन में दो घड़ी से लेकर उत्कृष्ट छह मास तक की सीमा है। संक्षेप मे इसके छह भेद होते हैं।

(१) श्रेणि तप—उपवास से लेकर छह मास तक क्रमपूर्वक जो तप किया जाता है, वह श्रेणि तप है। इसकी अनेक श्रेणियाँ है। जैसे उपवास, बेला—यह दो पदो का श्रेणि तप है। उपवास, बेला, तेला, चौला—यह चार पदों का श्रेणितप है।

(२) प्रतरतप—एक श्रेणि तप को जितने क्रम अर्थात् प्रकारों से किया जा सकता है, उन सब क्रमों को मिलाने से प्रतर तप होता है। उदाहरणस्वरूप १. २. ३ ४. संख्यक उपवासों से चार प्रकार बनते हैं। स्थापना इस प्रकार है—

क्रम	१	२	३	४
१	उपवास	बेला	तेला	चौला
२	बेला	तेला	चौला	उपवास
३	तेला	चौला	उपवास	बेला
४	चौला	उपवास	बेला	तेला

यह प्रतर तप है। इसमें कुल पदों की संख्या १६ है। इस तरह यह तप श्रेणि-पदो को श्रेणि पदों से गुणा करने से बनता है। चार को चार से गुणित करने पर १६ की संख्या उपलब्ध होती है। यह आयाम और विस्तार दोनों में समान है।

(३) घनतप—जितने पदों की श्रेणि हो, प्रतर तप को उतने पदों से गुणित करने पर घनतप बनता है। जैसे कि ऊपर में चार पदों की श्रेणि है, अतः उपर्युक्त

षोडशपदात्मक तप को चतुष्टयात्मक श्रेणि से गुणा करने पर अर्थात् प्रतर तप को चार बार करने से घन तप होता है। इस प्रकार घनतप के ६४ पद होते हैं।

(४) **वर्ग तप**—घन को घन से गुणित करने पर वर्ग तप बनता है। अर्थात् घनतप को ६४ बार करने से वर्गतप बनता है। इस प्रकार वर्गतप के ६४+६४=४०९६ पद होते हैं। अर्थात् चार हजार छियाणवें पद हैं।

(५) **वर्गवर्गतप**—वर्ग को वर्ग से गुणित करने पर वर्गवर्ग तप होता है। अर्थात् वर्गतप को ४०९६ बार करने से १ करोड़ ६७ लाख, ७७ हजार और २१६ पद होते हैं। उक्त पद अंकों में इस प्रकार हैं—४०९६ × ४०९६ = १६७७७२१६।

यह श्रेणितप के चार पदों की भावना है। इसी प्रकार पाँच, छह, सात आदि पदों की भावना भी की जा सकती है।

(६) **प्रकीर्ण तप**—यह तप श्रेणि आदि निश्चित पदों की रचना किए बिना ही अपनी शक्ति और इच्छा के अनुसार किया जा सकता है। नमस्कारसंहिता अर्थात् नौकारसी से लेकर यवमध्य, वज्रमध्य, चन्द्रप्रतिमा (चन्द्र की कलाओं के अनुसार उपवासों की संख्या १ से लेकर १५ तक बढ़ाना और फिर क्रमशः घटाते हुए १ उपवास पर आजाना) आदि प्रकीर्ण तप हैं।

गाथा १२—मरण काल का आमरणान्त अनशन संथारा कहा जाता है। वह सविचार और अविचार-भेद से दो प्रकार का है। सविचार में उद्वर्तन-परिवर्तन (करवट बदलने) आदि की हरकत होती है, अविचार में नहीं।

भक्त प्रत्याख्यान और इङ्गिनीमरण सविचार होते हैं। भक्तप्रत्याख्यान स्वयं भी करवट आदि बदल सकता है, दूसरों से भी इस प्रकार की सेवा ले सकता है। यह संथारा दूसरे भिक्षुओं के साथ रहते हुए भी हो सकता है। यह इच्छानुसार त्रिविधाहार अथवा चतुर्विधाहार के प्रत्याख्यान से किया जा सकता है।

इङ्गिनीमरण संथारा में अनशनकारी एकान्त में एकाकी रहता है। यथाशक्ति स्वयं तो करवट आदि की क्रियाएँ कर सकता है, किन्तु इसके लिए दूसरों से सेवा नहीं ले सकता।

गिरिकन्दरा आदि शून्य स्थानों में किया जाने वाला पादपोपगमन अविचार ही होता है। जैसे वृक्ष जिस स्थिति में गिर जाता है, उसी स्थिति में पड़ा रहता है, उसी प्रकार पादपोपगमन में भी प्रारंभ में जिस आसन का उपयोग करता है अन्ततक उसी आसन में रहता है, आसन आदि बदलने की कोई भी चेष्टा नहीं करता है। पादपोपगमन के लिए दिगम्बर परम्परा में 'प्रायोपगमन' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'पाओवगमण' प्राकृत शब्द से दोनों ही संस्कृत रूप हो सकते हैं।

गाथा १३—अथवा यह मरणकालीन अनशन सपरिकर्म (बैठना, उठना, करवट बदलना आदि परिकर्म से सहित) और अपरिकर्म भेद से दोप्रकार का है। भक्त प्रत्याखान और इंगिनी सपरिकर्म होते हैं, और पादपोपगमन अपरिकर्म ही होता है। अथवा संलेखना के परिकर्म से सहित और उससे रहित को भी क्रमशः सपरिकर्म और

अपरिकर्म कहा जाता है। वर्ष आदि पूर्व काल से ही अनशनादि तप करते हुए शरीर को, साथ ही इच्छाओं, कषायों और विकारों को निरन्तर क्षीण करना संलेखना है, अन्तिम मरणकालीन क्षण की पहले से ही तैयारी करना है।

गाँव से बाहर जाकर जो संथारा किया जाता है, वह निर्हारिम है, और जो गाँव में ही किया जाता है वह अनिर्हारिम है। अथवा जिसके शरीर का मरणोत्तर अग्निसंस्कार आदि होता है, वह निर्हारिम है। और जो गिरिकन्दरा आदि शून्य स्थानों में संथारा किया जाता है, फलतः जिसका अग्निसंस्कार आदि नहीं होता है, वह अनिर्हारिम है। वास्तविकता क्या है, इसके लिए सर्वार्थ सिद्धिकार कहता है—'परमार्थं तु बहुश्रुता विदन्ति।'

गाथा १६-१७-१८—जहाँ कर लगते हों वह ग्राम है। और जहाँ कर न लगते हो, वह नगर है, अर्थात् न कर। निगम—व्यापार की मण्डी। आकर—सोने आदि की खान। पल्ली—वन में साधारण लोगो की या चोरों की बस्ती। खेट—धूल मिट्टी के कोट वाला ग्राम। कर्वट—छोटा नगर। द्रोण-मुख—जिसके आने जाने के जल और स्थल दोनो मार्ग हों। पत्तन—जहाँ सभी ओर से लोग आते हों। मडंब—जिसके पास सब ओर अढाई योजन तक कोई दूसरा गाम न हो। सम्बाध—ब्राह्मण आदि चारो वर्ण के लोगो का जहाँ प्रचुरता से निवास हो। आश्रमपद—तापस आदि के आश्रम। विहार—देवमन्दिर। संनिवेश—यात्री लोगों के ठहरने का स्थान, अर्थात् पडाव। समाज—सभा और परिषद्। घोष—गोकुल। स्थली—ऊँची जगह टीला आदि। सेना और स्कन्धावार (छावनी) प्रसिद्ध है। सार्थ—सार्थवाहों के साथ चलने वाला जनसमूह। संवर्त—जहाँ के लोग भयत्रस्त हों। कोट्ट—प्राकार, किला आदि। वाट—जिन घरो के चारों ओर काँटों की बाड या तार आदि का घेरा हो। रथ्या—गाँव और नगर की गलियाँ।

क्षेत्र अवमौदर्य का अर्थ है—विहार-भ्रमण आदि की दृष्टि से क्षेत्र की सीमा कम कर लेना।

गाथा १९—(१) पेटा—अर्थात् पेटिका चतुष्कोण होती है। इस प्रकार बीच के घरों को छोड़कर चारों श्रेणियों में भिक्षा लेना।

(२) अर्धपेटा—इसमें केवल दो श्रेणियों से भिक्षा ली जाती है।

(३) गोमूत्रिका—वक्र अर्थात् टेढ़े-मेढ़े भ्रमण से भिक्षा लेना गोमूत्रिका है। जैसे चलते बैल के मूत्र की रेखा टेढ़ी-मेढ़ी होती है।

(४) पतंगवीथिका—पतंग जैसे उड़ता हुआ बीच में कहीं-कहीं चमकता है, इसी प्रकार बीच-बीच में घरों को छोड़ते हुए भिक्षा लेना।

(५) शम्बूकावर्ता—शंख के आवर्तों की तरह गाँव के बाहरी भाग से भिक्षा लेते हुए अन्दर में आना अथवा गाँव के अन्दर से भिक्षा लेते हुए बाहर की ओर आना। शम्बूकावर्ता के ये दो प्रकार हैं।

(६) आयतंगत्वा-प्रत्यागता—गाँव की सीधी सरल गली में अन्तिम घर तक जाकर फिर वापस लौटते हुए भिक्षा लेना। इसके दो भेद है—जाते समय गली की एक पंक्ति से और आते समय दूसरी पंक्ति से भिक्षा लेना। अथवा एक ही पंक्ति से भिक्षा लेना, दूसरी पंक्ति से नहीं।

गाथा २५—आठ प्रकार के गोचराग्र मे पूर्वोक्त पेटा आदि छह प्रकार और शम्बूकावर्ता तथा आयतंगत्वा प्रत्यागता के वैकल्पिक दो भेद मिलाने से गोचराग्र के आठ भेद हो जाते हैं।

सात एषणाएँ—

(१) संसृष्टा—खाद्य वस्तु से लिप्त हाथ या पात्र से भिक्षा लेना।

(२) असंसृष्टा—अलिप्त हाथ या पात्र से भिक्षा लेना।

(३) उद्धृता—गृहस्थ के द्वारा अपने प्रयोजन के लिए पकाने के पात्र से दूसरे पात्र में निकाला हुआ आहार लेना।

(४) अल्पलेपा—चने आदि अल्प लेप की वस्तु लेना।

(५) अवगृहीता—खाने के लिए थाली में परोसा हुआ आहार लेना।

(६) प्रगृहीता—परोसने के लिए कड़छी या चम्मच आदि से निकाला हुआ आहार लेना।

(७) उज्झितधर्मा—परिष्ठापन के योग्य अमनोज्ञ आहार लेना।

गाथा ३६—यहाँ व्युत्सर्ग तप में कायोत्सर्ग की ही गणना की है। प्रावरण एवं पात्र आदि उपधि का विसर्जन भी व्युत्सर्ग तप है। कषाय का व्युत्सर्ग भी व्युत्सर्ग में गिना गया है। काय मुख्य है। अतः काय के व्युत्सर्ग में सभी उत्सर्गों का समावेश हो जाता है।

कायोत्सर्ग देहभाव का उत्सर्ग है। वह त्रिगुप्तिरूप है। स्थान—कायगुप्ति, मौन—वचन गुप्ति, तथा ध्यान—मन की प्रवृत्ति का एकीकरण है, अतः यह मनोगुप्ति है।

गाथा ३०—साधना की यात्रा बड़ी दुर्गम है। अतः सावधान रहते हुए भी कुछ दोष लग जाते हैं। उनको दूर कर अपने को पुनः विशुद्ध बना लेना, प्रायश्चित है। उसके दस प्रकार हैं :

(१) **आलोचनार्ह**—अर्ह का अर्थ योग्य है। गुरु के समक्ष अपने दोषों को प्रकट करना आलोचना है।

(२) **प्रतिक्रमणार्ह**—कृत पापों से निवृत्त होने के लिए 'मिच्छामि दुक्कड़' कहना, 'मेरे सब पाप निष्फल हों'—इस प्रकार पश्चात्तापपूर्वक पापों को अस्वीकृत करना, कायोत्सर्ग आदि करना तथा भविष्य में पापकार्यों से दूर रहने के लिए सावधान रहना।

(३) **तदुभयार्ह**—पापनिवृत्ति के लिए आलोचना और प्रतिक्रमण—दोनों करना।

(४) **विवेकार्ह**—लाये हुए अशुद्ध आहार आदि का परित्याग करना।

(५) **व्युत्सर्गार्ह**—चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति के साथ कायोत्सर्ग करना।

(६) **तपोऽर्ह**—उपवास आदि तप करना।

(७) **छेदार्ह**—सयम काल को छेद कर कम करना, दीक्षा काट देना।

(८) **मूलार्ह**—फिर से महाव्रतो मे आरोपित करना, नई दीक्षा देना।

(९) **अनवस्थापनार्ह**—तपस्यापूर्वक नई दीक्षा देना।

(१०) **पारंचिकार्ह**—भयंकर दोष लगने पर काफी समय तक भर्त्सना एवं अवहेलना करने के अनन्तर नई दीक्षा देना।

गाथा ३३—वैयावृत्य तप के दस प्रकार हैं। (१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) स्थविर—वृद्ध गुरुजन, (४) तपस्वी (५) ग्लान—रोगी, (६) शैक्ष—नवदीक्षित, (७) कुल—गच्छो का समुदाय, (८) गण—कुलो का समुदाय (९) संघ—गणों का समुदाय (१०) सार्धमिक—समानधर्मा, साधु—साध्वी।

अध्ययन ३१

गाथा २ से २०—यहाँ चारित्र की विधि-निषेधरूप अथवा प्रवृत्ति-निवृत्ति-रूप उभयात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। असंयम से निवृत्ति और संयम मे प्रवृत्ति ही चारित्र है। बहिर्मुखता से लौटकर अन्तर्मुखता में चेतना को लीन करना ही चारित्र का आदर्श है। आचार्य नेमिचन्द्र ने द्रव्य संग्रह मे इसी भाव को यों व्यक्त किया है—"**असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवत्ती य जाण चारित्तं।**"

तीन दण्ड—

दुष्प्रवृत्ति में संलग्न मन, वचन और काया—तीनों दण्ड हैं। इन से चारित्र-रूप ऐश्वर्य का तिरस्कार होता है, आत्मा दण्डित होता है।

तीन गौरव—

(१) ऋद्धि गौरव—ऐश्वर्य का अभिमान, (२) रस गौरव—रसों का अभिमान (३) सात गौरव—सुखों का अभिमान।

'गौरव' अभिमान से उत्तप्त हुए चित्त की एक विकृत स्थिति है।

तीन शल्य—

(१) माया, (२) निदान—ऐहिक तथा पारलौकिक भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए धर्म का विनिमय, (२) मिथ्यादर्शन—आत्मा का तत्त्व के प्रति मिथ्यारूप दृष्टिकोण।

शल्य काँटे या शस्त्र की नोक को कहते हैं। जैसे वह पीड़ा देता है, उसी प्रकार साधक को ये शल्य भी निरन्तर उत्पीड़ित करते हैं।

चार विकथा—

(१) स्त्री कथा—स्त्री के रूप, लावण्य आदि का वर्णन करना। (२) भक्त—नाना प्रकार के भोजन की कथा, (३) देश कथा—नाना देशों के रहन-सहन आदि की कथा, (४) राजकथा—राजाओं के ऐश्वर्य तथा भोगविलास का वर्णन।

चार संज्ञा—

(१) आहार संज्ञा (२) भय संज्ञा, (३) मैथुन संज्ञा और (४) लोभ संज्ञा।

संज्ञा का अर्थ है—आसक्ति और मूर्च्छना।

पाँच व्रत और इन्द्रियार्थ—

अहिंसा आदि पाँच व्रत हैं। शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—ये पाँच इन्द्रियों के विषय हैं।

पाँच क्रियाएँ—

(१) कायिकी, (२) आधिकरणिकी—शस्त्रादि अधिकरण से सम्बन्धित, (३) प्राद्वेषिकी—द्वेष रूप, (४) पारितापनिकी, (५) प्राणातिपात—प्राणिहिंसा।

सात पिण्ड और अवग्रह की प्रतिमाएँ—

पिण्ड का अर्थ आहार है। इससे सम्बन्धित प्रतिमाएँ पूर्वोक्त तपोमार्गगति अध्ययन में वर्णित सात एषणाएँ हैं।

अवग्रह (स्थान) सम्बन्धी सात अभिग्रह-संकल्प इस प्रकार हैं—

(१) मैं अमुक प्रकार के स्थान में रहूँगा, दूसरे में नहीं।

(२) मैं दूसरे साधुओं के लिए स्थान की याचना करूँगा। दूसरे के द्वारा याचित स्थान में रहूँगा। यह गच्छान्तर्गत साधुओं के होती है।

(३) मैं दूसरों के लिए स्थान की याचना करूँगा, किन्तु दूसरों के द्वारा याचित स्थान में नहीं रहूँगा। यह यथालन्दिक साधुओं के होती है।

(४) मैं दूसरों के लिए स्थान की याचना नहीं करूँगा, परन्तु दूसरों के द्वारा याचित स्थान में रहूँगा। यह जिन कल्प दशा का अभ्यास करने वाले साधुओं के होती है।

(५) मैं अपने लिए स्थान की याचना करूँगा, दूसरों के लिए नहीं। यह जिन कल्पिक साधुओ के होती है।

(६) जिसका मैं स्थान ग्रहण करूँगा, उसी के यहां पलाल आदि का संस्तारक प्राप्त होगा तो लूँगा, अन्यथा उकड़ू या नैषेधिक आसन से बैठे हुए ही सारी रात गुजार दूँगा, यह जिनकल्पिक या अभिग्रहधारी साधुओं के होती है।

(७) जिसका स्थान मैं ग्रहण करूँगा उसी के यहाँ ही सहज भाव से पहले के शिलापट्ट या काष्ठपट्ट प्राप्त होगा तो लूँगा, अन्यथा उकड़ू या नैषधिक आसन से बैठे-बैठे रात बिताऊँगा। यह भी जिनकल्पिक या अभिग्रहधारी साधुओं के होती है।

सात भय—

१. इहलोक भय—अपनी ही जाति के प्राणी से डरना, इहलोक भय है। जैसे मनुष्य का मनुष्य से, तिर्यंच का तिर्यंच आदि से डरना।
२. परलोक भय—दूसरी जाति वाले प्राणी से डरना, परलोक भय है। जैसे मनुष्य का देव से या तिर्यञ्च आदि से डरना।
३. आदान भय—अपनी वस्तु की रक्षा के लिए चोर आदि से डरना।
४. अकस्मात् भय—किसी बाह्य निमित्त के बिना अपने आप ही सशंक होकर रात्रि आदि में अचानक डरने लगना।
५. आजीव भय—दुर्भिक्ष आदि में जीवन-यात्रा के लिए भोजन आदि की अप्राप्ति के दुर्विकल्प से डरना।
६. मरण भय—मृत्यु से डरना।
७. अश्लोक भय—अपयश की आशंका से डरना।

आठ मदस्थान—

१. **जाति मद**—ऊँची और श्रेष्ठ जाति का अभिमान।

२. **कुलमद**—ऊँचे कुल का अभिमान।

३. **बलमद**—अपने बल का घमण्ड।

४. **रूप मद**—अपने रूप, सौन्दर्य का गर्व।

५. **तप मद**—उग्र तपस्वी होने का अभिमान।

६. **श्रुत मद**—शास्त्राभ्यास अर्थात् पाण्डित्य का अभिमान।

७. **लाभ मद**—अभीष्ट वस्तु के मिल जाने पर अपने लाभ का अहंकार।

८. **ऐश्वर्य मद**—अपने ऐश्वर्य अर्थात् प्रभुत्व का अहंकार।

नौ ब्रह्मचर्य गुप्ति—

१. **विविक्त-वसति सेवन**—स्त्री, पशु और नपुंसकों से युक्त स्थान में न ठहरे।

२. **स्त्री कथा परिहार**—स्त्रियों की कथा-वार्ता, सौन्दर्य आदि की चर्चा न करे।

३. **निषद्यानुपवेशन**—स्त्री के साथ एक आसन पर न बैठे, उसके उठ जाने पर भी एक मुहूर्त तक उस आसन पर न बैठे।

४. **स्त्री-अंगोपांगादर्शन**—स्त्रियों के मनोहर अंग उपांग न देखे। यदि कभी अकस्मात् दृष्टि पड़ जाए तो सहसा हटा ले, फिर उसका ध्यान न करे।

५. **कुड्यान्तर-शब्द-श्रवणादि-वर्जन**—दीवार आदि की आड़ से स्त्री के शब्द, गीत, रूप आदि न सुने और न देखे।

६. **पूर्व भोगाऽस्मरण**—पहले भोगे हुए भोगों का स्मरण न करना।

७. **प्रणीत भोजन-त्याग**—विकारोत्पादक गरिष्ठ भोजन न करे।

८. **अतिमात्र भोजन-त्याग**—रूखा-सूखा भोजन भी अधिक न करे। आधा पेट अन्न से भरे, आधे में से दो भाग पानी के लिए और एक भाग हवा के लिए छोड़ दे।

९. **विभूषा-परिवर्जन**—अपने शरीर की विभूषा—सजावट न करे।

दस श्रमण धर्म—

१. **क्षान्ति**—क्रोध न करना।

२. **मार्दव**—मृदु भाव रखना। जाति, कुल आदि का अहंकार न करना।

३. **आर्जव**—ऋजुभाव—सरलता रखना, माया न करना।

४. **मुक्ति**—निर्लोभता रखना, लोभ न करना।

५. **तप**—अनशन आदि बारह प्रकार का तप करना।

६. **संयम**—हिंसा आदि आश्रवों का निरोध करना।

७. **सत्य**—सत्य भाषण करना, झूठ न बोलना।

८. **शौच**—संयम में दूषण न लगाना, संयम के प्रति निरुपलेपता-पवित्रता रखना।

९. **आकिंचन्य**—परिग्रह न रखना।

१०. **ब्रह्मचर्य**—ब्रह्मचर्य का पालन करना।

ग्यारह उपासक प्रतिमाएं—

१. **दर्शन प्रतिमा**—किसी भी प्रकार का राजाभियोग आदि आगार न रखकर शुद्ध, निरतिचार, विधिपूर्वक सम्यग्दर्शन का पालन करना। यह प्रतिमा व्रतरहित दर्शन श्रावक की होती है। इसमे मिथ्यात्वरूप कदाग्रह का त्याग मुख्य है। 'सम्यग्दर्शनस्य शंकादिशल्यरहितस्य अणुव्रतादिगुणविकलस्य योऽभ्युपगमः। सा प्रतिमा प्रथमेति।'—अभयदेव, समवायांग वृत्ति। इस प्रतिमा का आराधन एक मास तक किया जाता है।

२. **व्रत प्रतिमा**—व्रती श्रावक सम्यक्त्व लाभ के बाद व्रतों की साधना करता है। पाँच अणुव्रत आदि व्रतों की प्रतिज्ञाओं को अच्छी तरह निभाता है, किन्तु सामायिक का यथा समय सम्यक् पालन नहीं कर पाता। यह प्रतिमा दो मास की होती है।

३. **सामायिक प्रतिमा**—इस प्रतिमा मे प्रातः और सायंकाल सामायिक व्रत की साधना निरतिचार पालन करने लगता है, समभाव दृढ़ हो जाता है किन्तु पर्वदिनों में पौषधव्रत का सम्यक् पालन नहीं कर पाता। यह प्रतिमा तीन मास की होती है।

४. **पोषध प्रतिमा**—अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा आदि पर्व दिनों में आहार, शरीर संस्कार, अब्रह्मचर्य, और व्यापार का त्याग-इस प्रकार चतुर्विध त्यागरूप प्रतिपूर्ण पोषध व्रत का पालन करना, पोषध प्रतिमा है। यह प्रतिमा चार मास की होती है।

५. **नियम प्रतिमा**—उपर्युक्त सभी व्रतों का भली भाँति पालन करते हुए प्रस्तुत प्रतिमा में निम्नोक्त नियम विशेषरूप से धारण करने होते हैं—वह स्नान नहीं करता, रात्रि में चारों आहार का त्याग करता है। दिन में भी प्रकाशभोजी होता है। धोती की लांग नहीं देता, दिनमें ब्रह्मचारी रहता है, रात्रि में मैथुन की मर्यादा करता है। पोषध होने पर रात्रि-मैथुन का त्याग और रात्रि में कायोत्सर्ग करना होता है। यह प्रतिमा कम से कम एक दिन, दो दिन और अधिक से अधिक पाँच मास तक होती है।

६. **ब्रह्मचर्य प्रतिमा**—ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना। इस प्रतिमा की कालमर्यादा जघन्य एक रात्रि और उत्कृष्ट छह मास की है।

७. **सचित्त त्याग प्रतिमा**—सचित्त आहार का सर्वथा त्याग करना। यह प्रतिमा जघन्य एक रात्रि की और उत्कृष्ट कालमान से सात मास की होती है।

८. **आरम्भ त्याग प्रतिमा**—इस प्रतिमा में स्वयं आरम्भ नहीं करता, छह काय के जीवों की दया पालता है। इसकी काल मर्यादा जघन्य एक, दो, तीन दिन और उत्कृष्ट आठ मास होती है।

९. **प्रेष्य त्याग प्रतिमा**—इस प्रतिमा में दूसरो के द्वारा आरम्भ कराने का भी त्याग होता है। वह स्वयं आरम्भ नही करता, न दूसरो से करवाता है, किन्तु अनुमोदन का उसे त्याग नही होता। इस प्रतिमा का जघन्यकाल एक, दो, तीन दिन है। और उत्कृष्ट काल नौ मास है।

१०. **उद्दिष्ट भक्त त्याग प्रतिमा**—इस प्रतिमा में उद्दिष्ट भक्त का भी त्याग होता है। अर्थात् अपने निमित्त से बनाया गया भोजन भी ग्रहण नहीं किया जाता। उस्तुरे से सर्वथा शिरो मुण्डन करना होता है, या शिखामात्र रखनी होती है। किसी गृहस्थसम्बन्धी विषयों के पूछे जाने पर यदि जानता है तो जानता हूँ और यदि नहीं जानता है तो नहीं जानता हूँ—इतना मात्र कहे। उसके लिए अधिक वाग्व्यापार न करे। यह प्रतिमा जघन्य एक रात्रि की और उत्कृष्ट दस मास की होती हैं।

११. **श्रमणभूत प्रतिमा**—इस प्रतिमा में श्रावक श्रमण तो नहीं, किन्तु श्रमणभूत अर्थात् मुनि सदृश हो जाता है। साधु के समान वेष बनाकर और साधु के योग्य ही भाण्डोपकरण धारण करके विचरता है। शक्ति हो तो लुञ्चन करता है, अन्यथा उस्तरे से शिरोमुण्डन कराता है। साधु के समान ही निर्दोष गोचरी करके भिक्षावृत्ति से जीवन यात्रा चलाता है। इसका कालमान जघन्य एक रात्रि अर्थात् एक दिन रात और उत्कृष्ट ग्यारह मास होता है।

बारह भिक्षु प्रतिमाएं—

१. प्रथम प्रतिमाधारी भिक्षु को एक दत्ति अन्न और एक दत्ति पानी की लेना कल्पता है। साधु के पात्र में दाता द्वारा दिए जाने वाले अन्न और जल की धारा जब तक अखण्ड बनी रहे, उसका नाम दत्ति है। धारा खण्डित होने पर दत्ति की समाप्ति हो जाती है। जहाँ एक व्यक्ति के लिए भोजन बना हो वहीं से लेना चाहिए। किन्तु जहाँ दो तीन आदि अधिक व्यक्तियों के लिए भोजन बना हो, वहाँ से नही लेना। इसका समय एक महीना है।

२—७. दूसरी प्रतिमा भी एक मास को है। दो दत्ति आहार की, दो दत्ति पानी की लेना। इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी और सातवीं प्रतिमाओं में क्रमशः तीन, चार, पाँच, छह और सात दत्ति अन्न की और उतनी ही पानी की ग्रहण की जाती है। प्रत्येक प्रतिमा का समय एक-एक मास है। केवल दत्तियों की वृद्धि के कारण ही ये क्रमशः द्विमासिकी, त्रिमासिकी, चतुर्मासिकी, पञ्चमासिकी, षाण्मासिकी और सप्तमासिकी कहलाती है।

८. यह आठवीं प्रतिमा सप्तरात्रि=सात दिन रात की होती है। इसमें एकान्तर चौविहार उपवास करना होता है। गाँव के बाहर उत्तानासन (आकाश की ओर मुँह करके सीधा लेटना), पार्श्वासन (एक करवट से लेटना) अथवा निषद्यासन (पैरो को बराबर करके खड़ा होना या बैठना) से ध्यान लगाना चाहिए।

९. यह प्रतिमा भी सप्तरात्रि की होती है। इसमे चौविहार बेले-बेले पारणा किया जाता है। गाँव के बाहर एकान्त स्थान मे दण्डासन, लगुडासन अथवा उत्कटुकासन से ध्यान किया जाता है।

१०. यह भी सप्तरात्रि की होती है। इसमे चौविहार तेले-तेले पारणा किया जाता है। गाँव के बाहर गोदोहन-आसन, वीरासन, अथवा आम्रकुब्जासन से ध्यान किया जाता है।

११. यह प्रतिमा अहोरात्र की होती है। एक दिन और एक रात अर्थात् आठ प्रहर तक इसकी साधना की जाती है। चौविहार बेले के द्वारा इसकी आराधना होती है। नगर के बाहर दोनो हाथों को घुटनो की ओर लम्बा करके दण्डायमान रूप में खड़े होकर कायोत्सर्ग किया जाता है।

१२. यह प्रतिमा एक रात्रि की है। अर्थात् इसका समय केवल एक रात है। इसका आराधन बेले को बढ़ाकर चौविहार तेला करके किया जाता है। गाँव के बाहर खड़े होकर, मस्तक को थोड़ा-सा झुकाकर, किसी एक पुद्गल पर दृष्टि रखकर, निर्निमेष नेत्रो से निश्चलतापूर्वक कायोत्सर्ग किया जाता है। उपसर्गों के आने पर उन्हें समभाव से सहन किया जाता है।

तेरह क्रियास्थान—

१. **अर्थक्रिया**—अपने किसी अर्थ—प्रयोजन के लिए त्रस स्थावर जीवों की हिंसा करना, कराना तथा अनुमोदन करना। 'अर्थाय क्रिया अर्थ क्रिया।'

२. **अनर्थ क्रिया**—बिना किसी प्रयोजन के किया जाने वाला पाप कर्म अनर्थ क्रिया कहलाता है। व्यर्थ ही किसी को सताना, पीड़ा देना।

३. **हिंसा क्रिया**—अमुक व्यक्ति मुझे अथवा मेरे स्नेहियों को कष्ट देता है, देगा अथवा दिया है—यह सोचकर किसी प्राणी की हिंसा करना, हिंसा क्रिया है।

४. **अकस्मात् क्रिया**—शीघ्रतावश बिना जाने हो जाने वाला पाप, अकस्मात् क्रिया कहलाता है। बाणादि से अन्य की हत्या करते हुए अचानक ही अन्य किसी की हत्या हो जाना।

५. **दृष्टि विपर्यास क्रिया**—मतिभ्रम से होने वाला पाप। चौरादि के भ्रम में साधारण निरपराध व्यक्ति को दण्ड देना।

६. **मृषा क्रिया**—झूठ बोलना।

७. **अदत्तादान क्रिया**—चोरी करना।

८. **अध्यात्म क्रिया**—बाह्य निमित्त के बिना मन में होने वाला शोक आदि का दुर्भाव।

९. **मान क्रिया**—अपनी प्रशंसा करना, घमण्ड करना।

१०. **मित्र क्रिया**—प्रियजनों को कठोर दण्ड देना आदि।

११. **माया क्रिया**—दम्भ करना।

१२. **लोभ क्रिया**—लोभ करना।

१३. **ईर्यापथिकी क्रिया**—अप्रमत्त विवेकी संयमी को भी गमनागमन आदि से लगने वाली अल्पकालिक क्रिया।

चौदह भूतग्राम-जीवसमूह—

सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय। इन सातों के पर्याप्त और अपर्याप्त—कुल चौदह भेद होते हैं। इनकी विराधना करना, किसी भी प्रकार की पीड़ा देना वर्जित है।

पंद्रह परमाधार्मिक

१. अम्ब २. अम्बरीष ३. श्याम ४. शबल ५. रौद्र ६. उपरौद्र ७. काल ८. महाकाल ९. असिपत्र १०. धनुः ११. कुम्भ १२. वालुक १३. वैतरणि १४.

खरस्वर १५. महाघोष। ये परम-आधार्मिक अर्थात् पापाचारी, क्रूर एवं निर्दय असुर जाति के देव हैं। इनके हिंसाकर्मों का अनुमोदन नहीं करना।

गाथा षोडशक—(सूत्र कृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के १६ अध्ययन)

१. स्वसमय परसमय २. वैतालीय ३. उपसर्गपरिज्ञा ४. स्त्रीपरिज्ञा ५. नरक विभक्ति ६. वीर स्तुति ७. कुशीलपरिभाषा ८. वीर्य ९. धर्म १०. समाधि ११. मार्ग १२. समवसरण १३. याथातथ्य १४. ग्रन्थ १५. आदानीय १६. गाथा।

सतरह असंयम—

१—९. पृथिवीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पति काय तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय-उक्त नौ प्रकार के जीवों की हिंसा करना, कराना, अनुमोदन करना।

१०. **अजीव असंयम**=अजीव होने पर भी जिन वस्तुओं के द्वारा असंयम होता हो, उन बहुमूल्य वस्त्र पात्र आदि का ग्रहण करना अजीव असंयम है।

११. **प्रेक्षाअसंयम**—जीवसहित स्थान मे उठना, बैठना, सोना आदि।

१२. **उपेक्षा असंयम**—गृहस्थ के पाप कर्मों का अनुमोदन करना।

१३. **अपहृत्य असंयम**—अविधि से किसी अनुपयोगी वस्तु का परठना। इसे परिष्ठापना असंयम भी कहते हैं।

१४. **प्रमार्जना असंयम**—वस्त्र पात्र आदि की प्रमार्जना न करना।

१५. **मन. असंयम**—मन मे दुर्भाव रखना।

१६. **वचन असंयम**—कुवचन या असत्य बोलना

१७. **काय-असंयम**—गमनागमनादि क्रियाओ में असावधान रहना।

अठारह अब्रह्मचर्य—

देवसम्बन्धी भोगो का मन, वचन और काय से स्वयं सेवन करना, दूसरों से करवाना, तथा करते हुए को भला जानना—इस प्रकार नौ भेद वैक्रिय शरीर सम्बन्धी होते है। मनुष्य तथा तिर्यञ्चसम्बन्धी औदारिक भोगों के भी इसी तरह नौ भेद समझ लेने चाहिए। कुछ मिलाकर अठारह भेद होते हैं।

ज्ञाता धर्म कथा के १९ अध्ययन—

१. उत्क्षिप्त अर्थात् मेघकुमार, २. संघाट, ३. अण्ड, ४. कूर्म ५. शैलक, ६. तुम्ब, ७. रोहिणी, ८. मल्ली, ९. माकन्दी १०. चन्द्रमा, ११. दावद्रव, १२. उदक १४. मण्डूक, १४. तेतलि, १५. नन्दीफल १६. अवरकंका १७. आकीर्णक १८. सुंसुमादारिका १९. पुण्डरीक।

उक्त उन्नीस उदाहरणों के भावानुसार साधुधर्म की साधना करने का विधान है।

बीस असमाधि स्थान—

१. **द्रुत द्रुत चारित्व**=जल्दी जल्दी चलना।
२. **अप्रमृज्य चारित्व**=बिना पूँजे रात्रि आदि के अन्धकार में चलना।
३. **दुष्प्रमृज्य चारित्व**=बिना उपयोग के प्रमार्जन करना।
४. **अतिरिक्त शय्यासनिकत्व**=अमर्यादित शय्या और आसन रखना।
५. **रात्निक पराभव**=गुरुजनो का अपमान करना।
६. **स्थविरोपघात**=स्थविरो का उपहनन=अवहेलना करना।
७. **भूतोपघात**=भूत अर्थात् जीवों का उपहनन (हिंसा) करना।
८. **संज्वलन**=प्रतिक्षण यानी बार-बार क्रोध करना।
९. **दीर्घकोप**=चिरकाल तक क्रोध रखना।
१०. **पृष्ठमांसिकत्व**=पीठ पीछे निन्दा करना।
११. **अभिक्ष्णावभाषण**=सशंक होने पर भी निश्चित भाषा बोलना।
१२. **नवाधिकरण करण**=नित्य नए कलह करना।
१३. **उपशान्तकलहोदीरण**=शान्त हुए कलह को पुनः उत्तेजित करना।
१४. **अकालस्वाध्याय**=अकाल में स्वाध्याय करना।
१५. **सरजस्कपाणि-भिक्षाग्रहण**=सचित्तरजसहित हाथ आदि से भिक्षा लेना।
१६. **शब्दकरण**=पहर रात के बाद जोर से बोलना।
१७. **झंझाकरण**=गणभेदकारी अर्थात् संघ मे फूट डालने वाले वचन बोलना।
१८. **कलहकरण**=आक्रोश आदि रूप कलह करना।
१९. **सूर्यप्रमाणभोजित्व**=दिन भर कुछ न कुछ खाते-पीते रहना।
२०. **एषणाऽसमितत्व**=एषणा समिति का उचित ध्यान न रखना।

इक्कीस शबल दोष—

१. **हस्त कर्म**=हस्त-मैथुन करना।
२. **मैथुन**=स्त्री स्पर्श आदि रूप मैथुन करना।
३. **रात्रि भोजन**—रात्रि में भोजन लेना और करना।
४. **आधाकर्म**=साधु के निमित्त से बनाया गया भोजन लेना।
५. **सागारिकपिण्ड**=शय्यातर अर्थात् स्थानदाता का आहार लेना।
६. **औद्देशिक**=साधु के या याचकों के निमित्त बनाया गया, **क्रीत**=खरीदा हुआ, **आहृत**=स्थान पर लाकर दिया हुआ, **प्रामित्य**=उधार लिया हुआ, **आच्छिन्न**=छीन कर लाया हुआ आहार लेना।

७. **प्रत्याख्यानभंग**=बार-बार प्रत्याख्यान भंग करना।

८. **गण परिवर्तन**=छह मास के अन्दर ही जल्दी जल्दी गण से गणान्तर में जाना।

९. **उदक लेप**=एक मास में तीन बार नाभि या जंघा प्रमाण जल में प्रवेश कर नदी आदि पार करना।

१०. **मातृस्थान**=एक मास में तीन बार मायास्थान सेवन करना। अर्थात् कृत अपराध को छुपा लेना।

११. **राजपिण्ड**=राजपिण्ड ग्रहण करना।

१२. **आकुट्या हिंसा**=जानबूझ कर हिंसा करना।

१३. **आकुट्या मृषा**=जानबूझ कर झूठ बोलना।

१४. **आकुट्या अदत्तादान**=जानबूझकर चोरी करना।

१५. **सचित्त पृथ्वी स्पर्श**=जानबूझकर सचित्त पृथिवी पर बैठना, सोना, खड़े होना।

१६. इसी प्रकार सचित्त जल से सस्निग्ध और सचित्त रजवाली पृथिवी, सचित्त शिला अथवा घुणों वाली लकड़ी आदि पर बैठना, सोना, कायोत्सर्ग आदि करना।

१७. जीवों वाले स्थान पर तथा प्राण, बीज, हरित, कीडी नगरा, लीलन—फूलन, पानी, कीचड़, और मकड़ी के जालों वाले स्थान पर बैठना, सोना, कायोत्सर्ग आदि करना।

१८. जानबूझकर कन्द, मूल, छाल, प्रवाल, पुष्प, फूल, बीज तथा हरितकाय का भोजन करना।

१९. वर्ष के अन्दर दस बार उदक लेप लगाना अर्थात् नदी पार करना।

२०. वर्ष में दस मायास्थानों का सेवन करना।

२१. जानबूझकर बार-बार सचित्त जल वाले हाथ से तथा सचित्त जल से लिप्त कड़छी आदि से दिया जाने वाला आहार ग्रहण करना।

बाईस परीषह

देखिए, उत्तराध्ययन का दूसरा परीषह अध्ययन

सूत्रकृताङ्ग सूत्र के २३ अध्ययन—

प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययन सोलहवें बोल में बतला आए हैं। शेष द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अध्ययन इस प्रकार हैं—१७. पौण्डरीक १८. क्रियास्थान १९. आहार परिज्ञा २०. प्रत्याख्यान परिज्ञा २१. अनगार श्रुत २२. आर्द्रकीय २३. नालन्दीय।

उक्त तेईस अध्ययनों के कथनानुसार संयमी जीवन न होना, दोष है।

चौबीस देव—

यहाँ रूप का अर्थ एक है। अतः पूर्वोक्त तेईस संख्या में एक अधिक मिलाने से रूपाधिक का अर्थ २४ होता है। असुरकुमार आदि दश भवनपति, भूत-यक्ष आदि आठ व्यन्तर, सूर्य-चन्द्र आदि पाँच ज्योतिष्क और एक वैमानिक देव—इस प्रकार कुल चौबीस जाति के देव हैं। इनकी प्रशंसा करना भोग जीवन की प्रशंसा करना है और निन्दा करना द्वेष भाव है, अतः मुमुक्षु को तटस्थ भाव ही रखना चाहिए।

समवायांग मे २४ देवो से २४ तीर्थ करों को ग्रहण किया गया है।

पाँच महाव्रतों की २५ भावनाएँ—

प्रथम अहिंसा व्रत की ५ भावनाएँ—

१. ईर्या समिति=उपयोग पूर्वक गमनागमन करे। २. आलोकित पान-भोजन=देखभालकर प्रकाशयुक्त स्थान में आहार करे। ३. आदान निक्षेप समिति=विवेक पूर्वक पात्रादि उठाए तथा रक्खे। ४. मनोगुप्ति=मन का संयम। ५. वचन गुप्ति=वाणी का संयम।

द्वितीय सत्य महाव्रत की ५ भावनाएँ—

१. अनुविचिन्त्य भाषणता=विचारपूर्वक बोलना, २. क्रोधविवेक=क्रोध का त्याग, ३. लोभविवेक=लोभ का त्याग, ४. भय-विवेक=भय का त्याग, ५. हास्यविवेक=हँसी मज़ाक का त्याग।

तृतीय अस्तेय महाव्रत की ५ भावना—

१. अवग्रहानुज्ञापना=अवग्रह अर्थात् वसति लेते समय उसके स्वामी को अच्छी तरह जानकर आज्ञा माँगना। २. अवग्रह सीमापरिज्ञानता=अवग्रह के स्थान की सीमा का यथोचित ज्ञान करना। ३. अवग्रहानुग्रहणता=स्वयं अवग्रह की याचना करना अर्थात् वसतिस्थ तृण, पट्टक आदि अवग्रह-स्वामी की आज्ञा लेकर ग्रहण करना ४, गुरुजनों तथा अन्य साधर्मिकों की आज्ञा लेकर ही सबके संयुक्त भोजन में से भोजन करना। ५. उपाश्रय में पहले से रहे हुए साधर्मिकों की आज्ञा लेकर ही वहाँ रहना तथा अन्य प्रवृत्ति करना।

चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत की ५ भावनाएं—

१. अति स्निग्ध पौष्टिक आहार नहीं करना २. पूर्व भुक्त भोगों का स्मरण नहीं करना अथवा शरीर की विभूषा नहीं करना। ३. स्त्रियों के अंग उपांग नहीं देखना ४. स्त्री, पशु और नपुंसक वाले स्थान में नहीं ठहरना। ५. स्त्रीविषयक चर्चा नहीं करना।

पंचम अपरिग्रह महाव्रत की ५ भावनाएँ—

(१-५) पाँचों इन्द्रियों के विषय शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श के इन्द्रिय-गोचर होने पर मनोज्ञ पर रागभाव तथा अमनोज्ञ पर द्वेषभाव न लाकर उदासीन भाव रखना।

दशाश्रुत आदि सूत्रत्रयी के २६ उद्देशन काल—

दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र के दश उद्देश, बृहत्कल्प के छह उद्देश, और व्यवहार सूत्र के दश उद्देश—इस प्रकार सूत्रत्रयी के छब्बीस उद्देश होते है। जिस श्रुतस्कन्ध या अध्ययन के जितने उद्देश होते हैं उतने ही वहाँ उद्देशनकाल अर्थात् श्रुतोपचार-रूप उद्देशावसर होते हैं। एक दिन मे जितने श्रुत की वाचना (अध्यापन) दी जाती है, उसे 'एक उद्‌देशन काल' कहा जाता है।

सत्ताईस अनगार के गुण—

(१-५) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पाँच महाव्रतों का सम्यक् पालन करना। (६) रात्रि भोजन का त्याग करना (७-११) पाँचों इन्द्रियों को वश में रखना (१२) भाव सत्य=अन्त: करण की शुद्धि (१३) करण सत्य=वस्त्र पात्र आदि की भली-भाँति प्रतिलेखना करना (१४) क्षमा (१५) विरागता=लोभ-निग्रह (१६) मन की शुभ प्रवृत्ति (१७) वचन की शुभ प्रवृत्ति (१८) काय की शुभ प्रवृत्ति (१९-२४) छह काय के जीवों की रक्षा (२५) संयम-योगयुक्तता (२६) वेदना ऽभिसहन=तितिक्षा अर्थात् शीत आदि से सम्बन्धित कष्टसहिष्णुता (२७) मारणान्तिका-ऽभिसहन=मारणान्तिक कष्ट को भी समभाव से सहना। उक्त गुण आचार्य हरिभद्र ने आवश्यक सूत्र की शिष्यहिता वृत्ति मे बताए हैं। समवायांग सूत्र में कुछ भिन्नता है।

अट्ठाईस आचार प्रकल्प—

(१) शस्त्रपरिज्ञा (२) लोकविजय (३) शीतोष्णीय (४) सम्यक्त्व (५) आवंती—लोकसार (६) धुताध्ययन (७) महापरिज्ञा (८) विमोक्ष (९) उपधानश्रुत (१०) पिण्डैषणा (११) शय्या (१२) ईर्या (१३) भाषा (१४) वस्त्रैषणा (१५) पात्रैषणा (१६) अवग्रह प्रतिमा (१६+७=२३) सप्त स्थानादि सप्तसप्तिका (२४) भावना (२५) विमुक्ति (२६) उद्घात (२७) अनुद्घात (२८) और आरोपणा। प्रथम के २५ अध्ययन आचारांग सूत्र के हैं, तथा उद्घातादि तीन अध्ययन निशीथ सूत्र के हैं।

पापश्रुत के २६ भेद—

(१) भौम=भूमिकम्प आदि का फल बताने वाला शास्त्र। (२) उत्पात=रुधिर वृष्टि, दिशाओं का लाल होना इत्यादि का शुभाशुभ फल बताने वाला निमित्त शास्त्र। (३) स्वप्नशास्त्र। (४) अन्तरिक्ष=आकाश में होने वाले ग्रहवेध आदि का वर्णन करने वाला शास्त्र। (५) अंग शास्त्र=शरीर के स्पन्दन आदि का फल कहने वाला शास्त्र। (६) स्वर शास्त्र। (७) व्यंजन शास्त्र=तिल, मष आदि का वर्णन करने वाला शास्त्र। (८) लक्षण शास्त्र=स्त्री पुरुषों के लक्षणों का शुभाशुभ फल बताने वाला शास्त्र।

ये आठों ही सूत्र, वृत्ति और वार्तिक के भेद से चौबीस शास्त्र हो जाते है।

(२५) विकथानुयोग=अर्थ और काम के उपायों को बताने वाले शास्त्र, जैसे वात्स्यायनकृत कामसूत्र आदि। (२६) विद्यानुयोग=रोहिणी आदि विद्याओं की सिद्धि के उपाय बताने वाले शास्त्र। (२७) मन्त्रानुयोग=मन्त्र आदि के द्वारा कार्य-सिद्धि बताने वाले शास्त्र। (२८) योगानुयोग=वशीकरण आदि योग बताने वाले शास्त्र। (२९) अन्यतीर्थिकानुयोग=अन्यतीर्थिको द्वारा प्रवर्तित एवं अभिमत हिंसा-प्रधान आचारशास्त्र।

महा मोहनीय के ३० स्थान—

१. त्रस जीवों को पानी में डुबा कर मारना। २. त्रस जीवों को श्वास आदि रोक कर मारना। ३. त्रस जीवों को मकान आदि में बंद करके धुएँ से घोट कर मारना। ४. त्रस जीवों को मस्तक पर दण्ड आदि का घातक प्रहार करके मारना। ५. त्रस जीवों को मस्तक पर गीला चमड़ा आदि बाँध कर मारना। ६. पथिको को धोखा देकर लूटना। ७. गुप्तरीति से अनाचार का सेवन करना। ८. दूसरे पर मिथ्या कलंक लगाना। ९. सभा में जान बूझकर मिश्र भाषा=सत्य जैसा प्रतीत होने वाला झूठ बोलना। १०. राजा के राज्य का ध्वंस करना। ११. बाल-ब्रह्मचारी न होते हुए भी बाल ब्रह्मचारी कहलाना। १२. ब्रह्मचारी न होते हुए भी ब्रह्मचारी का ढोंग रचना। १३. आश्रयदाता का धन चुराना। १४. कृत उपकार को न मानकर कृतघ्नता करना। १५. गृहपति अथवा संघपति आदि की हत्या करना। १६. राष्ट्रनेता की हत्या करना। १७. समाज के आधारभूत विशिष्ट परोपकारी पुरुष की हत्या करना। १८. दीक्षित साधु को संयम से भ्रष्ट करना १९. केवल ज्ञानी की निन्दा करना। २०. अहिंसा आदि मोक्ष मार्ग की बुराई करना। २१. आचार्य तथा उपाध्याय की निन्दा करना। २२. आचार्य तथा उपाध्याय की सेवा न करना। २३. बहुश्रुत न होते हुए भी बहुश्रुत=पण्डित कहलाना। २४. तपस्वी न होते हुए भी अपने को तपस्वी कहना। २५. शक्ति होते हुए भी अपने आश्रित

वृद्ध, रोगी आदि की सेवा न करना। २६. हिंसा तथा कामोत्पादक विकथाओं का बार-बार प्रयोग करना। २७. जादू-टोना आदि करना। २८. कामभोग में अत्यधिक लिप्त रहना, आसक्त रहना। २६. देवताओं की निन्दा करना। ३०. देवदर्शन न होते हुए भी प्रतिष्ठा के मोह से देवदर्शन की बात कहना।

सिद्धों के ३१ अतिशायी गुण—

१. क्षीण-मतिज्ञानावरण २. क्षीण श्रुतज्ञानावरण ३. क्षीण अवधिज्ञानावरण ४. क्षीण मनःपर्यायज्ञानावरण। ५. क्षीण-केवल ज्ञानावरण। ६. क्षीण-चक्षुर्दर्शनावरण ७. क्षीण अचक्षुर्दर्शनावरण ८. क्षीण अवधिदर्शनावरण ९. क्षीण केवल दर्शनावरण। १०. क्षीण-निद्रा। ११. क्षीण निद्रा निद्रा। १२. क्षीणप्रचला १३. क्षीण प्रचला प्रचला। १४. क्षीण स्त्यानगृद्धि। १५. क्षीण सातवेदनीय। १६. क्षीण असातवेदनीय। १७. क्षीण दर्शन मोहनीय। १८. क्षीण चारित्र मोहनीय। १९. क्षीण नैरयिकायु। २०. क्षीण तिर्यंचायु। २१. क्षीण मनुष्यायु। २२. क्षीण देवायु। २३. क्षीण उच्चगोत्र। २४. क्षीण नीचगोत्र। २५. क्षीण शुभनाम। २६. क्षीण अशुभनाम। २७. क्षीण दानान्तराय। २८. क्षीण लाभान्तराय। २९. क्षीण भोगान्तराय। ३०. क्षीण उपभोगान्तराय। ३१. क्षीण वीर्यान्तराय।

बत्तीस योग संग्रह—

१. गुरुजनों के पास दोषों की आलोचना करना। २. किसी के दोषों की आलोचना सुनकर अन्य के पास न कहना ३. संकट पड़ने पर भी धर्म में दृढ़ रहना। ४. आसक्ति रहित तप करना। ५. सूत्रार्थग्रहणरूप ग्रहण शिक्षा एवं प्रतिलेखना आदि रूप आसेवना=आचार शिक्षा का अभ्यास करना। ६. शोभा-शृंगार नहीं करना। ७. पूजा प्रतिष्ठा का मोह त्याग कर अज्ञात तप करना। ८. लोभ का त्याग ९. तितिक्षा १०. आर्जव=सरलता। ११. शुचि=संयम एवं सत्य की पवित्रता। १२. सम्यक्त्व शुद्धि। १३. समाधि=प्रसन्नचित्तता। १४. आचार पालन मे माया न करना। १५. विनय। १६. धैर्य। १७. संवेग=सांसारिक भोगों से भय अथवा मोक्षाभिलाषा। १८. माया न करना। १९. सदनुष्ठान। २०. संवर=पापाश्रव को रोकना। २१. दोषों की शुद्धि करना। २२. काम भोगों से विरक्ति २३. मूल गुणों का शुद्ध पालन। २४. उत्तर गुणों का शुद्ध पालन २५. व्युत्सर्ग करना। २६. प्रमाद न करना। २७. प्रतिक्षण संयम यात्रा में सावधानी रखना। २८. शुभ ध्यान। २९. मारणान्तिक वेदना होने पर भी अधीर न होना। ३०. संग का परित्याग करना। ३१. प्रायश्चित्त ग्रहण करना। ३२. अन्त समय में संलेखना करके आराधक बनना।

तेंतीस आशातना—

१. मार्ग में रत्नाधिक (अपने से दीक्षा में बड़े) से आगे चलना। २. मार्ग में रत्नाधिक के बराबर चलना। ३. मार्ग में रत्नाधिक के पीछे अड़कर चलना। (४–६) रत्नाधिक के आगे, बराबर में तथा पीछे अड़कर खड़े होना। (७–९) रत्नाधिक के आगे, बराबर में तथा पीछे अड़कर बैठना। १०. रत्नाधिक और शिष्य विचार-भूमि (शौचार्थ जंगल) में गए हों, वहाँ रत्नाधिक से पूर्व आचमन-शौचशुद्धि करना। ११. बाहर से उपाश्रय में लौटने पर रत्नाधिक से पहले ईर्यापथ की आलोचना करना। १२. रात्रि में रत्नाधिक की ओर से 'कौन जागता है?' पूछने पर जागते हुए भी उत्तर न देना। १३. जिस व्यक्ति से, रत्नाधिक को पहले बात-चीत करनी चाहिए, उससे पहले स्वयं ही बात-चीत करना। १४. आहार आदि की आलोचना प्रथम दूसरे साधुओं के समक्ष करने के बाद रत्नाधिक के संमुख करना। १५. आहार आदि प्रथम दूसरे साधुओं को दिखला कर बाद में रत्नाधिक को दिखलाना। १६. आहार आदि के लिए प्रथम दूसरे साधुओं को निमंत्रित कर बाद मे रत्नाधिक को निमंत्रण देना। १७. रत्नाधिक को विना पूछे दूसरे साधु को उसकी इच्छानुसार प्रचुर आहार देना। १८. रत्नाधिक के साथ आहार करते समय सुस्वादु आहार स्वयं खा लेना, अथवा साधारण आहार भी शीघ्रता से अधिक खा लेना। १९. रत्नाधिक के बुलाये जाने पर सुना-अनसुना कर देना। २०. रत्नाधिक के प्रति या उनके समक्ष कठोर अथवा मर्यादा से अधिक बोलना २१. रत्नाधिक के द्वारा बुलाये जाने पर शिष्य को उत्तर में 'मत्थएण वंदामि' कहना चाहिए। ऐसा न कह कर 'क्या कहते हो' इन अभद्र शब्दों में उत्तर देना। २२. रत्नाधिक के द्वारा बुलाने पर शिष्य को उनके समीप आकर बात सुननी चाहिए। ऐसा न करके आसन पर बैठे ही बैठे बात सुनना और उत्तर देना। २३. गुरुदेव के प्रति 'तू' का प्रयोग करना २४. गुरुदेव किसी कार्य के लिए आज्ञा दें तो उसे स्वीकार न करके उल्टा उन्हीं से कहना कि 'आप ही कर लें।' २५. गुरुदेव के धर्मकथा कहने पर ध्यान से सुनना और अन्यमनस्क रहना, प्रवचन की प्रशंसा न करना। २६. रत्नाधिक धर्म-कथा करते हों तो बीच में ही रोकना कि—'आप भूल गए। यह ऐसे नहीं, ऐसे है, २२. रत्नाधिक धर्मकथा कर रहे हों, उस समय किसी उपाय से कथाभंग करना और स्वयं कथा कहने लगना। २८. रत्नाधिक धर्मकथा करते हों उस समय परिषद् का भेदन करना और कहना कि—'कब तक कहोगे, भिक्षा का समय हो गया है। २९. रत्नाधिक धर्म-कथा कर चुके हो और जनता अभी बिखरी न हो तो उस सभा में गुरुदेव कथित धर्मकथा का ही अन्य व्याख्यान करना और कहना कि, 'इसके ये भाव और होते हैं।' ३०. गुरुदेव के शय्या-संस्तारक को पैर से छूकर क्षमा मांगे बिना ही चले जाना। ३१. गुरुदेव के शय्या-संस्तारक पर खड़े होना, बैठना और सोना।

३२. गुरुदेव के आसन से ऊँचे आसन पर खड़े होना, बैठना और सोना। ३३. गुरुदेव के आसन के बराबर आसन पर खड़े होना, बैठना और सोना।

उक्त बोलों में से कुछ बोलों के आगम तथा टीकाओं में अन्य प्रकार भी हैं। उपाध्याय श्री अमरमुनि जी द्वारा सम्पादित श्रमण सूत्र में विस्तार से वर्णन है। एक से लेकर तेंतीस तक के बोल यथास्वरूप श्रद्धान, आचरण तथा वर्जन के योग्य हैं।

अध्ययन ३२

गाथा १—अत्यन्त काल का शब्दशः अर्थ है, वह काल जिसका अन्त न हो। 'अन्त' का अर्थ है—छोर, किनारा, समाप्ति। वस्तु के दो छोर होते है—आरम्भ और अन्त। यहाँ आरम्भ, अर्थ ग्राह्य है। अर्थात् वह अतीत जिसका आरम्भ नहीं है, आदि नहीं है, अनादि।

गाथा २—गुरु का अर्थ है—शास्त्र का यथार्थवेत्ता। वृद्ध के तीन प्रकार हैं—श्रुत वृद्ध, पर्याय—दीक्षा वृद्ध, और वयोवृद्ध।

गाथा २३—प्रस्तुत में दो बार 'ग्रहण' शब्द का प्रयोग है। प्रथम कर्ता अर्थ मे है—'गृह्णातीति ग्रहणम्'—अर्थात् ग्राहक। दूसरा ग्राह्य (विषय) अर्थ मे है— 'गृह्यते इति ग्राह्यम्।' इन्द्रिय और उसके विषय मे ग्राह्य-ग्राहक भाव अर्थात् उपकार्योपकारक भाव है। रूप ग्राह्य है, चक्षु उसका ग्राहक है, जानने वाला है।

गाथा ३७—'हरिणमृग' मे पुनरुक्ति नहीं है। मृग के मृग शीर्ष नक्षत्र, हाथी की एक जाति, पशु और हरिण आदि अनेक अर्थ हैं। यहाँ मृग का अर्थ 'पशु' है।

गाथा ५०—टीकाकारों ने यहाँ 'औषधि' से नागदमनी आदि औषधि ग्रहण की है।

गाथा ८७—मन का ग्राह्य भाव है। वह यहाँ अतीत भोगों की स्मृति-रूप है, और भविष्य के भोगों की कल्पना अर्थात् इच्छारूप है। भाव अर्थात् विचार इन्द्रियों का विषय नहीं है, इसलिए उसका पृथक् उपादान है—**'इन्द्रियाविषयत्वात्'** —सर्वार्थसिद्धि वृत्ति।

गाथा ८९—वन के हाथी को पहले की पकड़ी हुई शिक्षित हथिनी के द्वारा पकड़ा जाता है। प्रश्न है—हथिनी को देखकर कामासक्त होना, यह तो चक्षु इन्द्रिय और रूप से सम्बन्धित है। उसका भाव में कैसे ग्रहण है? यहाँ मन की प्रधानता है। रूपदर्शन के पश्चात् कामवासना जो होती है, उसमें चक्षु इन्द्रिय का व्यापार नहीं है, मन की ही प्रवृत्ति है।

गाथा १०७—'संकल्प' में आए 'कल्प' का अर्थ राग-द्वेष-मोह रूप अध्यवसाय है। विकल्पना का अर्थ है—उन के सम्बन्ध में सर्वदोषमूलत्वादि की परिभावना

करना। अर्थात् यह चिन्तन करना कि शब्दादि पाप के हेतु नहीं है, वस्तुतः रागादि ही हेतु है।

अध्ययन ३३

गाथा ३—समास का अर्थ संक्षेप है। संक्षेप से आठ कर्म है, इसका अभिप्राय है कि वैसे तो जितने प्राणी है, उतने ही कर्म है, अर्थात् कर्म अनन्त है। यहाँ विशेष-स्वरूप की विवक्षा से आठ भेद है।

गोत्र का अर्थ है—'कुलक्रमागत आचरण।' उच्च आचरण उच्च गोत्र है, और नीच आचरण नीच गोत्र। अतएव गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा १३ मे कहा है—'**उच्चंनीय चरणं, उच्चं नीय हवे गोदं।**'

गाथा ६—सुखप्रतिबोधा निद्रा है। दुःखप्रतिबोधात्मिका अतिशायिनी निद्रा-निद्रा है। बैठे-बैठे सो जाना प्रचला निद्रा है—'**प्रचलत्यस्यामासीनोऽपि।** चलते हुए भी सो जाना प्रचला-प्रचला है। '**प्रचलंबातिशायिनी चङ्क्रम्यमाणस्य प्रचला-प्रचला**',

'**स्त्यानर्द्धि**' का अर्थ है—जिसमे सबसे अधिक ऋद्धि अर्थात् गृद्धि का स्त्यान है, उपचय है, वह निद्रा। वासुदेव का आधा बल आ जाता है, इसमे। प्रबल रागद्वेष वाला प्राणी इस निद्रा मे बड़े-बड़े असंभव जैसे कर्म कर लेता है और उसे भान ही नही होता कि मैंने क्या किया है?

गाथा ७—'स्वाद्यते इति सातम्'—इस निर्युक्ति से स्वादु अर्थ मे 'सात' शब्द निष्पन्न हुआ है। सात का अर्थ है—शारीरिक और मानसिक सुख। '**सात सुखं शारीरं मानसं च**'—सर्वार्थसिद्धिवृत्ति। तद्विपरीत असात है, दुःख है।

गाथा ९—'सम्यक्त्व मोहनीय कर्म' शुद्धदलिकरूप है, अतः उसके उदय मे भी तत्त्वरुचिरूप सम्यक्त्व हो जाता है। पर, उसमे शका आदि अतिचारो की मलिनता बनी रहती है। मिथ्यात्व अशुद्धदलिकरूप है, उसके कारण तत्त्व मे अतत्त्वरुचि और अतत्त्व में तत्त्वरुचि होती है। सम्यग्मिथ्यात्व के दलिक शुद्धा-शुद्ध अर्थात् मिश्र हैं।

गाथा १०—'नोकषाय' मे प्रयुक्त 'नो' का अर्थ 'सदृश' है। जो कषाय के समान है, कषाय के सहवर्ती हैं, वे हास्य, रति, अरति आदि नोकषाय हैं।

गाथा ११—एक बार भोग मे आने वाले पुष्प, आहार आदि भोग हैं। बार-बार भोग मे आने वाले वस्त्र, अलंकार, मकान आदि उपभोग हैं।

दान लेने वाला भी है, देय वस्तु भी है, दान के फल को भी जानता है, फिर भी दान में प्रवृत्ति न होना, दानान्तराय है। उदार दाता के होने पर भी याचना-निपुण याचक कुछ भी न पा सके, यह लाभान्तराय है।

धन वैभव और अन्य वस्तु के होने पर भी भोगोप-भोग न कर सके, वह क्रमश: भोगान्तराय और उपभोगान्तराय है।

बलवान् और निरोग होते हुए भी तिनका तोड़ने जैसी भी क्षमता-शक्ति का न होना, वीर्यान्तराय है।

इनके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट आदि अनेक भेद हैं।

गाथा १७—एक समय में बँधने वाले कर्मों का प्रदेशाग्र (कर्मपुद्गलों के परमाणुओं का परिमाण) अनन्त है। अर्थात् आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर एक समय में अनन्तानन्त परमाणुओं से निष्पन्न कर्मवर्गणाएँ श्लिष्ट होती हैं।

ये अनन्त कर्मवर्गणाएँ अनन्तसंख्यक अभव्य जीवों से अनन्त गुणा अधिक और अनन्त संख्यक सिद्धों से अनन्तवें भाग होती है। अर्थात् एक समयबद्ध अनन्त कर्म वर्गणाओं से सिद्ध अनन्त गुणा अधिक है।

अभव्य जीवो को ग्रन्थिकसत्त्व कहते हैं। अभव्यों की सम्यक्त्वप्रतिरोधक तथा मिथ्यात्वमूलक तीव्र राग-द्वेषरूप ग्रन्थि अभेद्य होती है, अत: उन्हें ग्रन्थिक अथवा ग्रन्थिग सत्त्व (जीव) कहा है।

गाथा १८—पूर्व आदि चार, और ऊर्ध्व एवं अध: ये छह दिशाएँ हैं। जिस आकाश क्षेत्र में जीव अवगाढ़ है, रह रहा है, वहीं के कर्मपुद्गल रागादि भावरूप स्नेह के योग से आत्मा मे बद्ध हो जाते है। भिन्न क्षेत्र में रहे हुए कर्म पुद्गल वहाँ से आकर आत्मा को नहीं लगते।

ईशान आदि विदिशाओं के भी कर्म पुद्गल बंधते है, पर विदिशाएँ दिशाओं में गृहीत हो जाने से यहाँ अविवक्षित हैं।

यह छह दिशाओं का कर्मबन्धसम्बन्धी नियम द्वीन्द्रिय जीवों से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक जीवों को लक्ष्य मे रखकर बताया गया है। एकेन्द्रिय जीवों के लिए तो कभी तीन, कभी चार, कभी पाँच, और कभी छह दिशाओं का उल्लेख है।

ज्ञानावरणादि सभी कर्म आत्मा के सभी असंख्यात प्रदेशों से बँधते हैं, अमुक प्रदेशों पर ही नहीं। आत्मा के प्रदेश बुद्धिपरिकल्पित हैं, पुद्गल की तरह से मिलने-बिछुड़ने वाले परमाणु जैसे नहीं।

गाथा १९-२०—प्रस्तुत में वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त ही बतायी गई है, जबकि अन्यत्र १२ मुहूर्त का उल्लेख है। टीकाकार कहते हैं, इसका क्या अभिप्राय है, हम नहीं जानते। **'तदभिप्रायं न विद्मः।'**

अध्ययन ३४

गाथा १—कर्मलेश्या का अर्थ है—कर्म बन्ध के हेतु रागादिभाव। लेश्याएँ भाव और द्रव्य के भेद से दो प्रकार की हैं। कुछ आचार्य कपायानुरंजित योग-प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। इस दृष्टि से यह छद्मस्थ व्यक्ति को ही हो सकती हैं। किन्तु शुक्ल लेश्या १३ वें गुण स्थानवर्ती केवली को भी है, अयोगी केवली को नहीं। अतः योग की प्रवृत्ति ही लेश्या है। कषाय तो केवल उसमें तीव्रता आदि का संनिवेश करती है। आवश्यक चूर्णि में जिनदास महत्तर ने कहा है—"**लेश्याभिरात्मनि कर्माणि संश्लिष्यन्ते। योगपरिणामो लेश्या। जम्हा अयोगिकेवली अलेस्सो।**"

गाथा ११—त्रिकटुक से अभिप्राय सूंठ, मिरच और पिप्पल के एक संयुक्त योग से है। "**याहशस्त्रिकटुकस्य शुंठि-मिरिच-पिप्पल्यारसस्तीक्ष्णः**"—**सर्वार्थ-सिद्धिवृत्ति।**

गाथा २०—जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट के भेद से सर्वप्रथम लेश्या के तीन प्रकार हैं। जघन्य आदि तीनों के फिर जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट के भेद से तीन-तीन प्रकार होने से नौ भेद होते हैं। फिर इसी प्रकार क्रम से त्रिक की गुणनप्रक्रिया से २७, ८१ और २४३ भेद होते हैं। यह एक संख्या की वृद्धि का स्थूल प्रकार है। वैसे तारतम्य की दृष्टि से संख्या का नियम नहीं है। स्वयं उक्त अध्ययन (गा० ३३) में प्रकर्षापकर्ष की दृष्टि से लोकाकाश प्रदेशों के परिमाण के अनुसार असंख्य स्थान बताए हैं। अशुभ लेश्याओं के संक्लेशरूप परिणाम हैं, और शुभ के विशुद्ध परिणाम हैं।

गाथा ३४—मुहूर्तार्ध शब्द से सर्वथा बराबर समविभाग रूप 'अर्ध' अर्थ विवक्षित नहीं है। अतः एक समय से ऊपर और पूर्ण मुहूर्त से नीचे के सभी छोटे-बड़े अंश विवक्षित हैं। इस दृष्टि से मुहूर्तार्ध का अर्थ अन्तर्मुहूर्त है।

गाथा ३८—यहाँ पद्म लेश्या की एक मुहूर्त अधिक दस सागर की स्थिति जो बताई है, उसमें मुहूर्त से पूर्व एवं उत्तर भव से सम्बन्धित दो अन्तर्मुहूर्त विवक्षित है।

नील लेश्या आदि के स्थिति वर्णन में जो पल्योपम का असंख्येय भाग बताया है, उसमें भी पूर्वोत्तर भवसम्बन्धी अन्तर्मुहूर्तद्वय प्रक्षिप्त हैं। फिर भी सामान्यतः असंख्येय भाग कहने से कोई हानि नहीं है। क्योंकि असंख्येय के भी असंख्येय भेद होते हैं।

गाथा ४५-४६—तिर्यंच और मनुष्यों में जघन्य और उत्कृष्ट दोनों ही रूप से लेश्याओं की स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। यह भाव लेश्या की दृष्टि से कथन है। छद्मस्थ व्यक्ति के भाव अन्तर्मुहूर्त से अधिक एक स्थिति में नहीं रहते।

परन्तु यहाँ केवला अर्थात् शुद्ध शुक्ल लेश्या को छोड़ दिया है। क्योंकि सयोगी केवली की उत्कृष्ट केवलपर्याय नौ वर्ष कम पूर्वकोटि है। और सयोगकेवली को एक जैसे अवस्थित भाव होने से उनकी शुक्ल लेश्या की स्थिति भी नववर्षन्यून पूर्व-कोटि ही है।

गाथा ५२—मूल पाठ में गाथाओं का व्यत्यय जान पड़ता है। ५२ के स्थान पर ५३ वीं और ५३ के स्थान ५२ वीं गाथा होनी चाहिए। क्योंकि ५१ वीं गाथा में आगमकार ने भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक सभी देवों की तेजो-लेश्या के कथन की प्रतिज्ञा की है, किन्तु ५२ वीं गाथा में केवल वैमानिक देवों की ही तेजोलेश्या निरूपित की है। जबकि ५३ वें श्लोक में प्रतिपादित लेश्या का कथन चारो ही प्रकार के देवो की अपेक्षा से है। टीकाकारों ने भी इस विसंगति का उल्लेख किया है। '**इयं च सामान्योपक्रमेऽपि वैमानिकनिकायविषयतया नेया**'—सर्वार्थसिद्धि।

गाथा ५८-५९—प्रतिपत्तिकाल की अपेक्षा से छहों ही लेश्याओं के प्रथम समय में जीव का परभव में जन्म नहीं होता है, और न अन्तिम समय में ही। लेश्या की प्राप्ति के बाद अन्तर्मुहूर्त बीत जाने पर और अन्तर्मुहूर्त ही शेष रहने पर जीव परलोक में जन्म लेते हैं।

भाव यह है कि मृत्युकाल में आगामी भव की और उत्पत्ति काल में अतीत भव की लेश्या का अन्तर्मुहूर्त काल तक होना, आवश्यक है। देवलोक और नरक में उत्पन्न होने वाले मनुष्य और तिर्यंचों को मृत्युकाल में अन्तर्मुहूर्त काल तक अग्रिम भव की लेश्या का सद्भाव होता है। मनुष्य और तिर्यंच गति में उत्पन्न होने वाले देव नारकों को भी मरणानन्तर अपने पहले भव की लेश्या अन्तर्मुहूर्त काल तक रहती है। अतएव आगम में देव और नारकों की लेश्या का पहले और पिछले भव के लेश्या-सम्बन्धी दो अन्तर्मुहूर्तों के साथ स्थितिकाल बताया गया है। प्रज्ञापनासूत्र में कहा हैं—"**जल्लेसाइं दव्वाइं आयइत्ता कालं करेइ, तल्लेसेसु उववज्जइ।**"

अध्ययन ३५

गाथा ४-६—भिक्षु को किवाड़ों से युक्त मकान में रहने की मन से भी इच्छा न करनी चाहिए। यह उत्कृष्ट साधना का, अगुप्तता का और अपरिग्रह भाव का सूचक है।

श्मशान में रहने से अनित्य भावना एवं वैराग्य की जागृति रहती है। चिता में जलते शवों को और दग्ध अस्थियों को देखकर किस साधक को विषय भोगों से विरक्ति न होगी।

वृक्ष के नीचे रहना भी महत्त्व पूर्ण है। प्रतिकूलताओं को तो सहना होता ही है। बौद्धग्रन्थ विशुद्धि मार्ग में कहा है कि वृक्ष के नीचे रहने से साधक को हर समय

पेड़ के पत्तों को परिवर्तित होते और पीले पत्तों को गिरते देखकर जीवन की अनित्यता का ख्याल पैदा होता रहेगा। अल्पेच्छता भी रहेगी।

गाथा २०—देह के छोड़ने का अर्थ 'देह को नहीं, देहभाव को छोड़ना है, देह मे नहीं, देह की प्रतिबद्धता—आसक्ति में ही बन्धन है। देह की प्रतिबद्धता से मुक्त होते ही साधक के लिए देह मात्र जीवन यात्रा का एक साधन रह जाता है, बन्धन नहीं।

अध्ययन ३६

गाथा ३—यहाँ भाव का अर्थ पर्याय है।

गाथा ४—पूरण-गलनधर्मा पुद्गल रूपी अजीव द्रव्य है। रूप से उपलक्षणतया रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श-चारो का ग्रहण है। धर्मास्तिकाय आदि चार अरूपी अजीव द्रव्य है। इनमे उक्त रूपादि चार धर्म नही है।

गाथा ५—पदार्थ खण्ड और अखण्ड दोनो तरह से जाना जाता है। धर्मास्तिकाय आदि अरूपी अजीव वस्तुत: अखण्ड द्रव्य हैं। फिर भी उनके स्कन्ध, देश, प्रदेश के रूप में तीन भेद किए है। धर्मास्तिकाय स्कन्ध मे देश और प्रदेश बुद्धि-परिकल्पित है। एक परमाणु जितना क्षेत्रावगाहन करता है, वह अविभागी बिभाग, अर्थात् फिर भाग होने की कल्पना से रहित सर्वाधिक सूक्ष्म अंश प्रदेश कहलाता है। अनेक प्रदेशों से परिकल्पित स्कन्धगत छोटे बड़े नाना अंश देश कहलाते है। पूर्ण अखण्ड द्रव्य स्कन्ध कहलाता है। धर्म और अधर्म अस्तिकाय स्कन्ध से एक हैं। उनके देश और प्रदेश असंख्य है। असंख्य के असंख्य ही भेद होते हैं, यह ध्यान मे रहे। आकाश के अनन्त प्रदेश होते है। लोकाकाश के असंख्य और अलोकाकाश के अनन्त होने से अनन्त प्रदेश है। वैसे आकाश स्कन्धत: एक ही है।

काल को अद्धा समय कहा है। यह इसलिए कि समय के सिद्धान्त आदि अनेक अर्थ होते है। अद्धा के विशेषण से वह वर्तनालक्षण काल द्रव्य का ही बोध कराता है। स्थानांगसूत्र (४, १, २६४) की अभयदेवीय वृत्ति के अनुसार काल का सूर्य की गति से सम्बन्ध रहता है। अत: दिन, रात आदि के रूप मे काल अढाई द्वीप प्रमाण मनुष्य क्षेत्र में ही है, अन्यत्र नही। काल में देश-प्रदेश की परिकल्पना सम्भव नहीं है, क्योंकि वह निश्चय में समयरूप होने से निर्विभागी है। अत: उसे स्कन्ध और अस्तिकाय भी नही माना है।

गाथा ९—अपरापरोत्पत्तिरूप प्रवाहात्मक सन्तति की अपेक्षा से काल अनादि अनन्त है। किन्तु दिन, रात आदि प्रतिनियत व्यक्तिस्वरूप की अपेक्षा सादि सान्त है।

गाथा १०—पुद्गल के स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु चार भेद हैं। मूल पुद्गल द्रव्य परमाणु ही है। उसका दूसरा भाग नहीं होता है, अत: वह निरंश होने से परमाणु

कहलाता है। दो परमाणुओं से मिलकर एकत्व परिणतिरूप द्विप्रदेशी स्कन्ध होता है। इसी प्रकार त्रिप्रदेशी आदि से लेकर अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्ध होते हैं। पुद्गल के अनन्त स्कन्ध है। परमाणु स्कन्ध में संलग्न रहता है, तब उसे प्रदेश कहते हैं और जब वह पृथक् अर्थात् अलग रहता है, तब वह परमाणु कहलाता है।

गाथा १३, १४—पुद्गल द्रव्य की स्थिति से अभिप्राय यह है कि जघन्यतः एक समय तथा उत्कृष्टतः असंख्यात काल के बाद स्कन्ध आदि रूप से रहे हुए पुद्गल की संस्थिति मे परिवर्तन हो जाता है। स्कन्ध बिखर जाता है, तथा परमाणु भी स्कन्ध मे संलग्न होकर प्रदेश का रूप ले लेता है।

अन्तर से अभिप्राय है—पहले के अवगाहित क्षेत्र को छोड़कर पुनः उसी विवक्षित क्षेत्र की अवस्थिति को प्राप्त होने मे जो व्यवधान होता है, वह बीच का अन्तर काल।

गाथा १५ से ४६—पुद्गल के असाधरण धर्मों में संस्थान भी एक धर्म है। सस्थान के दो भेद है—(१) इत्थंस्थ और २ अनित्थंस्थ। जिसका त्रिकोण आदि नियत संस्थान हो, वह इत्थंस्थ कहलाता है, और जिसका कोई नियत संस्थान न हो, उसे अनित्थंस्थ कहते है। इत्थंस्थ के पाँच प्रकार है—(१) परिमण्डल—चूड़ी की तरह गोल, (२) वृत्त—गेंद की तरह गोल, (३) त्र्यस्र—त्रिकोण, (४) चतुरस्र—चौकोन, और (५) आयत—बांस या रस्सी की तरह लम्बा।

धर्मास्तिकाय आदि अरूपी द्रव्यो के केवल द्रव्य, क्षेत्र का ही वर्णन किया है, भाव का नही। इसका यह अर्थ नहीं कि इनके भाव नहीं होते। क्योकि भाव अर्थात् पर्याय से शून्य कोई द्रव्य होता ही नहीं है। परन्तु पुद्गल के वर्ण आदि के समान अरूपी द्रव्य के इन्द्रियग्राह्य स्थूल पर्याय नही होते, अतः भावों का शब्दशः उल्लेख नही किया है।

पुद्गल के वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श आदि इन्द्रियग्राह्य भाव हैं, अतः उनका वर्णन विस्तार से किया गया है। कृष्णादि वर्ण गन्ध आदि से भाज्य होते हैं, तब कृष्णादि प्रत्येक पाँच वर्ण २० भेदो से गुणित होने पर वर्ण पर्याय के कुल १०० भंग होते हैं। इसी प्रकार सुगन्ध के २३ और दुर्गन्ध के २३, दोनों के मिलकर गन्ध पर्याय के ४६ भंग होते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक रस के बीस-बीस भेद मिलाकर रस पंचक के संयोगी भंग १०० होते हैं। मृदु आदि प्रत्येक स्पर्श के सतरह-सतरह भेद मिलाकर आठ स्पर्श के १३६ भंग होते हैं। प्रत्येक संस्थान के बीस-बीस भेद मिलाकर संस्थान-पंचक के १०० संयोगी भंग होते है। समग्र भंगों की संकलना ४८२ है।

ये सब भंग स्थूल दृष्टि से गिने गए हैं। वस्तुतः तारतम्य की दृष्टि से सिद्धान्ततः देखा जाए तो प्रत्येक के अनन्त भंग होते हैं।

गाथा ४८—सिद्धों के स्त्रीलिंग और पुरुषलिंग आदि अनेक प्रकार पूर्व जन्म-कालीन विभिन्न स्थितियों की अपेक्षा से हैं। वर्तमान में स्वरूपतः सब सिद्ध एक समान हैं। केवल अवगाहना का अन्तर है। अवगाहना का अर्थ शरीर नहीं है। अपितु अरूप आत्मा भी द्रव्य होने से अपनी अमूर्त आकृति तो रखता ही है। द्रव्य आकार-शून्य कभी नहीं होता। आत्मा आकाश के जितने प्रदेश क्षेत्रों को अवगाहन करता है, उस अपेक्षा से सिद्धों की अवगाहना है।

गाथा ५६—सिद्ध लोकाग्र में स्थित है, इसका अभिप्रायः यह है कि उनकी ऊर्ध्वगमन रूप गति वहीं तक है। आगे अलोक में गति हेतुक धर्मास्तिकाय का अभाव होने से गति नहीं हैं।

यहाँ पृथ्वी पर शरीर छोड़कर वहाँ लोकाग्र में सिद्ध होते हैं, इसका इतना ही अभिप्राय हैं कि गतिकाल का एक ही समय है। अतः पूर्वापर काल की स्थिति असंभव होने से जिस समय में भव क्षय होता है, उसी समय में लोकाग्र तक गति और मोक्ष स्थिति हो जाती है। वैसे निश्चय दृष्टि से भवक्षय होते ही सिद्धत्व भाव यहाँ ही प्राप्त हो जाता है।

गाथा ६४—पूर्व जन्म के अन्तिम देह का जो ऊँचाई का परिमाण होता हैं उससे त्रिभागहीन (एक तिहाई कम) सिद्धों की अवगाहना होती है। पूर्वावस्था में उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ धनुष की मानी है, अतः मुक्त अवस्था में शुषिर (शरीर के खाली पोले अंश) से रहित आत्म प्रदेशों के सघन हो जाने से वह घटकर त्रिभागहीन अर्थात् तीन सौ तेतीस धनुष बत्तीस अंगुल रह जाती है। और सबसे कम जघन्य (दो हाथ वाले आत्माओं की) एक हाथ आठ अंगुल प्रमाण होती है।

गाथा ७२—प्रस्तुत सूत्र में खर पृथ्वी के ३६ भेद बताए हैं, जबकि प्रज्ञापना में ४० गिनाए हैं। इतने ही क्यो, यह तो स्थूल रूप से प्रमुखता की अपेक्षा से गणना है। वैसे असंख्य भेद हैं।

आगमकार ने ३६ भेदों की प्रतिज्ञा की है, जबकि मणि के प्रकारों में चार भेद गणना से अधिक हैं। वृत्तिकार ने इनका उपभेद के रूप में अन्तर्भाव दूसरों में बताया है। पर, किस में किस का अन्तर्भाव है, यह सूचित नहीं किया है।

गाथा ९३—साधारण का अर्थ समान है। जिन अनन्त जीवों का समान-एक ही शरीर होता है, वे साधारण कहलाते हैं। शरीर का एकत्व उपलक्षण है। अतः उनका आहार और श्वासोच्छ्वास भी समान अर्थात् एक ही होता है। 'उपलक्षणं चैतद् आहारानपानयोरपि साधारणत्वात्—सर्वार्थ सिद्धि।

प्रत्येक वे कहलाते हैं, जिन का शरीर अपना-अपना भिन्न होता है। जो एक का शरीर है, वह दूसरों का नहीं होता।

प्रत्येक वनस्पति जीवों की उत्कृष्ट दश हजार वर्ष की आयु होती है, जघन्य अन्तमुहूर्त। साधारण जीवों की जघन्य-उत्कृष्ट अन्तमुहूर्त की ही आयु है।

गाथा १०४—पनक का अर्थ सेवाल अर्थात् जल पर की काई है। परन्तु यहाँ कायस्थिति के वर्णन मे पनक समग्र वनस्पति काय का वाचक है। सामान्य रूप से वनस्पति जीवों की उत्कृष्ट कायस्थिति अनन्त काल बताई है, जो प्रत्येक और साधारण दोनों की मिलकर है। अलग-अलग विशेष की अपेक्षा से तो प्रत्येक वनस्पति, बादर निगोद और सूक्ष्म निगोद जीवों की असंख्य काल की कायस्थिति है। प्रत्येक की जघन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट ७० कोटि-कोटि सागरोपम है। निगोद की समुच्चय काय स्थिति जघन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्त काल है। बादर निगोद की उत्कृष्ट ७० कोटि-कोटि है, और सूक्ष्म निगोद की असंख्यात काल। जघन्य स्थिति दोनों की अन्तमुहूर्त है।

गाथा १०७—तेजस्, वायु और उदार त्रस-ये त्रस के तीन भेद हैं। तेजस् और वायु एकेन्द्रिय है, अतः अन्यत्र इन की गणना पांच स्थावरों मे की गई है। यह पक्ष सैद्धान्तिक है। स्थावरनाम कर्म का उदय होने से ये निश्चय से स्थावर हैं, त्रस नहीं। केवल एक देश से दूसरे देश मे त्रसन अर्थात् संक्रमणक्रिया होने से तेजस् और वायु की त्रसमे गणना की गई है। इसका परिणाम यह हुआ कि त्रस के उदार और अनुदार भेद करने पड़े। आगे चलकर तेजस् और वायु को 'गतित्रस' और द्वीन्द्रिय आदि को त्रसनाम कर्म के उदय के कारण 'लब्धि त्रस' कहा गया। स्थानांग सूत्र (३।२।१६४) मे उक्त तीनो को त्रस संज्ञा दी है। श्वेताम्बरसम्मत तत्त्वार्थ सूत्र में भी ऐसा ही उल्लेख है। आचारांग सूत्र का प्रथम श्रुत स्कन्ध सर्वाधिक प्राचीन आगम माना जाता है। उसमे यह जीव निकाय का क्रम एक भिन्न ही प्रकार का है—पृथ्वी, अग्नि, वनस्पति, त्रस और वायु।

गाथा १६६—नरक से निकल कर पुनः नरक मे ही उत्पन्न होने का जघन्य व्यवधानकाल अन्तमुहूर्तका बताया है, उसका अभिप्राय यह है कि नारक जीव नरक से निकल कर संख्यातवर्षायुष्क गर्भज तिर्यंच और मनुष्य मे ही जन्म लेता है। वहाँ से अति क्लिष्ट अध्यवसाय वाला कोई जीव अन्तमुहूर्त परिमाण जघन्य आयु भोग कर पुनः नरक में ही उत्पन्न हो सकता है।

गाथा १७०—अतिशय मूढ़ता को संमूर्च्छा कहते हैं। संमूर्च्छा वाला प्राणी संमूच्छिम कहलाता है। गर्भ से उत्पन्न न होने वाले तिर्यंच तथा मनुष्य मनःपर्याप्ति के अभाव से सदैव अत्यन्त मूच्छित जैसी मूढ स्थिति में रहते हैं।

'गर्भ व्युत्क्रान्तिक' शब्द में व्युत्क्रान्तिका अर्थ उत्पत्ति है।

गाथा १८०—स्थलचर चतुष्पदों में एकखुर अश्व आदि हैं, जिनका खुर एक है, अखण्ड है, फटा नहीं है। द्विखुर गाय आदि हैं, जिनके खुर फटे हुए होने से दो अंशों में विभक्त हैं। गण्डी अर्थात् कमलकर्णिका के समान जिनके पैर वृत्ताकार गोल हैं, वे हाथी आदि गण्डी पद हैं। नखसहित पैर वाले सिंह आदि सनख पद है।

गाथा १८१—भुजाओं से परिसर्पण (गति) करने वाले नकुल, मूषक आदि भुज परिसर्प हैं। तथा उर (वक्ष, छाती) से परिसर्पण करने वाले सर्प आदि उर-परिसर्प हैं।

गाथा १८५—स्थलचरों की उत्कृष्ट कायस्थिति पूर्वकोटि पृथक्त्व तीन पल्योपम की बताई है, उसका अभिप्राय यह है कि पल्योपम आयु वाले तो मरकर पुन: वहीं पल्योपम की स्थिति वाले स्थलचर होते नहीं हैं। मरकर देवलोक मे जाते हैं। पूर्व कोटि आयु वाले अवश्य इतनी ही स्थिति वाले के रूप मे पुनः उत्पन्न हो सकते है। वे भी सात आठ भव से अधिक नहीं। अत. पूर्वकोटि आयु के पृथक्त्व भव ग्रहण कर अन्त में पल्योपम आयु पाने वाले जीवो की अपेक्षा से यह उत्कृष्ट काय-स्थिति बताई है।

गाथा १८८—चर्म की पंखों वाले चमगादड़ आदि चर्म पक्षी है। और रोम की पंखों वाले हंस आदि रोम पक्षी है।

समुद्ग अर्थात् डिब्बा के समान सदैव बन्द पंखो वाले समुद्ग पक्षी होते हैं। सदैव फैली हुई पंखों वाले विततपक्षी कहलाते है।